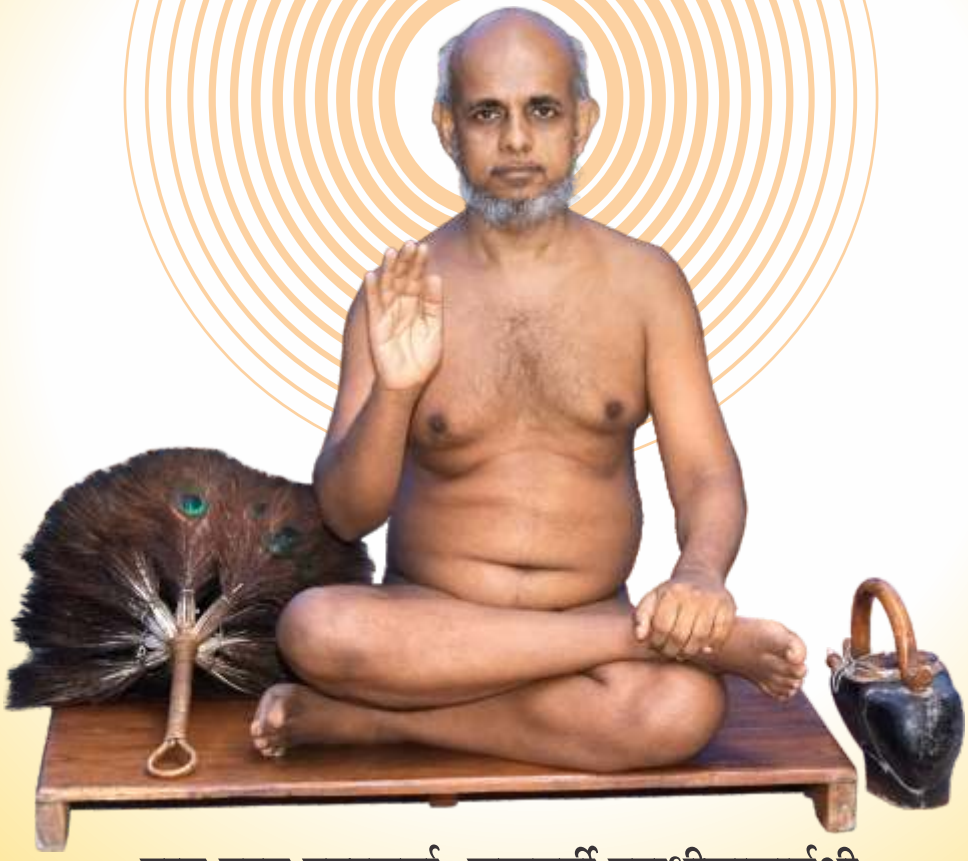

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

कविवर बुधजन व्यक्तित्व एवं कृतित्व

लेखक एवं शोधकर्ता

डा. मूलचन्द जैन शास्त्री

प्रकाशक
श्री महावीर ग्रंथ अकादमी जयपुर

(परम्परानायक)

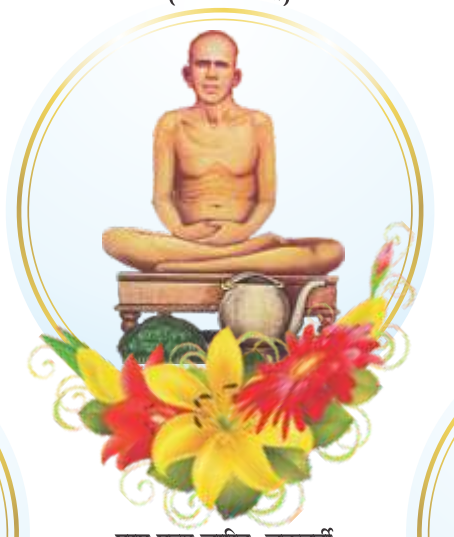

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

श्री महावीर ग्रंथ अकादमी—नवम पुष्प

कविवर बुधजन
व्यक्तित्व एवं कृतित्व

[१९ वीं शताब्दी के जयपुर नगर के हिन्दी जैन कवि के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन द्वारा स्वीकृत शोध प्रबन्ध]

लेखक एवं शोधकर्त्ता
डा. मूलचन्द जैन शास्त्री
एम. ए. पी-एच. डी.
सनावद (मध्य प्रदेश)

प्रकाशक :
श्री महावीर ग्रंथ अकादमी जयपुर

प्रथम संस्करण : जुलाई १९८६ वीरनिर्वाण सं. २५१२ मूल्य ५०·००

निदेशक एवं प्रधान सम्पादक—
डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर
परम संरक्षक—स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी, मूडबिद्री
संरक्षक—श्री साहू अशोक कुमार जैन, देहली
श्री पूनम चन्द जैन, झरिया
श्री रमेश चन्द जैन (पी. एस. जैन), देहली
श्री डी. वीरेन्द्र हेगड़े, धर्मस्थल
श्री निर्मल कुमार सेठी, लखनऊ
श्री महावीर प्रसाद सेठी, सरिया (बिहार)
श्री कमलचन्द कासलीवाल, जयपुर
डा. (श्रीमती) सरयू बी. दोशी, बम्बई
श्री पन्नालाल सेठी, डीमापुर
श्री रूपचन्द कटारिया, देहली
श्री डालचन्द जैन, संसद सदस्य, सागर
अध्यक्ष—श्री शान्तिलाल जैन, कलकत्ता
कार्याध्यक्ष—श्री रतनलाल गंगवाल, कलकत्ता
सह संरक्षक—श्री कपूरचन्द भौंसा, जयपुर, पद्मश्री पंडिता सुमतिबाई जी सोलापुर। श्री नानगराम जैन जौहरी, जयपुर, श्री राजकुमार सेठी डीमापुर
उपाध्यक्ष—सर्व श्री गुलाबचन्द गंगवाल रेनवाल, अजित प्रसाद जैन ठेकेदार देहली, कन्हैया लाल सेठी जयपुर, पदमचन्द तोतूका जयपुर, त्रिलोक चन्द कोठारी कोटा, चिन्तामणी जैन बम्बई, रामचन्द्र रारा गया, रतनलाल विनायक्या डीमापुर, महावीरप्रसाद नृपत्या जयपुर, लेखचन्द बाकलीवाल कलकत्ता, पदमकुमार जैन, नेपालगंज, सम्पत कुमार जैन कटक, ललित कुमार जैन उज्जैन, मोहनलाल अग्रवाल जयपुर, मदनलाल घण्टेवाला देहली, रतनलाल विनायक्या, भागलपुर, डा. ताराचन्द बख्शी जयपुर, रतनचन्द पंसारी जयपुर, शान्तिप्रसाद जैन नई दिल्ली, धूपचन्द पांड्या जयपुर, विजेन्द्र कुमार सर्राफ देहली, राजेन्द्र कुमार ठोलिया, जयपुर।

प्रकाशक—**श्री महावीर ग्रंथ अकादमी** प्रतियां : ११००
८६७, अमृत कलश, बरकत नगर
किसान मार्ग, टोंक फाटक, जयपुर।
मुद्रक—**मनोज प्रिन्टर्स**,
७६६, गोंदीकों का रास्ता,
किशनपोल बाजार, जयपुर
फोन : ६७६६७

श्री महावीर ग्रंथ अकादमी-प्रगति चर्चा

श्री महावीर ग्रंथ अकादमी की स्थापना का उद्देश्य सम्पूर्ण हिन्दी एवं राजस्थानी जैन साहित्य के प्रतिनिधि कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के मूल्यांकन के साथ उनकी विशिष्ट कृतियों को २० भागों में प्रकाशित करना है। इसके अतिरिक्त शोधार्थियों को दिशा निर्देशन एवं युवा विद्वानों को जैन साहित्य पर कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना रहा है। मुझे यह लिखते हुए प्रसन्नता है कि दोनों ही दिशाओं में वह निरन्तर आगे बढ़ रही है। अकादमी द्वारा प्रस्तुत पुष्प सहित ९ पुष्प प्रकाशित किये जा चुके हैं तथा १० वें पुष्प की तैयारी चल रही है। इस तरह अकादमी अपने उद्देश्य में ५० प्रतिशत सफलता प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील है। इसी तरह अमृत कलश स्थित अकादमी कार्यालय में शोधार्थी विद्वानों का बराबर आगमन होता रहता है।

अकादमी द्वारा प्रकाशित आठवें भाग में मुनि सभाचन्द एवं उनके हिन्दी पद्मपुराण को अविकल रूप में प्रकाशित किया गया था। इस प्रकाशन के पूर्व कवि एवं उनकी रचना पद्मपुराण दोनों ही हिन्दी जगत् के लिये अज्ञात एवं अचर्चित थे। पद्मपुराण हिन्दी का बेजोड काव्य ग्रन्थ है जो सीधी सादी एवं सरल भाषा में संवत् १७११ में लिखा गया था। यह महाकवि तुलसीदास की रामायण के समान जैन रामायण है। जो दोहा, चौपाई, सोरठा एवं अडिल्ल छन्दों में निबद्ध है। इस प्रकार मुनि सभाचन्द की इस रचना की खोज, सम्पादन एवं प्रकाशन का समस्त कार्य अकादमी द्वारा किया गया। इसके पूर्व के भागों में भी बाई अजीतमति, कवि धनपाल, भ. महेन्द्रकीर्ति, सांगु, बुलाखीचन्द, गारवदास, चतुरूमल एवं ब्रह्म यशोधर जैसे अज्ञात एवं अचर्चित कवियों को प्रकाश में लाने का श्रेय अकादमी को जाता है। महाकवि ब्रह्म जिनदास का सांगोपांग वर्णन अकादमी के तृतीय भाग में प्रकाशित हो चुका है। मुझे तो यह लिखते हुए प्रसन्नता है कि अकादमी के इन सभी प्रकाशनों में आये हुए कवियों पर अब विश्वविद्यालयों में शोध प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं जो अकादमी के उद्देश्य की महती सफलता है।

प्रस्तुत भाग में कविवर बुधजन के जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। डा. मूलचन्द शास्त्री ने अपनी पी.एच.डी उपाधि के लिये बुधजन कवि को लिया और कवि के व्यक्तित्व पर विशद प्रकाश डालते हुए उसकी कृतियों का जो मूल्यांकन किया है वह निःसन्देह प्रशंसनीय है। उज्जैन में पं. सत्यन्धर कुमार जी सेठी द्वारा आयोजित सेमिनार में जब शोध प्रबन्धों के प्रकाशन की चर्चा आयी और डा. मूलचन्द जी ने अपने शोध प्रबन्ध के प्रकाशन की आवश्यकता बतलायी उस

समय हिन्दी कवि पर शोध प्रबन्ध लिखा होने के कारण मैंने तत्काल उसे अकादमी द्वारा प्रकाशित करने का प्रस्ताव रखा जिसका सभी ने समर्थन किया। शोध प्रबन्ध के प्रकाशन में थोडा विलम्ब अवश्य हो गया लेकिन अकादमी के प्रकाशनों का कार्यक्रम बन चुका था इसलिये उसे तत्काल हाथ में लेना संभव नहीं था। फिर भी अकादमी द्वारा शोध प्रबन्ध को नवम पुष्प के रूप में प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता है।

अकादमी के १०वें भाग में १८वीं शताब्दि के पांच कवियों को चुना गया है। इनमें टीकम, नेमिचन्द, खुशालचन्द काला, किशनसिंह, एवं जोधराज गोदीका जैसे कवियों का विस्तृत परिचय एवं मूल्यांकन रहेगा। ये सभी कवि साहित्य गगन के जगमगाते सितारे हैं।

प्रस्तुत नवम भाग के प्रकाशन में दि. जैन महासभा के अध्यक्ष माननीय श्री निर्मलकुमार जी सा. सेठी एवं श्री हुकमीचन्द जी सा. सरावगी ने जो आर्थिक सहयोग देने का आश्वासन दिया है, अकादमी उसके लिये दोनों ही महानुभावों की आभारी है। सेठी सा. की अकादमी पर असीम कृपा है और वे अपने भाषणों एवं साहित्यिक चर्चा के प्रसंग में अकादमी के कार्यों की प्रशंसा करते रहते हैं।

नये सदस्यों का स्वागत :

अष्टम भाग के पश्चात् जिन महानुभावों ने अकादमी की सदस्यता स्वीकार की है उनमें श्री त्रिजेन्द्र कुमार जी सा. जैन सर्राफ देहली एवं श्री राजेन्द्रकुमार जी ठोलिया जौहरी जयपुर के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। श्री त्रिजेन्द्र कुमार जी देहली के लाल मन्दिर के प्रमुख पदाधिकारी हैं। वे अत्यधिक धार्मिक प्रवृत्ति एवं सरल स्वभावी हैं। समाज सेवा की बात उन्हें अपने पिताजी रघुवीरसिंह जी से प्राप्त हुई है। साहित्यिक कार्यों में आपको विशेष रुचि रहती है।

इसी तरह श्री राजेन्द्र कुमार जी ठोलिया जयपुर के प्रसिद्ध बन्जी ठोलिया परिवार में जन्मे युवा समाज सेवी हैं। आप अत्यधिक विनम्र, मधुर भाषी एवं सरल स्वभावी हैं। अकादमी के नये उपाध्यक्ष के रूप में हम आप दोनों का हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। अन्य सदस्यों में सर्व श्री निहालचन्द जी कासलीवाल बम्बई, कस्तूरचन्द जी सर्राफ कोटा, ज्ञानचन्द जी भंवरलाल जी सर्राफ कोटा, प्रकाशचन्द जी शान्ति लाल जी जैन सर्राफ कोटा, विजयकुमार जी पांड्या कोटा, रिखबचन्द जी जैन कानपुर, मांगीलाल जी पहाडे हैदराबाद, एवं श्री सुमेरचन्द जी पाटनी लखनऊ के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्रीमती चमेली देवी कोठिया धर्मपत्नी डा० दरबारी लाल जी कोठिया का निधन अकादमी परिवार की गहरी क्षति है। श्रीमती कोठिया अकादमी के उपाध्यक्ष पद पर थीं तथा अकादमी की साहित्यिक कार्यों के प्रति गहरी रुचि रखती थीं। आपने अकादमी को सर्व प्रथम सदस्य और फिर उपाध्यक्ष के पद की स्वीकृति

अपनी अन्तः प्रेरणा से दी थी। एक महिला के मन में साहित्य के प्रति इतनी लगन एवं आर्थिक सहयोग एक अनुकरणीय उदाहरण है। उनके निधन से हमें गहरी वेदना हुई है। उनकी आत्मा को शांति लाभ की कामना करते हैं। आदरणीय डा. कोठिया सा. से अकादमी पर अपना पूर्ववत स्नेह एवं वरद हस्त रखने का अनुरोध करते हैं।

अमृत कलश में विद्वानों का आगमन

अमृत कलश स्थित अकादमी कार्यालय में समाज एवं देश के विशिष्ट महानुभावों एवं विद्वानों का आगमन होता रहता है। जिनके पधारने से हमें भी कार्य करने की प्रेरणा मिलती रहती है तथा वे अपने सुझावों से हमें लाभान्वित करते हैं। ऐसे महानुभावों में पं. विमल कुमार जी जैन सौंरया सम्पादक वीतरागवाणी, राजकुमार जी सेठी प्रकाशन मंत्री, दि. जैन महासभा, जवाहर तरुण एवं डा. अनिल कुमार जैन अंकलेश्वर, डा. जगदीश प्रसाद शर्मा हवाई विश्वविद्यालय होनालूलू। डा. इन्दुराय लखनऊ, डा. भागचन्द भास्कर नागपुर एवं श्री अश्विनी कुमार जयपुर के नाम उल्लेखनीय हैं। हम अमृत कलश में पधारने के लिये सभी महानुभावों के आभारी हैं।

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल

प्रस्तावना

किसी भी देश के साहित्य का जन्म शून्य में नहीं होता। लेखक अपने युग जीवन, परिस्थितियों से सदा प्रभावित होकर युगधर्मी साहित्य की रचना करता है, किन्तु कुछ ऐसे भी साहित्यकार होते हैं जो तात्कालिक युग, समाज तथा राजनैतिक परिस्थितियों से प्रभावापन्न होकर भी शाश्वत, चिरंतन सत्य का ही अंकन साहित्य में करते हैं। लोकोपकार से भी अधिक आत्मपरितोष की भावना उनमें अन्तर्निहित रहती है। कविवर बुधजन एक ऐसे ही संत परम्परा के कवि थे, जो ज्ञानरूपी राम की अन्तर्छवि का अन्तर्दर्शन कराना चाहते थे।

कविवर जिस युग में उत्पन्न हुए थे वह अठारहवीं शताब्दी का महत्त्वपूर्ण भाग था। इस समय तक महाराजा सवाई पृथ्वीसिहजी राजस्थान के प्रमुख नगर जयपुर में भली-भांति राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हो चुके थे। उनके कुछ समय पश्चात् ही महाराजा सवाई प्रतापसिंह विद्या-रसिक नरेश हुए। उन्होंने अमृतसागर, शतकत्रय मंजरी और बृजनिधि ग्रंथावली आदि कई ग्रन्थों की रचना की। उनके अनन्तर महाराजा सवाई जगतसिंह हुए। उनके स्वर्गवास के अनन्तर महाराजा सवाई जयसिंह (तृतीय) राज्य गद्दी पर आरूढ़ हुए। उनका शासन काल वि० सं० १८७५ पौषबदी ६ से १८९२ माह सुदी चतुर्थी तक माना जाता है। इनके ही शासनकाल में कविवर बुधजन ने अनेक रचनाओं का प्रणयन किया। स्वयं कवि ने अपनी रचनाओं में सवाई जयसिंह (तृतीय) तथा महाराजा रामसिंह (द्वितीय) का नामोल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट है कि कवि ने इन दो नरेशों का शासनकाल अपने जीवन में देखा था।

यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से यह शान्ति-पूर्ण काल नहीं रहा, क्योंकि महाराजा सवाई जयसिंह के समय में काबुलियों ने उपद्रव किये थे, किन्तु कुल मिलाकर आलोच्यकाल में शान्ति रही। शासन में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए। जयपुर नगर को बसाने का श्रेय महाराजा सवाई जयसिंह (द्वितीय) को है।

कवि की आलोच्यमान कृतियों के आधार पर यह अनुमानित किया गया है कि उनका जन्म वि० सं० १८२० के लगभग एवं मृत्यु वि० सं० १८९५ के पश्चात् हुई होगी। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित है कि इनकी प्रथम कृति का रचनाकाल वि० सं० १८३५ है। अतः यदि कवि ने १५ वर्ष की अवस्था में रचना प्रारंभ की हो तो भी उनका जन्म वि० सं० १८२० ठहरता है। इसी प्रकार उनकी अंतिम कृति "योगसार" भाषा का रचनाकाल वि० सं० १८९५ है। अतः उस समय

तक वे जीवित थे। उसके बाद ही उनकी मृत्यु हुई होगी। अतः मृत्यु तिथि वि० सं० १८९५ अनुमानित है। यह कवि की निम्नतम समय-सीमा है। अधिक से अधिक वि० सं० १८१५ से लेकर १९०० तक कवि का समय माना जा सकता है। क्योंकि उक्त समय (१८३५–१८९५) कवि का रचनाकाल है।

कविवर बुधजन तथा उनकी परंपरा में कई हिन्दी लेखकों तथा कवियों की लम्बी परंपरा प्रकाशमान होती है। जैन कवियों में पं० दौलतराम, चैनसुख, जैतराम, पारसदास, जवाहरलाल, जयचंद, पं० महाचंद और पं० टोडरमल आदि के नाम इतिहास का विवरण प्रस्तुत करने वाले आलेखों में अंकित है, किन्तु कविवर बुधजन का नाम इस प्रकार की सूचियों में नहीं मिलता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में जब ये आलेख प्रस्तुत किये गये, तब तक हिन्दी नई चाल में ढल चुकी थी और इस परंपरा को विकसित करने वाले कवि अपनी साहित्यिक साधना से जन-मानस तक नहीं पहुंच सके थे। फिर अठारहवीं शताब्दी में आध्यात्मिक चेतना को लेकर भैया भगवतीदास, पं० भागचन्द, द्यानतराय भूधरदास, दौलतराम (द्वितीय) तथा चेतन कवि आदि अनेक जैन साहित्यकारों की एक दीर्घ परंपरा ही विलासमान होती रही। इस युग के अधिकतर जैन कवि अध्यात्म के रंग में रंगे हुए लक्षित होते हैं। अतः "कविवर बुधजन" भी उससे अछूते नहीं रहे। उनका मुख्य विवेच्य विषय ही तत्वार्थ या अध्यात्म है।

यद्यपि अद्यावधि संकलित जानकारी तथा प्रकाशित सूचियों के अनुसार कविवर बुधजन की रची हुई १४ रचनाएं ही उपलब्ध हो सकी हैं जिनकी सूची इस प्रकार है :—

(१) नंदीश्वर जयमाला (वि० सं० १८३५)
(२) विमल जिनेश्वर की स्तुति (वि० सं० १८५०)
(३) वन्दना जखड़ी (वि० सं० १८५५)
(४) छहढाला (वि० सं० १८५९)
(५) बुधजन विलास (वि० सं० १८६०)
(६) दोषबावनी (वि० सं० १८६६)
(७) जिनोपकार स्मरण स्त्रोत (वि० सं०)
(८) इष्ट–छत्तीसी
(९) बुधजन सतसई (वि० सं० १८७९)
(१०) तत्वार्थ बोध (वि० सं० १८७९)
(११) पद संग्रह (वि० सं० १८००-९१)
(स्फुटपद)
(१२) पंचास्तिकाय भाषा (वि० सं० १८९२)
(१३) वर्द्धमान पुराण सूचनिका (वि० सं० १८९५)
(१४) योगसार भाषा (वि० सं० १८९५)

मृत्यु महोत्सव, चर्चाशतक, सरस्वती पूजा और भक्तामर स्तोत्रोत्पत्तिकथा इन रचनाओं के नामों का उल्लेख भी मिलता है। इन रचनाओं में से मृत्यु महोत्सव और चर्चा शतक नाम की कोई पृथक् रचना आज तक लेखक के देखने में नहीं आई। कई जैनग्रन्थ भंडारों का निरीक्षण करने पर भी यह निश्चित नहीं हो सका कि इस नाम से कोई स्वतंत्र रचना कविवर द्वारा रचित है। डा० कामताप्रसाद जैन, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री तथा पं० परमानन्द शास्त्री ने कवि की जिन रचनाओं का उल्लेख किया है उनमें भी उक्त रचनाओं का उल्लेख नहीं किया गया है। हमारे विचार में मृत्यु महोत्सव तथा चर्चाशतक पद संग्रह (स्फुट पद) के ही अंश प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार सरस्वती पूजा का समावेश "बुधजन विलास" में लक्षित होता है। अब केवल भक्तामर स्तोत्रोत्पत्ति कथा ही रह जाती है। वास्तव में राजस्थान के जैन ग्रन्थ भंडारों की सूची में भूल से इस रचना का नाम मुद्रित हो गया है या फिर यह किसी अन्य कवि की ही रचना है।

उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि कवि की १२ मौलिक व ६ अनूदित रचना है। पं० परमानन्दजी शास्त्री ने तत्त्वार्थबोध को तत्वार्थसूत्र के विषय का पल्लवित अनुवाद माना है। परन्तु नाम साइश्य या विषय सादृश्य के आधार पर न तो हम उसे तत्वार्थ सूत्र का ही अनुवाद कह सकते हैं और न गोम्मटसार का, क्योंकि इसमें जैन धर्म तथा सिद्धान्तों के आधार पर मुख्य रूप से सात तत्वों का तथा अंगभूत विषयों के रूप में लगभग एक सौ विषयों का वर्णन किया गया है। हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि रचनाकार की मुख्य शैली आचार्य उमास्वामी के तत्वार्थ सूत्र का अनुवर्तन करती है।

आलोच्य कवि मूल में संत परंपरा के कवि थे। मध्यकालीन हिन्दी-संत-कवियों की भांति कविवर बुधजन ने भी ज्ञानधारा में डूबकर निर्गुण, निरंजन, निराकार परमात्मा की विविध अनुभूतिमयी भाव छवियों का वर्णन किया है। एक संत कवि की भांति गुरु का महत्व भी उन्होंने गाया हैं। वे कहते है कि गुरु ने ही हमें ज्ञान-प्याला पिलाया है। मैं आज तक ज्ञानामृत का रसास्वादन नहीं कर पाया था; पर भावों के रस में ही मतवाला था। अतः परमात्मा की सुध-बुध नहीं थी। किन्तु गुरु कृपा से ज्ञानामृत का पान करते ही मैं उस ज्ञानानन्द को उपलब्ध हो गया हूं और इतना थक गया हूं कि क्षणभर में ही समस्त जंजाल (संकल्प-विकल्प) मिट गये हैं। अब मैं ध्यान में मग्न होकर अद्भुत आनन्द-रस में केलि कर रहा हूं।

कविवर ने स्थान-स्थान पर स्वात्मानुभूति तथा अनंत गुणज्ञान से भरपूर परमात्मा-राम का स्मरण किया है। वे यह भी कहते हैं कि मेरा सांई मुझ में ही है। वह मुझ से भिन्न नहीं है। जो उसे जानने वाला है, वही जानता है। वह अनंत दर्शन, अनंतज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तशक्ति का धारक है, वह ज्ञायक है।

जिस प्रकार अखंड द्रव्य अपने गुणों से और पर्यायों से युक्त है। गंधकुटी में जैसे सर्वज्ञदेव शोभायमान होते हैं वैसे ही एक अखंड चिदानन्द-चैतन्य-स्वरूप, विज्ञान-घन-स्वभावी मेरा परमात्मा मुझ में विलसित है। इतना ही नहीं, कविवर ने भरम का विनाश करने के लिये और तत्व को प्रकाशित करने के लिये जिनवर के चरणों की शरण ग्रहण की है और उनके ही प्रसाद से अपने आपको ज्ञायक माना है तथा परको व शरीरादि को जड़ जाना है। स्व-संवेदनगम्य, ब्रह्मानुभूति स्वरूप, आत्मानुभव का वर्णन करता हुआ कवि कहता है आज निजपुर में (आत्मा में) होली मची है। आनन्द से उमगकर सुमति रूपी गौरी (जीवात्मा) चिदानन्द परमात्मा के आने का उत्सव मना रही है। आज सभी प्रकार की लोकलाज को छोड़कर ज्ञानरूपी गुलाल से अपनी झोली भरकर होली खेलने के लिये सम्यकत्वरूपी केशर का रंग घोलकर चारित्ररूपी पिचकारी छोड़ रही है। तत्क्षण ही अजपा-गान होने लगा और अनहद नाद की झड़ी लग गई। कविवर बुधजन कहते हैं कि स्वयं उस आनन्द धारा में निमज्जित होकर अलौकिकता का वेदन करने लगा हूं।

हिन्दी साहित्य के क्रमिक विकास में जैन साहित्यकारों ने पर्याप्त योगदान दिया है। उन्होंने हिन्दी साहित्य को सदा आध्यात्मिक, साहित्यिक, सामाजिक एवं नैतिक पृष्ठभूमि में प्रतिष्ठित किया है। उनके साहित्य ने अज्ञानान्धकार में भ्रमित प्राणियों का दिशा निर्देशन कर ज्ञान आलोक प्रदान किया। हिन्दी के मूर्द्धन्य जैन कवियों में सरलता से बुधजन का नाम लिया जा सकता है। सरलता और सादगी, सतत अध्यवसाय और चिंतन उनके जीवन के अभिन्न अंग थे। उनकी रचनाओं में भी हम सरलता (प्रसाद गुण) और भव्यता की झांकी देख सकते हैं। इस प्रतिभा शाली साहित्यकार के विषय में डा० नेमिचंद्रजी ज्योतिषाचार्य, आरा, डा० कस्तूर चन्दजी कासलीवाल, जयपुर, डा० राजकुमारजी जैन, आगरा, डा० रामस्वरूप आदि ने कविवर बुधजन के सम्बन्ध में प्रकरणवश संक्षेप में प्रकाश डाला है किन्तु उनके विवेचन से कविवर बुधजन की महत्ता एवं रचना कौशल का हिन्दी जगत को यथावत परिज्ञान नहीं हो सका।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा. हीरालाल जैन, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल आदि विद्वानों के शोधपूर्ण लेखों के परिणाम स्वरूप एवं उनकी इस स्वीकारोक्ति के कारण कि "हिन्दी साहित्य का इतिहास जैन साहित्य के अध्ययन मनन के बिना अपूर्ण एवं पंगु ही रहेगा," आज भी मनन, चिंतन के लिये प्रेरणाप्रद है।

हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने पर एक बात सदा मन को कचोटती रही कि अनेक जैन कवियों एवं साहित्यकारों ने सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक हिन्दी साहित्य की पर्याप्त सेवा की, तथापि उनकी रचनाओं को साम्प्रदायिक कहकर साहित्य की कोटि में नहीं लिया गया। इसका विवेचन तथा विश्लेषण करना

मेरी अन्तः प्रेरणा का स्रोत रहा है। मेरी हार्दिक इच्छा विगत कई वर्षों से थी कि मैं कुछ कार्य करूं, परन्तु ऐसा करने का सिलसिला तब तक जम न सका। सौभाग्य से इन्दौर में साक्षात्कार होने पर आदरणीय डा० देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री, नीमच ने मेरा उत्साह बढ़ाया एवं प्रेरित भी किया एवं श्रद्धेय गुरुवर्य पं. नाथूलाल जी शास्त्री, संहितासूरि इन्दौर ने मुझे शुभाशीर्वाद दिया।

उक्त शोध प्रबंध में डा० देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री ने मुझे जितना संभाला है, उनके प्रति कृतज्ञता करना धृष्टतामात्र होगी। उनके पवित्र निर्देशन में यह शोध कार्य पूर्ण हुआ है। वे निःसंदेह एक आदर्श निर्देशक हैं। यदि डाक्टर साहब की प्रेरणा एवं निर्देशन प्राप्त न होता तो मैं भी ढूंढारी (राजस्थानी) लोकभाषा के माध्यम से विक्रम की १९ वीं शताब्दी में हिन्दी साहित्य की सेवा करने वाले अनेक ग्रंथों के रचयिता कविवर बुधजन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर शोधकार्य करने को उद्यत न हुआ होता।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध में कविवर बुधजन की प्राप्त सभी रचनाओं और उनकी जीवनी का अध्ययन एवं मंथन करने का प्रयत्न किया गया है। कवि की जीवनी एवं रचनाओं में मौलिक तत्वों की गवेषणा के साथ विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक प्रभावों को स्पष्ट करना रहा है। अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर कवि का काल निर्णय किया गया है।

आज का हिन्दी सेवी संसार जैन हिन्दी पदकारों की अध्यात्म रसमयी काव्य धाराओं में अवगाहन कर ब्रह्मानंद सहोदरी रसानुभूति करे और इस उपेक्षित धारा का भी भारती माता के मंदिर में यथोचित समादर प्राप्त हो, मुख्यतः हमारी यही दृष्टि है।

कविवर बुधजन की रचनाओं में उनका जीवन त्यागमय, संयत, अध्यात्मपरक एवं मानवैक्य से ओतप्रोत परिलक्षित होता है। उनकी उज्जवल रचनाएं उनके हृदय की उज्जवलता का आभास देती है। उनकी रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि पर्याप्त अध्ययन-मनन के बाद ही लिखी गई हैं।

कवि की अध्यात्म प्रधान रचनाएं जनहित के शाश्वत पाथेय होने के कारण वर्तमान में तथा भावी पीढ़ी के लिये भी सदैव एक आदर्श प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेंगी। वे बहुश्रुत विद्वान् थे। वे अपनी विद्वत्ता एवं रचना चातुर्य के कारण हिन्दी के साहित्य-जगत् में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनका नाम हिन्दी साहित्य जगत् में संभवतः इसलिये प्रसिद्ध नहीं हो सका क्योंकि उनकी अधिकांश रचनाएं अप्रकाशित थीं। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिये तत्कालीन लोक भाषा ढूंढारी (राजस्थानी) को चुना था जो उस समय जयपुर क्षेत्र की लोक भाषा थी।

प्रस्तुत शोध प्रबंध के प्रथम अध्याय में ऐतिहासिक, राजनैतिक एवं तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ साहित्यिक गतिविधियों पर विचार किया

गया है। द्वितीय अध्याय में अन्तः बाह्य प्रमाणों से पुष्ट कवि की जीवनी प्रस्तुत की गई है एवं कवि की समस्त रचनाओं की प्रामाणिकता की चर्चा की गई है।

तृतीय अध्याय में कृतियों का भाषा विषयक एवं साहित्यिक अध्ययन एवं वस्तु पक्षीय विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय में हिन्दी साहित्य के विकास में बुधजन का योगदान हिन्दी के कतिपय कवियों की रचनाओं से उनकी रचनाओं की तुलना एवं उनकी भक्ति भावना पर विचार प्रकट किये गये हैं।

शोध के समय न तो कवि का प्रामाणिक चित्र ही उपलब्ध हुआ और न उनकी मृत्यु की निश्चित तिथि ही उपलब्ध हुई। उनके जन्म स्थान के सम्बन्ध में भी विशेष जानकारी उपलब्ध न हो सकी। लेकिन कविवर बनारसीदास एवं पं० टोडरमलजी के समान कवि का जीवन अन्तर्द्वन्दमय नहीं रहा। वे एक साधारण धार्मिक प्रकृति के सद्गृहस्थ व्यक्ति थे। बनारसीदासजी एवं टोडरमलजी की तुलना में उनकी रचनाओं में अध्यात्म का विस्तृत विवेचन नहीं है, परन्तु भाव की व्यंजना अवश्य सघन है, जिससे कविवर के व्यक्तित्व का सहज में ही आकलन किया जा सकता है।

कविवर बुधजन की रचनाओं के लगभग २८० पृष्ठों का अध्ययन कर लिया गया है। उनका साहित्यिक जीवन विक्रम संवत् १८२० से १८९५ तक का उन्हीं की कृतियों के आधार पर निश्चित होता है। ७५ वर्ष के अपने साहित्यिक जीवन में उन्होंने लगभग १४ रचनाओं का सृजन किया जो एक महान् उपलब्धि है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में कवि का जीवन-परिचय, व्यक्तित्व, साहित्यिक कृतित्व एवं उनकी प्रतिनिधि रचनाओं पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी साहित्य में उनके स्थान को मूल्यांकन करने का प्रयत्न रहा है।

कवि के समस्त साहित्य का अनुशीलन करने के पश्चात् हम देखते हैं कि उनका समस्त साहित्य पद्यमय है एवं देशी भाषा में है। विविध रचनाओं के अवलोकन से यह भी स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनका प्रतिपाद्य मुख्यतः आध्यात्मिक विवेचन है। उनके मौलिक ग्रन्थ उनके अनुभवों तथा तत्वचिंतन को प्रतिफलित करते हैं। उनके टीका ग्रन्थ भी मात्र अनुवाद नहीं हैं, उनका चिंतन वहां भी जाग्रत है।

३३० भवानी रोड
सनावद

डा. मूलचन्द शास्त्री

प्रधान सम्पादक की कलम से

हिन्दी भाषा के विकास में जैनाचार्यों, सन्तों एवं कवियों का योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। जैन कवियों ने पहिले अपभ्रंश के रूप में और फिर हिन्दी के रूप में ८ वीं शताब्दि से ही रचनायें लिखना आरम्भ कर दिया था। राजस्थान के जैन ग्रंथागारों में उनके द्वारा निबद्ध हिन्दी ग्रंथों की हजारों पाण्डुलिपियों के आज भी दर्शन किये जा सकते हैं। लेकिन हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनकी सबसे अधिक उपेक्षा हुई और आज भी उनको उतना स्थान नहीं मिल रहा है जितने स्थान की ये रचनाएं अधिकारी हैं।

श्री महावीर ग्रंथ अकादमी की स्थापना समस्त हिन्दी जैन साहित्य को २० भागों में प्रकाशित करके उन्हें हिन्दी जगत् के समक्ष प्रस्तुत करने के उद्देश्य से की गयी है। यद्यपि २० भागों में समस्त हिन्दी कवियों एवं उनकी कृतियों को समेटना कठिन है फिर भी हिन्दी के प्रतिनिधि जैन कवियों का परिचय, मूल्यांकन एवं उनके काव्यों के मूलपाठ प्रकाशित किये जा सकेंगे ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

बुधजन ऐसे ही कवि हैं जिनके नाम से तो हम परिचित हैं। कभी-कभी उनके द्वारा रचित पदों को भी गाकर अथवा सुनकर हर्षित होते हैं लेकिन कवि के जीवन से एवं उसकी दूसरी कृतियों से हम प्रायः अपरिचित हैं। डा० मूलचन्द शास्त्री ने ऐसे कवि पर शोध कार्य करके अकादमी के कार्य को हल्का कर दिया है। जिसके लिये हम उनके पूर्ण आभारी हैं।

बुधजन जयपुर नगर के कवि थे। वे महापंडित टोडरमल एवं दौलतराम कासलीवाल के बाद में होने वाले कवि हैं। उनके समकालीन कवियों में पं. जयचन्द छाबड़ा, ऋषभदास निगोत्या, पं. केशरीसिंह, जोधराज कासलीवाल, पं. उदयचन्द, पं. सदासुख कासलीवाल, पं. मन्नालाल पाटनी, नेमिचन्द, नन्दलाल छाबड़ा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी कवि जयपुर नगर के थे। जयपुर के बाहर राजस्थान, आगरा, देहली आदि में और भी कवि हुए हैं। लेकिन उनमें से किसी भी कवि ने बुधजन के बारे में कुछ नहीं लिखा। स्वयं बुधजन भी पं. जयचन्द छाबड़ा; मन्नालाल पाटनी, नेमिचन्द के अतिरिक्त अपने दूसरे साथियों के बारे में मौन ही रहे।

कवि का पूरा नाम वृद्धीचन्द, बधीचन्द अथवा भदीचन्द था। बुधजन तो उन्होंने काव्यों में लिखने, पदो में लिखने के लिये रख लिया था। ये बज गोत्रीय खण्डेलवाल जाति के श्रावक थे। इनके पूर्वज पहिले आमेर में फिर सांगानेर में और

अन्त में जयपुर आकर रहने लगे थे। उनके पिता का नाम निहालचन्द था। वे सोभाचन्द के पौत्र एवं पूरणमल के पुत्र थे। उन्हीं के वंश में होने वाले प्रोफेसर नवीन कुमार जी बज ने जो अपनी वंशावली दी है वह पूरी की पूरी अलग से दे दी गयी है।

कवि का जन्म, लालन पालन, शिक्षा दीक्षा, आदि के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता। आज भी जैसे हम हमारे इतिहास को कोई महत्त्व नहीं देते वैसे उस युग में हमारे पूर्वजों की यही भावना रही होगी। कवि ने अपनी प्रथम कृति संवत् १८३५ में निबद्ध की थी। डा. शास्त्री ने कवि का समय संवत् १८२० से १८९५ तक का माना है। इसलिये जब वे १५ वर्ष के थे तभी उन्होंने लिखना प्रारम्भ कर दिया जो उनकी प्रखर बुद्धि का परिचायक है। कवि ६० वर्ष तक अर्थात् जीवन के अन्तिम क्षण तक जिनवाणी की सेवा में लगे रहे और एक के पश्चात् दूसरे ग्रंथ का निर्माण करते रहे। वे स्वयं संगीतज्ञ थे इसलिये उन्होंने सैकडों पदों की रचना की थी।

बुधजन राज्य सेवा में थे अथवा व्यापार आदि करते रहे इसका भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता लेकिन उस समय भी जयपुर के अधिकांश जैन बन्धु राज्य सेवा में रहते थे इसलिये कवि भी किसी न किसी पद पर कार्य करते होंगे। तत्कालीन दीवान अमरचन्दजी का उनसे विशेष स्नेह था इसलिये यह भी संभव है कि कवि दीवान अमरचन्द जी के यहां कार्य करते होंगे। पंचास्तिकाय भाषा में उन्होंने दीवान अमर चन्द का निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

संगही अमर चन्द दीवान, मोकू नहीं दयावर आन।
पंचास्तिकाय की भाषा रचो, तो अघ हरो धर्म विस्तरो ॥५७८॥

कवि ने अपने जीवन काल में पांच राजाओं का राज्य देखा था। वे उस समय पैदा हुये थे जब जयपुर जैन समाज एक ओर राज्य के भय से आतंकित था। शैव एवं जैनों के झगड़े, मन्दिरों की लूटपाट प्रायः आम बात थी। दूसरी ओर तेरहपंथ बीस पंथ के झगड़ों ने समाज को दो भागों में विभक्त कर दिया था। समाज में एक ओर महापंडित टोडरमल जैसे तेरहपंथी विद्वान् थे तो दूसरी ओर सुरेन्द्र कीर्ति भट्टारक एवं उनके समर्थक पं. बख्तराम शाह जैसे बीसपंथ का प्रचार कर रहे थे। लेकिन जब वे वयस्क हुये होंगे तब सभी ओर शान्ती थी। अशान्त वातावरण से उन्हें जूझना नहीं पड़ा। स्वयं कवि तेरहपंथी थे लेकिन उन्होंने अपनी कृतियों में किसी पंथ का समर्थन नहीं किया क्योंकि वे दोनों ही समाजों में लोकप्रिय थे।

बुधजन साहित्यिक प्रतिभा के धनी थे। काव्य रचना उनके स्वभाव में समा गया था।एक ओर वे भक्त कवि के रूप में अपने आपको प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर आत्मा की ऊंची उड़ान भरते हैं। उनकी प्रमुख रचनाओं में छहढाला,

बुधजन सतसई, योगसार भाषा, पंचास्तिकाय भाषा एवं ढेर सारे पद हैं जिनमें कवि ने अपनी आत्मा ऊडेल कर रख दी है। हमने अभी तक बुधजन के महत्त्व को स्वीकारा ही नहीं। वे अत्यधिक सरल हृदय कवि थे। अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर उन्होंने जो कुछ लिखा है वह ऊंचाइयों को छूने वाला है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में शोधकर्त्ता ने उनकी तुलना कबीर, तुलसी, वृन्द एवं सूरदास से की है वह एक दम तथ्यपूर्ण हैं।

बुधजन १९ वीं शताब्दि के प्रतिनिधि कवि थे। गद्य एवं पद्य दोनों पर उनका समान अधिकार था। डा. शास्त्री ने उनकी जितनी रचनाओं के नाम गिनाये हैं यदि राजस्थान के शास्त्र भण्डारों की गहन खोज की जावे तो इनमें और भी नाम जुड़ सकते हैं। कवि ने विलास, बावनी, छत्तीसी, पच्चीसी, शतक संज्ञक रचनायें लिखी और अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय दिया। वे एवं उनकी कृतियां इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त करने में सफल हुई हैं कि रचना समाप्ति के कुछ समय पश्चात् ही उनकी प्रतियां अन्य शास्त्र भण्डारों में संग्रहीत की जाने लगी। छहढाला की प्रति अपने निर्माण काल के कुछ ही महिनों पश्चात् तो टोडारायसिंह जैसे दूर नगर में पहुंच गयी। इसी तरह बुधजन विलास जैसी बड़ी एवं महत्त्वपूर्ण कृति भी अपने निर्माण काल के कुछ ही महिनों में तो भरतपुर, कामां एवं अन्य नगरों में प्रतिलिपि की जाकर पढ़ी जाने लगी। इस प्रकार १५० वर्ष पूर्व समाज में नयी-नयी कृतियों को पढ़ने की कितनी इच्छा रहती थी यह इन घटनाओं से जाना जा सकता है।

डा० मूलचन्द जी ने कवि की कृतियों का भाषा, भाव एवं शिल्प की दृष्टि से गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसके लिये शास्त्री जी बधाई के पात्र हैं। वास्तव में जैन कवियों की अधिकांश कृतियां काव्यगत सभी गुणों से आप्लावित रहती हैं। उनमें वे सभी गुण विद्यमान रहते हैं जो किसी भी अच्छी कृति में होने चाहिये। अकादमी द्वारा प्रकाशित पिछले आठ पुष्पों में जितनी कृतियां प्रस्तुत की गयी हैं वे सभी साहित्यिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कविवर बुधजन भी इस पक्ष में खरे उतरे है।

राजस्थान विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के रीडर डा० शम्भूसिंह जी मनोहर ने प्रस्तुत पुस्तक पर अपने दो शब्द लिखे हैं इसके लिये हम उनके पूर्ण आभारी हैं। डा० मनोहर बहुत ही खोजी विद्वान् हैं तथा जैन साहित्य के योगदान की सदैव प्रशंसा करते हैं। श्री नानगरामजी जैन जौहरी जयपुर ने जो अकादमी के सह संरक्षक हैं, दो शब्द लिखने की कृपा की है हम उनके भी पूर्ण आभारी हैं।

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों, शास्त्र भण्डारों के व्यवस्थापकों एवं प्रोफेसर नवीन कुमार जी बज का आभारी हूं जिन्होंने कविवर बुधजन को प्रकाश में लाने में हमें पूर्ण सहयोग दिया है। नवीन कुमार जी हमारे कवि के वंश में हैं तथा राजस्थान विश्वविद्यालय में कार्यरत हैं वे भी समाजशास्त्र के प्रवक्ता हैं। डा० मूलचन्द जी शास्त्री का भी मैं अत्यधिक आभारी हूं जिन्होंने अपना शोध प्रबन्ध अकादमी को प्रकाशनार्थ दिया। इस शोध प्रबन्ध में छहढाला एवं सतसई के पाठ नहीं थे वे हमने इसमें और जोड़ दिये जिससे पाठकों के कवि मूल ग्रंथों को भी पढ़ने का अवसर प्राप्त हो। इस बार प्रूफ रीडिंग का अधिकांश कार्य श्री महेशचन्द्र जी जैन ने किया है इसलिये उनका भी मैं हृदय से आभारी हूं।

अमृत कलश, बरकत नगर
जयपुर
५-७-८६

डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल

प्रास्ताविक

विद्वद्वर डॉ. कस्तूरचंदजी कासलीवाल के बंदुष्यपूर्ण निदेशन में महावीर-ग्रंथ-अकादमी जयपुर द्वारा राजस्थान के जैन कवियों की अप्रकाशित रचनाओं की प्रकाशन शृंखला में एक और नई और महत्वपूर्ण कड़ी जुड़ी है–'कविवर बुधजनः व्यक्तित्व और कृतित्व,' जिसके लेखक सम्पादक हैं–डॉ. मूलचन्दजी शास्त्री। डॉ. मूलचन्दजी का यह शोध प्रबंध है, जिस पर विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन ने उन्हें पी. एच. डी. की उपाधि से अलंकृत किया है।

कविवर बुधजन १९वीं शताब्दी के जैन कवि थे, जिन्होंने जयपुर के दो राजाओं–जयसिंह (तृतीय) और रामसिंह का राज्यकाल देखा था। जैसा कि जैन कवियों की परम्परा रही है, कविवर बुधजन ने भी अपने समय की प्रचलित जन-भाषा में काव्य रचना की। वस्तुतः इस अनूठी परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय भगवान् महावीर को है, जिन्होंने अपनी जनपदीय भाषा में धर्मोपदेश कर यह सिद्ध कर दिया कि धर्म का बिरवा साहित्यिक भाषा के 'कूपजल' से नहीं, अपितु लोकगिरा के 'बहते नीर' से सिंचित होकर ही जन-जन के लिए फलदायी होता है। धर्म को लोक मानस में प्रतिष्ठित करने तथा उसे लोक जीवन का अंग बनाने के लिए लोक भाषा ही सर्वोत्तम माध्यम है। शास्त्रीय भाषा में उपदिष्ट धर्मोपदेश यदि कल्पतरु है–धरती से ऊपर उठा हुआ। तो लोकभाषा में प्रचलित धर्म कल्पलता है। धरती पर प्रसरित, अतः सर्वसुलभ! कविवर बुधजन सहित राजस्थान के जैन कवियों ने लोक भाषा में साहित्य रचना कर धर्म की इसी कल्पलता को सर्वसुलभ किया है। इस दृष्टि से, इन जैन कवियों ने न केवल जैन-धर्म की ही महती सेवा की, अपितु अपने समय की जनभाषा को साहित्य-सृजन का एक सशक्त माध्यम बनाकर राजस्थानी भाषा और साहित्य की समृद्धि में भी स्तुत्य योगदान दिया है।

डा. मूलचन्दजी ने विवेच्य कृति में इस अद्यावधि अज्ञात कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व का साङ्गोपाङ्ग विवेचन करते हुए एक अत्यन्त प्रामाणिक, गंभीर एवं विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है। विवेचन की इस प्रक्रिया में विद्वान् लेखक ने अपने को एकान्ततः कवि की रचनाओं तक ही सीमित न रख, पृष्ठ भूमि के रूप में, जैन कवियों की सुदीर्घ साहित्य-सेवा एवं यशस्वी काव्य-परंपरा पर भी प्रकाश डाला है, जिसके फलस्वरूप उसका यह शोध प्रबंध भारतीय-वाङ्मय में जैन-काव्य-धारा के महत्व का बोध कराने की दृष्टि से भी उपादेय हो गया है।

युग और परिस्थितियां शीर्षक प्रथम-खण्ड में जैन कवियों के इसी ऐतिहासिक योगदान का सम्यक् मूल्यांकन करते हुए लेखक ने तद्युगीन परिस्थितियों का

सारगर्भित विवेचन-विश्लेषण किया है। जीवन-परिचय खण्ड के अन्तर्गत लेखक ने कवि का प्रामाणिक जीवन-वृत्त प्रस्तुत करते हुए उसके व्यक्तित्व की बहुमुखी विशेषताओं को अत्यन्त चारुता के साथ उभारा है। कवि की निस्पृह वृत्ति, धार्मिक भावना, सात्विक जीवन-चर्या तथा पारमार्थिक साधना जहां उसके व्यक्तित्व को आध्यात्मिक महिमा से मंडित करती है, वहां निःस्वार्थ भाव से प्रेरित उसका लोकोपकारी एवं समाज सेवी रूप उसके व्यक्तित्व के सामाजिक पक्ष के प्रति हमारी श्रद्धा जगाते हैं। साथ ही, बुधजन एक कुशल गायक एवं सरस्वती के अनन्य आराधक भी थे। डा. मूलचन्दजी ने कवि के व्यक्तित्व के इन्हीं सब आयामों को अपनी अशेष महत्ता के साथ उजागर किया है।

प्रस्तुत कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग कवि-कृतित्व के परिचय तथा उसके मूल्यांकन से सम्बद्ध है। लेखक ने कवि द्वारा प्रणीत सभी रचनाओं का, जो छोटी-बड़ी कुल मिलाकर १७ हैं, उनके रचनाक्रमानुसार परिचय देते हुए साहित्यिक दृष्टि से विशद् मूल्यांकन किया है। इसके अन्तर्गत इन रचनाओं के भाषा, शिल्प व भावपक्षीय विश्लेषण के साथ-साथ उनका तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। इस सम्बन्ध में, विद्वान् लेखक ने काव्य के पारंपरिक प्रतिमानों के आधार पर कवि के रचना-वैशिष्ट्य का मूल्यांकन करते हुए यत्र-तत्र अपनी मौलिक अन्तर्दृष्टि का भी परिचय दिया है। उदाहरणतः उसने साहित्य को व्यापक अर्थ में ग्रहण किए जाने पर बल देते हुए यह सर्वथा उचित ही कहा है कि भारतीय मनीषा ने कभी भी साहित्य को संस्कृति से विच्छिन्न कर नहीं देखा है। अतः संस्कृति के प्राण-भूत तत्व-धर्म और दर्शन को साहित्य से बहिर्गत नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि हमारे प्राचीन साहित्य, विशेषतः संत व भक्ति-साहित्य में जीवन के पार-मार्थिक लक्ष्य की प्राप्ति का सन्देश है, उच्चतम नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा है, जीवन के शाश्वत सत्यों का उद्घोष है। वह मात्र अनुरंजनकारी साहित्य नहीं, अपितु कालजयी चेतना का चिरन्तन आलेख है! हमारा कृत्स्न भक्ति-साहित्य ऐसा ही मूल्य धर्मी साहित्य है, जिसका सम्यक् महत्वांकन हमारे इसी सांस्कृतिक संदर्भ एवं आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में संभव है।

डा. मूलचन्दजी शास्त्री ने साहित्य की इसी व्यापक अवधारणा के आधार पर कविवर बुधजन के कृतित्व का मूल्यांकन कर उसे साहित्य के साथ-साथ धर्म और दर्शन की गौरवमयी पीठिका पर भी प्रतिष्ठित किया है, जो निश्चय ही अभिनंद्य है।

आशा है, विद्वत् समाज, शारदा के निर्माल्य-रूप महावीर-ग्रन्थ-अकादमी के इस ९ वें पुष्प को अपनी अंजलि में समोद धारण करेगा!

शंभुसिंह मनोहर
एसोसिएट प्रोफेसर–हिन्दी,
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

दि० १६–६–८६

सह संरक्षक की कलम से

श्री महावीर ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित "कविवर बुधजन-व्यक्तित्व एवं कृतित्व को पाठकों के हाथों में देते हुए हमें अतीव प्रसन्नता है। यह अकादमी का नवम पुष्प है। इसके पूर्व अकादमी द्वारा आठ पुष्प और प्रकाशित किये जा चुके हैं समस्त हिन्दी जैन साहित्य को २० भागों में प्रकाशित करने की योजना के अन्तर्गत अकादमी निश्चित रूप से आगे बढ़ रही है जो अत्यधिक उत्साहवर्धक है। वास्तव में किसी भी दिशा में योजनाबद्ध कार्य करना कठिन होता है लेकिन डा. कस्तूरचन्द कासलीवाल का दृढ़ संकल्प एवं साहित्य के प्रति अभिरूचि इस योजना की आधार शिला है। डा. कासलीवाल जी को इस योजना में समाज का प्राप्त सहयोग भी निश्चित रूप से उनके कार्य को सुगम बनाने वाला है। अकादमी द्वारा जैन हिन्दी साहित्य के २० भाग प्रकाशित हो जावेंगे तो हिन्दी जगत में यह एक आश्चर्यजनक कार्य होगा। इसलिये हम उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे हैं जब हम हिन्दी जगत को यह अमूल्य भेंट कर सकेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक में जिस कवि का परिचय दिया जा रहा है वे जयपुर के निवासी थे। उन्होंने इसी नगर में रहते हुए काव्य रचना की थी और अपनी काव्य कृतियों से नगर वासियों को आध्यात्मिक एवं भक्ति रस में सरोबार कर दिया था। बुधजन कवि का "प्रभु पतित पावन मैं अपावन चरण आयो शरण जी" जैसा भक्ति गीत आज भी लाखों जैन भाई-बहिनों को कंठस्थ है और वे प्रतिदिन उसका पाठ करते हैं। उनके पचासों हिन्दी पद, छहढाला एवं अन्य पाठ समाज में अत्यधिक लोकप्रिय है इसलिये बुधजन कवि जो जन-जन के कवि हैं उनके कण्ठ से निकला हुआ प्रत्येक गीत एवं काव्य पाठक के हृदय को छूने वाला होता है। उनकी कृतियों में में इतना आकर्षण है कि जो भी एक बार उन्हें पढ़ लेता है वह उन्हीं में डूब जाता है। डा. मूलचन्द जी शास्त्री ने ऐसे जनप्रिय भक्त कवि एवं आध्यात्मिक कवि पर शोध प्रबन्ध लिखकर प्रशंसनीय कार्य किया है जिसके लिये वे बधाई के पात्र हैं।

अकादमी अपने उद्देश्य में निरन्तर आगे बढ़ती रहे इसके लिये समाज का सहयोग भी आवश्यक है। यद्यपि अभी तक का प्रकाशन कार्य में उनका सहयोग मिला है लेकिन उसकी गति इतनी धीमी है कि एक भाग को निकालने में काफी समय लग जाता है। हम चाहते है कि अकादमी की यह योजना सन् १९९० तक पूरी हो जावे। इसलिए मेरा समाज से यही अनुरोध है कि वह अकादमी के सदस्य बन कर इसकी प्रकाशन योजना को पूर्ण करने में सहायक बनें। आशा है मेरे इस निवेदन पर समाज का ध्यान अवश्य जावेगा।

नानगराम जैन

महावीर भवन
हास्पिटल रोड जयपुर

———

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खंड-प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि

अकादमी की प्रगति चर्चा	डा. कासलीवाल
प्रस्तावना	डा. मूलचन्द शास्त्री
प्रधान सम्पादक की कलम से	डा. कासलीवाल
प्रास्ताविक	डा. शम्भूसिंह मनोहर
सह संरक्षक की कलम से	नानगराम जौहरी

विषयानुक्रमणिका पृष्ठ संख्या

१. युग और परिस्थितियां १
२. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ५
३. तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियां ६
४. लोक–परम्परा ९
५. खड़ी बोली की परंपरा तथा विकास १०
६. साहित्य–सर्जन १३

द्वितीय खंड

प्रथम अध्याय : जीवन परिचय

१. जीवन परिचय १६
२. अनुश्रुति एवं वंश परिचय १८
३. कवि का सामाजिक जीवन २१
४. कवि की धार्मिक वृत्ति २२
५. रचनाकाल २३
६. देहावसान एवं विशिष्ट व्यक्तित्व २६

द्वितीय खंड

(द्वितीय अध्याय)

	पृष्ठ संख्या
१. कृतियाँ	२६
२. कृतियों का परिचय (मूल कृतियां एवं अनुदित कृतियां)	२८-७२

तृतीय खंड

(प्रथम अध्याय)

१. कृतियों का भाषा विषयक एवं साहित्यिक अध्ययन	७३
२. वस्तुपक्षीय विश्लेषण	७६
३. प्रकृति चित्रण	८८

तृतीय खंड

(द्वितीय अध्याय)

१. भाव पक्षीय विश्लेषण	९३

तृतीय खंड

(तृतीय अध्याय)

१. भाषा शिल्प सम्बन्धी विश्लेषण	११८
२. ध्वनि ग्रामीय प्रक्रिया	१२२
३. अर्थतत्व	१२६
४. मुहावरे एवं लोकोक्तियां	१३०
५. अलंकार योजना	१३१
६. छन्द योजना	१३३

चतुर्थ खंड

(प्रथम अध्याय)

तुलनात्मक अध्ययन

		पृष्ठ संख्या
१.	हिन्दी साहित्य के विकास में बुधजन का योग	१३५
२.	बुधजन साहित्य में प्रतिपादित आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तत्त्व	१३६
३.	गीति काव्य के विकास में बुधजन का योग	१४६
४.	विद्यापति और बुधजन	१५३
५.	सूरदास और बुधजन	१५७
६.	संत काव्य परंपरा में बुधजन	१६३
७.	बुधजन का भक्तियोग	१६८
८.	छहढाला	१७५
९.	बुधजन सतसई	१९०
१०.	अनुक्रमणिका संदर्भ ग्रन्थ	२१४
११.	अनुक्रमणिका ग्रन्थ एवं कवि	२१६
१२.	बुधजन का उल्लेख-विद्वानों की दृष्टि में	२१८

प्रथम खण्ड

१—युग और परिस्थितियां

प्रथम अध्याय : पृष्ठभूमि

शताब्दियों तक समान रूप से व्याप्त रहने वाली मानवीय सभ्यता तथा संस्कृति का इतिहास प्रायः लिपिबद्ध किया जाता रहा है। इतिहास की घटनाओं की समय-समय पर आवृत्ति होती रही है। सभ्यता तथा संस्कृति को मुखरित करने वाला साहित्य उसका प्रमुख माध्यम रहा है। साहित्य में ऐसी घटनाओं का भी सजीव वर्णन उपलब्ध होता है, युग और परिस्थितियों का चित्रण मिलता है, जिनका उल्लेख इतिहास का विषय होने पर भी आज तक इतिहास के परिवेश के अन्तर्गत स्थान प्राप्त नहीं कर सका है। इसलिए हम केवल यही समझते रहे हैं कि इतिहास की पुस्तकों में जिनका विवरण नहीं मिलता, वे इतिहास से परे हैं। इतिहास की दृष्टि से उनकी चर्चा करना भी क्या अप्रयोजनीय है ?

युग-युगों में उपलब्ध होने वाले सभी आलेखों के आधार पर व्यापक भारतीय संस्कृति का आलेखन नहीं हो सका है। इसीलिये वर्तमान में भी नित नवीन अनुसंधानों के द्वारा हमें समीचीन तथ्य उपलब्ध होते हैं, जो प्रायः ऐतिहासिकों की दृष्टि से ओझल रहे हैं। इतिहास में जिन तथ्यों का अंकन नहीं हो पाया है, उसके मुख्य दो कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम तो इतिहासविदों के समक्ष सभी प्रकार की सामग्री का उपलब्ध न होना और दूसरे उनकी अपनी दृष्टि में मान्यता विशेष का होना।

अपनी रुचि तथा दृष्टि विशेष के कारण सभी प्रकार के लेखक युग तथा परिस्थितियों के अनुसार साहित्य-सर्जन करते रहे हैं। राजनीतिक तथा सांस्कृतिक संक्रमण के युग में उनमें जो परिवर्तन लक्षित होते रहे हैं, उनका स्पष्ट प्रतिबिम्ब साहित्य में भी चित्रित होता रहा है। किन्तु वास्तविकता यह है कि सभी रचनाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। फिर भी साहित्यिक रचनाओं में बहुविध चित्रण में उनका समावेश यथा स्थान पाया जाता है। "देश और काल से साहित्य का अविच्छिन्न सम्बन्ध है और प्रत्येक देश के विभिन्न कालों की सामाजिक,

राजनैतिक और धार्मिक आदि स्थितियों का प्रभाव उस देश के साहित्य पर पड़ता है।"[1] "इस अर्थ में साहित्य और संस्कृति परस्पर निकट हैं क्योंकि दोनों का उद्देश्य सत्य, शिव तथा सौंदर्य का समन्वय कर मनुष्य को उदात्त भूमिका पर प्रतिष्ठित करना है, सम्यक् दृष्टि प्रदान करना है।"[2]

"भारत के इस परिवर्तन के प्रभाव से जैन साहित्यकार अछूते नहीं रहे। वे भी यहां के निवासी थे और अपने पड़ौसियों से पृथक् नहीं रह सकते थे। जैन जगत में इस परिवर्तन की प्रक्रिया सर्वांगीण हुई।"[3] "सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक के काल में हिन्दी-जैन-साहित्य-गगन में ऐसे कवि नक्षत्रों का उदय हुआ, जिन्होंने अपनी भास्वर-प्रतिमा, ज्ञान-गरिमा एवं अनुराग-विरागात्मक संसार के अनुभवों द्वारा इस साहित्य को अक्षय-निधि से परिपूर्ण किया। महाकवि तुलसीदास, केशवदास, सुन्दरदास के समान इन कवियों ने भी अपनी साहित्य-सर्जना द्वारा एक नवीन सृष्टि उत्पन्न की जो भारतीय साहित्य की अक्षय-निधि है।"[4]

गद्य एवं पद्य दोनों दिशाओं में इन शताब्दियों में पर्याप्त साहित्य लिखा गया। कविवर बनारसीदास, रूपचन्द, द्यानतराय, भूधरदास, बुधजन, दौलतराम, भागचन्द जैसे कवि रत्नों ने इस काल में आत्मप्रभावक साहित्य द्वारा मानव समाज का वास्तविक दिशा निर्देशन किया।

"इस समय तक खंडन-मंडन एवं शास्त्रार्थों की कटुप्रथा से जनता घृणा करने लगी थी। उसे धर्म का आडम्बर युक्त रूप अत्यन्त खोखला प्रतीत होने लगा था। मानव अब अपने उद्धार का सरल, युक्ति-संगत एवं निर्विवाद मार्ग पाने के लिए छटपटा रहा था। निश्चय ही इन शताब्दियों में आध्यात्मिक संतों-कवियों ने अपना सम्पूर्ण जीवन, मानव-कल्याण की मौलिक समस्या के सुलझाने में लगा दिया। परिणामस्वरूप सच्चे आत्म-स्वरूप की ऐसी पावन स्रोतस्विनी प्रवाहित

---

१. डॉ० श्याम सुन्दरदास : हिन्दी साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० २५।

2. The purpose of culture is to inhence and intensity once-vision of that synthesis of truth and beauty which is the highest and deepest reality.
J C. Powys, the meaning of culture. Page 164.

३. जैन कामता प्रसाद : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ६३। प्र० संस्करण २४७३, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन।

४. जैन डॉ० रवीन्द्र कुमार : कविवर बनारसीदास जीवनी एवं कृतित्व, पृ० ७५ भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, १९६६।

हुई कि संपूर्ण भारत अपने पुरातन एवं बोझिल निर्भीक को शतखंडकर इसी में निमज्जित होने लगा।"[1]

जैन साहित्यकारों ने भारतीय साहित्य और संस्कृति की अपनी रचनाओं द्वारा अपूर्व सेवा की है। उन्होंने संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत और आधुनिक भारतीय भाषा में श्रेष्ठ रचनाएँ की। इतना ही नहीं, जैन साहित्यकारों ने दर्शन, धर्म और कला के क्षेत्र में भी अपनी कलम चलाई। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सभी क्षेत्रों में जैन विद्वानों एवं कवियों की रचनाएँ मिलती हैं। उनमें धर्म और राजनीति विषयक दृष्टिकोण की स्पष्ट छाप है। सौंदर्य, कल्पना और भाषा की दृष्टि से हिन्दी जैन साहित्य अनुपम है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में जैन साहित्य एवं साहित्यकारों का न्यूनाधिक रूप में उल्लेख मिलता है, पर भाषा और भाव-धारा की दृष्टि से उनका सही मूल्यांकन आज तक नहीं हो सका। इसका कारण संभवतः यही हो सकता है कि जैन कवियों की रचनाएं धर्म और उपदेश के तत्वों से परिपूर्ण हैं। परन्तु इस दृष्टिकोण से साहित्य रचना करना कोई बुरी बात नहीं है। इस सम्बन्ध में जैन आचार्य स्पष्ट करते हुए लिखते हैं :—

"वे ही कवि वास्तव में कवि हैं, वे ही विद्वान् हैं, जिनकी लेखनी से नैतिकता की बात लिखी जाय। वही कविता प्रशंसनीय है जो नैतिकता का बोध कराये। इनके अतिरिक्त जो रचनाएं की जाती हैं वे केवल पाप को ही बढ़ाने वाली हैं।"[2]

हिन्दी साहित्य के मध्य युग में भक्ति की धारा सबसे अधिक परिपुष्ट है। उसके सगुण-निर्गुण दो रूप हैं। जैन विचारधारा के कवियों ने भी अनेक भक्ति-विषयक रचनाएं की हैं, परन्तु उनका भावधारा की दृष्टि से अध्ययन नहीं हो सका है।

भक्तिकाल के पश्चात् भी भक्ति की धारा का प्रवाह सूखा नहीं। जैन साहित्य में तो भक्ति की धारा अजस्र रूप से भक्तिकाल के पश्चात् भी प्रवाहित

---

१. जैन, डॉ० रवीन्द्र कुमार : कविवर बनारसीदास जीवनी एवं कृतित्व पृ० ७५, प्र० संस्करण १९६६, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन।

२. त एव कवयो धीराः, त एव विचक्षणाः।
येषांधर्म कथांगत्वं, भारती प्रतिपद्यते॥
धर्मानुबंधिनी या स्यात्, कविता सैव शस्यते।
शेषाः पापाश्रवायैव, सुप्रयुक्तापि जायते॥
आचार्य जिनसेन : महापुराण प्र० पर्व : पद्य क्रमांक ६२–६३ भारतीय ज्ञान-पीठ काशी प्रकाशन : वि० सं० २०००, १९४४ ई०।

होती रही। इस काल की समस्त प्रवृत्तियां न्यूनाधिक रूप में जैन कवियों के पदों में उपलब्ध हैं। जैन कवियों ने लोक-प्रचलित कथाओं में भी स्वेच्छानुसार परिवर्तन कर सुन्दर काव्य रचनाएं की हैं।

मध्यकाल के प्रारम्भ में समाज और धर्म के बाह्यरूप संकीर्ण हो रहे थे। अतः जैन लेखकों ने अपने पुरातन कथानकों और लोकप्रिय परिचित कथानकों में जैनधर्म का पुट देकर अपने सिद्धान्तों के अनुकूल हिन्दी भाषा में काव्य लिखे। बाहरी, वेश-भूषा पाखंड आदि से समाज विकृत होता जा रहा था, अतएव अत्यन्त ओजस्वी वाणी में हिन्दी के जैन कवियों ने उनका खण्डन किया। यही वह समय था जब जैन कवि ब्रज और राजस्थानी में प्रबंधकाव्य और मुक्तक काव्यों की रचना करने में संलग्न रहे। इतना ही नहीं, जैन कवि मानव-जीवन की विभिन्न समस्याओं का समाधान करते हुए काव्य-रचना में प्रवृत्त रहे, धर्म-विशेष के कवियों द्वारा लिखा जाने पर भी जन-साधारण के लिये भी यह साहित्य पूर्णतया उपयोगी है। इसमें सुन्दर आत्म-पीयूष-रस छल-छलाता है और मानव की उन भावनाओं और अनुभूतियों को सहर्ष अभिव्यक्ति प्रदान की गई है, जिनसे समाज एवं व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

जैन कवियों ने मानव के अन्तर्जगत् के रहस्य के साथ बाह्य रूप से भी होने वाले संघर्षों, परिवर्तनों एवं पारस्परिक कलह तथा सामाजिक वितंडावादों का काव्यात्मक शैली में वर्णन किया। कविवर के युग में स्वाध्याय शालाओं के रूप में "सैलियों" का प्रचार था।

"उस समय समाज में धार्मिक अध्ययन के लिए आज के समान सुव्यवस्थित विद्यालय महाविद्यालय नहीं चलते थे। लोग स्वयं ही सैलियों के माध्यम से तत्व-ज्ञान प्राप्त करते थे। तत्कालीन समाज में जो आध्यात्मिक-चर्चा करने वाली दैनिक गोष्ठियां होती थीं, उन्हें ही सैली कहा जाता था। ये सैलियां सम्पूर्ण भारतवर्ष में यत्र-तत्र थीं। कविवर बनारसीदास जैसे कवि आगरा की अध्यात्म सैली के प्रमुख सदस्य थे।"[1] इसी तरह पं. टोडरमल, पं. जयचन्द छाबड़ा, कविवर बुधजन आदि प्रमुख विद्वान जयपुर की "सैली" में शिक्षित हुए थे।

इस प्रकार की आध्यात्मिक सैली के सम्बन्ध में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं :—

बीकानेर जैन लेख संग्रह में आध्यात्मी संप्रदाय का उल्लेख भी ध्यान देने योग्य है। वह आगरे के ज्ञानियों की मंडली थी, जिसे "सैली" कहते थे। ज्ञात होता है कि अकबर की दीने-इलाही प्रवृति भी इसी प्रकार की आध्यात्मिक खोज

---

१. जैन संदेश शोधांक : जून १९५७ पृष्ठ १३५।

का परिणाम थी। बनारस में भी आध्यात्मियों की "सैली" या मण्डली थी। किसी समय राजा टोडरमल के पुत्र गोवर्द्धनदास इसके मुखिया थे।

१८वीं और १९वीं शताब्दी में भैया भगवतीदास, द्यानतराय एवं बुधजन जैसे कवियों ने इस परम्परा का प्रतिनिधित्व किया। इस समय अध्यात्म प्रधान कवित्त, पद एवं बड़े-बड़े पुराणों के अनुवाद देशभाषा में बहुत ही अधिक संख्या में हुए। पं. दौलतराम ने गद्यानुवादों एवं विस्तृत-व्याख्याओं द्वारा साहित्य-जगत में एक नई दिशा का निर्देशन किया, इससे भाषा का सौंदर्य निखरा तथा प्राचीन कवियों के ग्रंथरत्नों का उचित मूल्यांकन हो सका। आगे चलकर पं. टोडरमलजी ने एवं जयचन्द जी छाबड़ा, कविवर बुधजन आदि विद्वानों ने पर्याप्त मात्रा में ग्रंथ प्रणयन् किया। ये केवल अनुवाद कर्त्ता ही न थे, सफल कवि भी थे। लेकिन वर्तमान २०वीं शताब्दी में अनुवादों की परम्परा क्षीण पड़ गई और कलाकार स्वतंत्र रचनाएं करने लगे।

२. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जैनाचार्यों और धर्मोपदेशकों की एक विशेषता यह भी रही है कि उन्होंने ग्रंथ रचना के लिए तत्कालीन प्रचलित लोकभाषा को ही माध्यम बनाया। यही कारण है कि जैन साहित्य, मागधी, अर्धमागधी, संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ आदि सभी प्रचलित भाषाओं में उपलब्ध होता है। ७वीं व ८वीं शती में जैन लेखकों ने प्राकृत और संस्कृत का पल्ला छोड़ दिया था और तत्कालीन लोक-प्रचलित अपभ्रंश भाषा में विचारों को सुरक्षित रखने का प्रयास किया था। ८वीं शताब्दी में स्वयंभू में कवि ने पद्मचरित (पउमचरिउ) तथा हरिवंश पुराण की रचना की। १० वीं शती में पुष्पदंत कवि ने महापुराण की रचना की। १२वीं शताब्दी में तथा १३वीं शताब्दी में योगसार, परमात्म प्रकाश आदि रचनाएं हुई। अपभ्रंश की ये रचनाएं पुरानी हिन्दी के अति निकट हैं। इस शताब्दी में विमलकीर्ति की रचनाएं भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

१४ वीं और १५ वीं शताब्दी में जैन कवियों ने ब्रज और राजस्थानी भाषा में "रासा" ग्रंथों की रचनाएं कीं। गौतमरासा, सप्तक्षेत्ररासा आदि इस काल की रचनाएं हैं। "मयण पराजय चरिउ" (भारतीय ज्ञान पीठ काशी से मुद्रित) इस काल की सुन्दर रचना है। १५ वीं और १६ वीं शती में ब्रह्म जिनदास ने आदि पुराण, श्रेणिक चरित्र आदि कई रचनाएं लिखीं। १७ वीं शताब्दी में पं. बनारसी दास, रूपचन्द आदि अनेक जैन कवियों एवं साहित्यकारों ने ब्रज और राजस्थानी भाषा में गद्य-पद्यात्मक रचनाएं लिखीं। १८ वीं और १९ वीं शताब्दी में भूधरदास, पं. टोडरमल, जयचन्द छाबड़ा, बुधजन, दौलतराम आदि अनेक कवियों एवं साहित्यकारों ने अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में निर्माण किया।

जयपुर के राजघरानों के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर स्पष्ट हो जाता है कि इन नरेशों ने जयपुर के इतिहास को बनाने में अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया था। वि. सं. १६७८ से १९७९ तक होने वाले जयपुर के राजवंश की तालिका इस प्रकार है :—

क्र०	शासन काल	शासक
१.	१६७८ से १७२४ तक	मिर्जा राजा जयसिंह-प्रथम
२.	१७२५ से १७४६ तक	महाराजा रामसिंह-प्रथम
३.	१७४७ से १७५६ तक	महाराजा विष्णुसिंहजी
४.	१७५७ से १८०० तक	सवाई जयसिंह द्वितीय
५.	१८०१ से १८०७ तक	सवाई ईश्वरसिंहजी
६.	१८०८ से १८२४ तक	सवाई माधोसिंह जी
७.	१८२५ से १८३३ तक	महाराजा पृथ्वीसिंह जी
८.	१८३४ से १८६० तक	महाराजा प्रतापसिंह जी
९.	१८६१ से १८७५ तक	महाराजा जगतसिंह जी
१०.	१८७६ से १८९२ तक	महाराजा जयसिंहजी (तृतीय)
११.	१८९३ से १९३७ तक	महाराजा रामसिंहजी (द्वितीय)
१२.	१९३८ से १९७९ तक	महाराजा माधोसिंहजी (द्वितीय)

कविवर बुधजन १९वीं शताब्दी के कवि थे। उन्होंने अपने जीवन काल में जयपुर में दो शासकों का शासन-काल देखा था, यह कवि की रचनाओं के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है। कवि ने "बुधजन सतसई" की रचना वि. सं. १८७९ में की थी। कवि की अन्तिम रचना बर्द्धमान पुराण सूचनिका है। इसका रचनाकाल वि. सं. १८९५ है। इस काल में महाराजा रामसिंहजी (द्वितीय) कुछ काल तक जयपुर के शासक रहे। दोनों ही शासकों का जयपुर के निर्माण में अभूतपूर्व योगदान रहा है। कविवर ने उक्त दोनों ही शासकों का अपनी रचनाओं में सादर उल्लेख किया है। जिस प्रकार जयपुर नगर को बसाने का सुयश महाराजा सवाई जयसिंह को है, उसी प्रकार जयपुर की सजावट तथा प्रजाहित के कार्यों की वृद्धि करने वाले महाराजा सवाई रामसिंह जी (द्वितीय) को दिया जा सकता है।

३. तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ

"बुधजन" १९ वीं शती के कवि थे। उस काल की सामाजिक परिस्थितियां अच्छी नहीं थीं। समाज-बाह्य आडंबरों और पाखण्डों से विकृत हो रहा था। जैन समाज दिगंबर-श्वेताम्बर ऐसे दो संप्रदायों में विभक्त था। श्वेताम्बर संप्रदाय के साधुओं को लज्जा-निवारण के लिए बहुत सादा वस्त्र रखने की छूट दी थी।

कालान्तर में उसमें शिथिलता आ गई। दिगम्बर-श्वेताम्बर प्रतिमाओं में कोई भेद न था। प्रायः दोनों ही नग्न प्रतिमाओं को पूजते थे, परन्तु भविष्य में किसी प्रकार का झगड़ा न हो इस दृष्टि से श्वेताम्बर संघ ने प्रतिमाओं के पाद-मूल में वस्त्र का चिन्ह बना दिया और कालान्तर में मूर्तियों को आँख, अंगी, मुकुट आदि द्वारा अलंकृत किया जाने लगा जो आज तक प्रचलित है।"[1]

"दिगम्बर सम्प्रदाय में भी शिथिलाचार प्रविष्ट हुआ। मठाधीश भट्टारकों का प्रभुत्व बढ़ने लगा। वे उद्दिष्ट भोजन करते थे। एक ही स्थान पर बहुत समय तक रहते थे, तेल मालिश करते थे, मंत्र-तंत्र आदि विद्याओं का उपयोग करते थे।"[2]

समाज में शिथिलाचार बढ़ रहा था। विद्वानों और साधुओं के बढ़ते शिथिलाचार को देखकर ही पं. आशाधरजी को लिखना पड़ा कि :—

"इस काल के भ्रष्टाचरणी पंडितों ने एवं मठाधिपति साधुओं ने (भट्टारकों ने) पवित्र जैन शासन को मलिन कर दिया है।"[3]

यह सामाजिक विकृति न केवल जैन सम्प्रदाय में ही उत्पन्न हुई थी, अपितु संपूर्ण भारतीय समाज को भी विकृत कर रही थी।

राजस्थान के इतिहास के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि "उस समय औरंगजेब का शासन काल था, जिसमें मुगल सत्ता उतार पर थी। मुगलों की पिछली संतान बहुत कुछ नष्ट हो चुकी थी। शिक्षा की कमी और असभ्य समाज के कारण उनका पतन हो गया था। असंयम तथा मद्यपान ने उन्हें अवनति के गर्त में फेंक दिया था। देश में स्थित प्रत्येक वर्ग के लोग, घोर अंधकार में पड़े हुए थे। निर्धन और धनवान प्रत्येक के जीवन का प्रत्येक कार्य ज्योतिष के अनुसार ही होता था।"[4]

उस समय राजस्थान के शासक भी निष्क्रिय थे। जयपुर के राजा सवाई जयसिंह ने अवश्य मुगलों के इस विघटन का लाभ उठाया, उन्होंने हिन्दू-प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया। परन्तु सवाई जयसिंह के पुत्र ईश्वरसिंह के शासनारूढ़ होते ही (१७४४–१७५०) विघटन प्रारम्भ हो गया। उसके पश्चात्

---

१. भारिल्ल डॉ. हुकमचन्द शास्त्री : पं. टोडरमल व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ. ६।

२. प्रेमी नाथूरामजी जैन साहित्य का इतिहास, पृ. ४६६ भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन।

३. पंडितैर्भ्रष्ट चारित्रैः बठरैश्चतपोधनैः। शासनं जिनचंद्रस्य, निर्मलंमलिनी कृतम् अनगार–धर्मामृतः अध्याय २/९६ टीका। पं. आशाधर-ग्रन्था पुस्तक माला का १६ वां पुष्प प्रका. मोहनलाल काव्यतीर्थ, सिवनी, सी. पी.।

४. डॉ. विश्वेश्वर प्रसाद डी. लिट् : भारतवर्ष का इतिहास, पृ. २२२

उनका अनुज माधोसिंह जयपुर का शासक बना, इन्हीं की परंपरा में सवाई जयसिंह (तृतीय) हुए। कविवर बुधजन इन्हीं के समय में हुए थे, क्योंकि कविवर बुधजन का समय वि. सं. १८३० से १८९५ तक निश्चित होता है। सवाई जयसिंह (तृतीय) का समय भी वि. संवत् १८७५ से १८९२ तक का है।

यद्यपि वह समय राजनैतिक अस्थिरता का था। जैन विद्वानों की विशेष रुचि धार्मिक विचारों से परिपूर्ण थी, तथापि राजनीति में भी जैनों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। बंगाल में मुर्शिदाबाद के जगत सेठ, दिल्ली के शाही खजांची हरसुखराय और सुगनचन्द, भरतपुर के नथमल बिलाला आदि उस काल के प्रसिद्ध व्यक्तियों में से थे। राजपूत राज्यों की राजनीति में भी उस काल के जैनों ने महत्वपूर्ण भाग लिया था। बुन्देलखण्ड में देवगढ़ का शासक जैन था जिससे सिंधिया का युद्ध हुआ था।

"जयपुर में मिर्जा राजा जयसिंह के समय में बल्लूशाह जैनी एक उच्च पद पर नियुक्त था, उसका पुत्र विमलदास राजा रामसिंह और विशनसिंह के समय में दीवान था, वह वीर योद्धा भी था, इसका पुत्र रामचन्द्र छाबड़ा, महाराजा सवाई जयसिंह (१७०१–४३) का दाहिना हाथ एवं प्रधान दीवान था, वह भी वीर योद्धा एवं कुशल सेनानी था। तदुपरान्त राव कृपाराम, शिवजीलाल, अमरचन्द आदि प्रसिद्ध दीवान जयपुर राज्य में हुए।"[1] दीवान अमरचन्द के सम्बन्ध में डॉ. ज्योतिप्रसाद का मत है कि दीवान अमरचन्द विद्वानों का भारी आश्रयदाता था, निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति देता था। स्वयं भी बड़ा विद्वान् और धर्मात्मा था। उसने अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण एवं ग्रन्थों की रचना भी कराई थी। राजा का सारा दोष अपने ऊपर लेकर और अपने प्राणों की बलि देकर अंग्रेजों के कोप से उसने जयपुर राज्य की रक्षा की थी। इस काल में जयपुर राज्य के जैन साहित्यकारों ने विशेषरूप से हिन्दी खड़ी बोली के गद्य का अभूतपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण विकास किया। जयपुर के विद्वानों का देश के अन्य प्रदेशों के जैन विद्वानों के साथ भी बराबर संपर्क रहता था। ग्रंथों की प्रतिलिपियां करने का एक विशाल कार्यालय भी इस काल में वहां स्थापित हुआ, जहां से ग्रन्थ भेजे जाते थे। अनेक जैन मंदिरों के अतिरिक्त जैन मूर्तिकला के निर्माण का भी केन्द्र जयपुर बना। केवल जयपुर नगर में ही उस काल में लगभग दस-बारह हजार जैनी थे।"[2]

कविवर बुधजन के समय में जयपुर में लगभग १५० जैन चैत्यालय थे। उनमें एक शांति जिनेश का मन्दिर बड़े मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था। वहां तेरापंथ

---

१. शर्मा पं. हनुमान प्रसाद, हितैषी पत्रिका, पृ० ८८ जयपुर प्रकाशन।
२. जैन, डॉ. ज्योति प्रसाद : भारतीय इतिहास एक दृष्टि, द्वितीय संस्करण पृष्ठ ५९३।

की अध्यात्म शैला चलती थी अर्थात् वहां प्रतिदिन एक गोष्ठी होती थी। उसमें अध्यात्म चर्चा और पठन-पाठन ही प्रमुख था। गोष्ठी में नाटक त्रय सदैव पढ़े जाते थे, यह क्रम प्रातः और संध्या दोनों समय चलता था। सभी श्रोता तत्वज्ञान के जानकार होते थे। बुधजन भी उनमें से एक थे। कवि की लगन विशेष थी, अतः उन्हें शास्त्रों का अच्छा ज्ञान हो गया था। उस समय टीकाएं और वचनिकाएं ढूंढारी हिन्दी में लिखी जाती थीं। टीका में मूलग्रंथ के विचार और शब्दों का अनुवाद भर होता था। टीकाकार अपनी ओर से कुछ घटाने या बढ़ाने को स्वतन्त्र नहीं था। वचनिका में अनुवाद के साथ ही साथ, साथ में विश्लेषण भी रहता था। वहां वचनिकाकार अपना मत भी स्थापित कर सकता था।

४. लोक-परम्परा

लोक में प्रचलित परम्परा को लोक-परम्परा कहते हैं। लोक-साहित्य में ये परम्पराएं आज भी सुरक्षित हैं। लोक-प्रिय हैं। लोक-साहित्य में लोक-गीतों की प्रमुखता है। ये लोक-गीत स्त्रियों को बहुत प्रिय हैं। होली, विवाह, वियोग संस्कार, बनड़ा, बाना बैठना, बड़ा विनायक, चाक पूजना, धार्मिक गीत, सती गीत, भांवरे, विदाई आदि अवसरों पर स्त्रियां लोक-परम्परागत लोक-गीत गाती रहती हैं।

"लोक भाषाओं में अनेक गीतों, वीर गाथाओं, प्रेमगाथाओं तथा लोकोक्तियों आदि की भी भरमार है। यह सामग्री अधिकांश में अभी तक अप्रकाशित है। लोक कथा और लोक कथानकों का साहित्य साधारण जनता के अन्तस्तर की अनुभूतियों का प्रत्यक्ष निदर्शन है।"[1]

लोक भाषा में हमारी लोक-परम्परा दीर्घकाल से सुरक्षित है। सिद्ध लोगों ने उस समय लोक भाषा में कविता प्रारम्भ की। जिस समय शताब्दियों से भारत के सभी धर्म वाले किसी न किसी शास्त्रीय भाषा द्वारा अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे और इसी कारण उनके धर्म के जानने वाले बहुत थोड़े हुआ करते थे। सिद्धों के ऐसा करने के कारण थे, वे आचार, धर्म-दर्शन आदि सभी विषयों में एक क्रान्तिकारी विचार रखते थे। वह सभी अच्छी-बुरी रूढ़ियों को उखाड़ फेंकना चाहते थे।

"जैन विद्वानों ने लोक रुचि और लोक-साहित्य की कभी उपेक्षा नहीं की। जन-साधारण के निकट तक पहुंचने और उनमें अपने विचारों का प्रचार करने के

---

१. राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास, षोडश भाग पृ. ५, वि. सं. २०१७।

लिए वे लोक भाषाओं का आश्रय लेने से भी कभी नहीं चूके। यही कारण है कि उन्होंने सभी प्रान्तों की भाषाओं को अपनी रचनाओं में समृद्ध किया है। अपभ्रंश भाषा द्रविड़ प्रान्तों और कर्नाटक को छोड़कर प्रायः सारे भारत में थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ अपनी जाती थी, अतएव इस भाषा में भी जैन कवि विशाल साहित्य का निर्माण कर गये हैं।"[1]

सिद्धों, जैनियों और नाथ गुरुओं ने वेद शास्त्र, तीर्थ सेवन, बाह्याचार एवं जन्मगत उच्चता के विरोध में जो तीव्र व्यंग किये हैं, लगभग इसी शैली और इसी तीव्रता के साथ आगे चलकर संत-कवियों ने किये।

अन्य सन्तों की भाँति कविवर बुधजन ने भी बाह्य-आडंबरों का खण्डन किया, सर्व-सुलभ भक्ति मार्ग का प्रचार किया। बाह्य कर्मकाण्ड की अपेक्षा वे भी आन्तरिक तन्मयता मूलक भावना को प्रश्रय देते थे। कवि की सबसे बड़ी विशेषता उनकी सर्वतोन्मुखी व्यापकता थी जिसमें धनी-निर्धन, सवर्ण-असवर्ण, गृहस्थ-विरक्त तथा ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक का स्थान था। धर्म का द्वार, स्त्री-पुरुष सभी के लिए समान भाव से खुला हुआ था। किसी प्राचीन परम्परा के बन्धन में न बंधकर अपनी वैयक्तिक अनुभूति एवं स्वतन्त्र पद्धति से अपने समय की सामाजिक विकृतियों को सुधारने की चेष्टा करते रहे। उन्होंने बड़े विश्वस्त भाव से कहा—कि हमें आत्म-स्वरूप का अन्वेषण करने के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। सत्य के श्रेष्ठतम प्रतिष्ठान हमारी आत्मा में ही विद्यमान हैं। जैसे मृगनाभि में कस्तूरी है वैसे ही प्रयत्न पूर्वक खोज करने पर वह दुर्लभ वस्तु (आत्मा में ही) स्फुरित हो जाती है। उन्होंने स्वसंवेद्य ज्ञान को प्रधानता दी। उनकी आध्यात्मिक-चेतना, शास्त्रीयता से परे, जीवन के प्रति सहज, व्यापक और उदार-दृष्टिकोण से ओत-प्रोत है। वह न तो ग्रहण की पक्षपातिनी है और न त्याग की विरोधिनी।

जीवन के साधारण कार्य-व्यापारों के प्रति वह एक सुसंगत, संतुलन खोजकर तद्वत् आचरण करने पर विशेष बल देती है। उन्होंने वह भूमिका तैयार की जो जन-सामान्य के आत्म-विकास का निर्माण करती है। प्रत्येक व्यक्ति में आध्यात्मिक तत्त्व का होना उन्हें स्वीकार है। व्यक्तिगत-चिंतन के द्वारा परमतत्त्व (आत्मा) के चरम सौंदर्य का साक्षात्कार होना उनकी दृष्टि से असम्भव नहीं है।

५. खड़ी बोली की परम्परा तथा विकास

कविवर बुधजन ने जिस ढूंढारी भाषा (लोक भाषा) का अपनी साहित्यिक रचनाओं में प्रयोग किया है वह हिन्दी भाषा के अत्यन्त निकट है। केवल उसके

---

१. जैन कामता प्रसाद : हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १०, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन।

क्रिया पदों में सामान्य-सा परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इस सामान्य से परिवर्तन से वह खड़ी बोली का (हिन्दी का) शुद्ध रूप प्रतीत होने लगता है।

जिस हिन्दी भाषा का आज हम प्रयोग करते हैं उसका स्रोत अपभ्रंश भाषा है। अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के बिना हम हिन्दी भाषा एवं तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक विकास क्रम को समझ ही नहीं सकते। स्मरणीय है कि अधिकतर अपभ्रंश साहित्य जैन साहित्य है। जैन धर्मोपदेष्टा जन-जन तक धार्मिक विचारधारा को लोक भाषा में पहुंचाना चाहते थे। उस काल में अपभ्रंश भाषा लोक भाषा थी, अतः उन्होंने इस भाषा को धर्मोपदेश के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना।

अपभ्रंश भाषा के सम्बन्ध में डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं :—

"हिन्दी की काव्यधारा का मूल विकास सोलह आने अपभ्रंश काव्यधारा में अन्तर्निहित है, अतः हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक क्षेत्र में अपभ्रंश भाषा को सम्मिलित किये बिना हिन्दी का विकास समझ में आना असम्भव है। भाषा, भाव शैली तीनों दृष्टियों से अपभ्रंश भाषा का साहित्य हिन्दी भाषा का अभिन्न अंग समझा जाना चाहिये।"

दंडी ने अपने काव्यादर्श में इस बात का उल्लेख किया है कि यह अपभ्रंश भाषा आभीर आदिकों की बोली है।

"आभीरादिक गिरः काव्येष्वपभ्रंश इतिस्मृताः" इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अपभ्रंश भाषा आभीर आदिकों की बोली है और इसमें काव्य-रचना भी होती थी।

अपभ्रंश में काव्य-रचना लगभग ७वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। ७वीं से ११वीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा प्रचलित रही एवं उसमें साहित्य-रचना होती रही। जैन साहित्यकारों ने भारतीय प्रादेशिक भाषाओं में साहित्यिक रचनाएं की हैं क्योंकि सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया को उन्होंने सदैव स्वीकार किया था। बंगला, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, मलयालम आदि प्रादेशिक भाषाओं में लिखा गया जैन साहित्य इस बात का प्रमाण है।

कविवर बुधजन की भाषा पर राजस्थानी का प्रभाव है। उनके पदों में राजस्थानी प्रवाह और प्रभाव दोनों ही विद्यमान हैं। एक उदाहरण देखिये :—

"मैं देखा आतमरामा ।। टेक ।।
रूप फरस रस गंध तें न्यारा, दरस ज्ञान गुनधामा।
नित्य निरंजन जाके नाहीं, क्रोधलोभ मद कामा ।।"[1]

---

१. बुधजन : बुधजन विलास, पद्य क्रमांक ६१, जिनवाणी प्रचारक कार्या, १६१/१ हरीसन रोड, कलकत्ता।

एक और उदाहरण देखिये :—

"भजन बिन यों ही जनम गमायो ।। टेक ।।
पानी पेल्यां पाल न बांधी, फिर पीछे पछतायो ।
रामा मोह भये दिन खोवत, आशा पाश बंधायो ।।
जपतप संजम दान न दीनो, मानुष जनम हरायो ।।"[1]

तमिल भाषा के प्रमुख महाकाव्यों में से "चितामणि" तथा "सीलापदिकरम्" जैन लेखकों की कृतियां हैं। प्रसिद्ध "नलदियर" का मूल भी जैन है। कहाकवि राहुल सांकृत्यायन की खोज के अनुसार भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी में प्राप्त सर्वप्रथम प्राचीन ग्रंथ "स्वयंभू रामायण" है जो स्वयंभू नामक जैन कवि की रचना है।

कविवर बनारसीदास जैन द्वारा विक्रम की १७वीं शताब्दी में लिखित छन्दोबद्ध "आत्मकथा" हिन्दी साहित्य की प्रथम आत्मकथा है, जो आज भी महत्त्व-पूर्ण मानी जाती है।

हिन्दी में जैन लेखकों ने विविध छन्द व अलंकारयुक्त रचनाएं करके साहित्य की समृद्धि में बड़ा योग दिया है। जैन धर्म में त्याग तथा आत्म-कल्याण का विशेष महत्त्व होने से उनकी रचनाओं में इन बातों का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि कवियों एवं लेखकों ने धर्म प्रचारार्थ रचनाएं की हैं, तथापि हिन्दी साहित्य के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

अपभ्रंश से हिन्दी का विकास होने से विकास की प्रथमावस्था में भी उसमें जैन सिद्धान्तों का समावेश हुआ। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से एवं हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक विकास की दृष्टि से जैन साहित्य का बहुत महत्त्व है। प्राचीन हिन्दी का जो ऐतिहासिक रूप हमें उपलब्ध है, वह भी जैन विद्वानों की ही देन है। जैन विद्वानों ने लोक रुचि का समादर करते हुए कुछ ऐसी रचनाएं मानव-समाज को दी हैं, जिनका सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

हिन्दी जैन साहित्य में कुछ ऐसी सर्वोपयोगी साहित्यिक रचनाएं हैं, जो संसार के साहित्य में बेजोड़ हैं और उनके कारण लोक-साहित्य में हिन्दी का मस्तक ऊंचा हुआ है।

सारांश यह है कि "जैन साहित्य के अध्ययन के बिना हिन्दी साहित्य का अध्ययन अपूर्ण रहेगा। काव्य के दोनों पक्षों में जैन कवियों ने अपनी काव्य प्रतिभा दिखाई है। जैन साहित्य संपूर्ण रूप से शान्त-रस में लिखा गया है। हिन्दी गद्य के निर्माण का आरम्भ भी इसी युग से माना जाता है। गद्य चितामणि तिलक-मंजरी आदि सुन्दर गद्य रचनाएं इस काल में लिखी गई।"[2]

---

१. बुधजन : बुधजन विलास, पद्य क्रमांक ६३, जिनवाणी प्रचारक कार्या., १६१/१ हरीसन रोड, कलकत्ता।
२. अहिंसावाणी : वर्ष ६, अंक ६, जून १६५६।

६. साहित्य-सर्जन

"संसार में कवि और लेखक तो बहुत होते हैं पर वास्तव में उन्हीं का जीवन सफल है जिन्होंने आध्यात्मिक रचनाएं करके अपनी कवित्व शक्ति का उपयोग स्व-पर कल्याण के लिये किया। बुधजन ऐसे ही कवि थे, जिन्होंने अपनी काव्य प्रतिभा का उपयोग स्व-पर कल्याण के लिए किया।"[1]

भारतीय साहित्य का मध्यकाल काव्य सृजन की दृष्टि से महत्त्व का माना गया है। इस युग में जैन कवियों ने जो भी लिखा वह मात्र "कला के लिए कला" का प्रयोजन नहीं था, वरन् उसमें तत्कालीन जन-जीवन स्पंदित था।

इन कवियों ने कवि दृष्टि के साथ-साथ संस्कृति, नीति और धर्म को भी अपने काव्य की प्रमुख भूमि बनायी और ऐसा साहित्य लिखा, जिसने जन-जीवन को ऊंचा उठाया और श्रमण संस्कृति की निर्मलताओं को उजागर किया।

हिन्दी के जैन कवियों की रचनाओं ने हमारे जीवन को प्रतिक्षण नया उत्थान दिया है। हमारे लोक जीवन को आध्यात्मिक ऊंचाई प्रदान की है। मानव को पशुता से मनुष्यता की ओर ले जाना ही उनका लक्ष्य रहा है।

हिन्दी के जैन कवियों ने अपनी रचनाओं में वर्णिक व मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। वर्णिक छन्दों का प्रयोग, अधिकांशतया संस्कृत की अनूदित कृतियों में और मात्रिक छन्दों का प्रयोग मौलिक कृतियों में किया जाता है। कवि की रचनाओं में यथा स्थान मुहावरों एवं लोकोक्तियों के सुन्दर प्रयोग हुए हैं।

बुधजन की रचनाएं प्रसाद गुण युक्त हैं। इस युग के सभी जैन कवियों ने खड़ी बोली का प्रयोग किया है। उनकी भाषा पर फारसी का स्पष्ट प्रभाव है। फारसी, ब्रज एवं राजस्थानी के शब्दों के तत्सम और तद्भव दोनों रूपों में प्रयोग मिलते हैं।

बुधजन सदृश जैन साहित्यकारों ने साहित्य-सर्जना करते समय जन-साधारण की भाषा प्राकृत अपभ्रंश, हिन्दी आदि को अपनाया क्योंकि उनका उद्देश्य चमत्कार एवं चातुर्य प्रदर्शन न होकर जन-मानस में जीवन के प्रति धर्ममय लगन को जागृत करना था।

---

१. त एव कवयो धीराः त एव विचक्षणाः।
येषां धर्म कथांगत्वं, भारती प्रतिपद्यते॥
आचार्य जिनसेन महापुराण, अध्याय–१ पद्य ६२–६३, पृ. ५, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वि. सं. २०००।

जैन साहित्य में मुख्यतः अहिंसा सिद्धान्त की अभिव्यक्ति हुई है। उसमें लोक-जीवन के स्वाभाविक चित्र अंकित हैं। उसमें सुन्दर आत्म-पीयूष-रस छल-छलाता है। धर्म विशेष का साहित्य होते हुए भी उदारता की कमी नहीं है। मानव स्वावलंबी कैसे बने, इसका रहस्योदघाटन इसमें किया गया है। तत्त्व-चिंतन और जीवन-शोधन ये दो जैन साहित्य के मूलाधार हैं।

जीवन-शोधन (आत्म-शोधन) में सम्यक् श्रद्धा, सम्यक ज्ञान तथा सदाचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन सदाचार, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप हैं।

प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रत्येक आत्मा राग-द्वेष एवं कर्ममल से अशुद्ध है। वह पुरुषार्थ से शुद्ध हो सकती है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की क्षमता रखती है। जैन दर्शन निवृत्ति प्रधान है। रत्नत्रय ही निवृत्ति मार्ग है। सात तत्त्वों की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। आत्मा की तीन अवस्थाएं हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। विचारों को अहिंसक बनाने के लिए अनेकान्त का आश्रय आवश्यक है।

हिन्दी भाषा का जो रूप गांधीजी चाहते थे, वह इन जैन कवियों की रचनाओं में उपलब्ध होता है। परन्तु साधु संप्रदाय में पले इन कवियों की भाषा संस्कृत निष्ठ थी। जैन कवियों ने अनेकों महाकाव्य भी लिखे, मुक्तक काव्य भी लिखे। उनकी मुक्तक कृतियां उत्तम काव्य की निदर्शन है।

वि. सं. १८००–१९०० तक जो भक्ति परक रचनाएं हुई, उन पर रीति-काल का प्रभाव था। उनकी भाषा में भी अलंकारों की भरमार थी।

जैन कवियों की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण थी। उन्होंने अनेक नये छन्द, नई राग-रागिनियों में प्रयुक्त किये। अलंकारों के प्रयोग में वे मर्यादाशील बने रहे। भक्ति-काव्य का कोई अंश-अलंकारों के कारण अपनी स्वाभाविकता न खो सका।

अनेक जैन कवि प्रकृति के प्रांगण में पले और वही उनका साधना क्षेत्र बना। अतः वे प्रकृति चित्रण भी स्वाभाविक ढंग से कर सके।

साहित्य-सर्जन की दृष्टि से उत्तर भारत में इस काल में जैनों के प्रमुख केन्द्र गुजरात, दिल्ली और जयपुर थे। इन केन्द्रों पर संस्कृत, हिन्दी, गुजराती राजस्थानी आदि भाषाओं में साहित्य सृजन चलता रहा किन्तु उसमें गद्य एवं पद्य के हिन्दी साहित्य की ही बहुलता रही। उसकी रचना में जयपुर केन्द्र सर्वाग्रणी रहा। यं भी राजस्थानी साहित्य प्रेरणा और शक्ति का साहित्य रहा है।

इस काल में लगभग ५०–६० जैन कवियों एवं साहित्यकारों के नाम मिलते हैं, जिनमे निम्न लिखित साहित्यकार उल्लेखनीय हैं :—

"दौलतराम, बुधजन, [illegible] जयचन्द छाबड़ा, [illegible], लालचन्द, देवदत्त, वृन्दावन, देवचन्द, चन्द्रसागर, रंगविजय, क्षमाकल्याण, नयनसुखदास आदि।"[1]

जैन साहित्य को प्रकाश में लाने का श्रेय पाश्चात्य विद्वान, डॉ. हर्मन जैकोबी, डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, पं. जुगल किशोर मुख्तार, नाथूराम प्रेमी, डॉ. कामता प्रसाद जैन, डॉ. नेमीचन्द शास्त्री, पं. परमानन्द शास्त्री, अगरचन्द नाहटा, प्रभृति विद्वानों एवं वर्तमान में डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, पं. कैलाश चन्द शास्त्री, डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन प्रभृति विद्वानों को है, जिन्होंने जैन धर्म का अध्ययन कर उसके साहित्य को खोज निकाला।

यद्यपि जैन कवियों एवं लेखकों ने धर्म प्रचारार्थ ही लिखा है तथापि हिन्दी साहित्य के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। जैन लेखकों ने साहित्य-निर्माण करते समय लोक भाषाओं को अपनाया। अपभ्रंश भाषाओं को भी जैन कवियों ने अपनाया क्योंकि जैन लेखकों ने साहित्य सर्जना करते समय जन-साधारण की भाषा का पूर्ण ध्यान रखा। यही कारण है कि अधिकांश जैन साहित्य अपभ्रंश भाषा में लिखा गया, क्योंकि उनका उद्देश्य चमत्कार एवं चातुर्य प्रदर्शन न होकर जन-मानस में जीवन के प्रति धर्ममय लगन को जागृत करना था।

अपभ्रंश से हिन्दी का विकास होने से हिन्दी विकास की प्रथमावस्था में भी उच्च कोटि के प्रबंधकाव्यों की रचनाएं हुई। अतएव भाषा विज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, वरन् हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक विकास की दृष्टि से भी जैन साहित्य का बहुत महत्त्व है।

प्राचीन हिन्दी का जो ऐतिहासिक रूप हमें उपलब्ध है वह जैन विद्वानों की ही देन है। उन्होंने लोक रुचि का समादर करते हुए कुछ ऐसी रचनाएं मानव समाज को दी हैं, जिनका सांस्कृतिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

कविवर बुधजन ने साहित्य रचनाकर भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है। डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री लिखते हैं, "प्रत्येक देश और जाति के मूल संस्कार उसकी अपनी भाषा, साहित्य तथा संस्कृति में निहित रहते हैं। जातीय जीवन, लोक परम्परा एवं सामाजिक रीति-नीतियों के अध्ययन से हमें उनकी पूरी जानकारी मिलती है। अतएव भाषा और साहित्य का प्रत्येक अंग लोक-मानस की अभिव्यक्ति का ही लिपिबद्ध स्वर होता है।"[2] कवि का सम्पूर्ण साहित्य नैतिक मूल्यों की महत्ता का प्रतिपादक है। कहीं भी विषय आसक्ति को महत्त्व नहीं दिया है।

---

१. जैन, डॉ. ज्योति प्रसाद : भारतीय इतिहास एक दृष्टि, पृष्ठ ५९२, द्वितीय संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

२. डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री : अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, पृ. १, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन।

द्वितीय खण्ड

१—जीवन-परिचय

कविवर बुधजन का पूरा नाम विरधीचन्द था। कुछ लोग प्रेमपूर्वक उन्हें बुद्धिचन्द या भदीचन्द भी कहते थे।[1] वे जयपुर (राजस्थान) के निवासी थे। खण्डेवाल जाति में उनका जन्म हुआ था। उनका गोत्र बज था।

काव्य-प्रतिभा उनमें बचपन से ही थी। वे गंभीर प्रकृति के आध्यात्मिक पुरुष थे। संसार से उदास, निरभिमानी, विवेकी, अध्ययनशील, प्रतिभावान, दृढ़श्रद्धानी, आत्मानुभवी, श्रावकोचित नियमों के पालक, परोपकारी एवं सरल-स्वभावी संत-पुरुष थे। उनका जीवन आध्यात्मिक था। समकालीन विद्वान पं. दौलतराम ने अपनी प्रसिद्ध कृति "छहढाला" में उनका आदर पूर्वक स्मरण किया है।[2]

जन्म तिथि :

कविवर बुधजन की जन्मतिथि के बारे में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि उनकी अपनी कृतियों से तथा समकालीन विद्वानों के उल्लेख से कवि का जन्म संवत् १८२० के आसपास निश्चित होता है।

जन्म स्थान :

कविवर बुधजन की जन्म तिथि के समान जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, केवल इतना ही उल्लेख मिलता है कि कवि के

---

१. ठारा से पैंतीस को साल चौथ शनिवार।
चैतजन्म जयमाल को, भदीचन्द हितकार॥
बुधजन विलास (हस्तलिखित प्रति) की जयमाला शीर्षक रचना से।

२. इकनव वसु इक वर्ष की, तीज शुकल वैशाख।
करयो तत्त्व उपदेश यह, लखि बुधजन की भाख॥
दौलतराम छहढाला अध्याय ६, पद्य संख्या १६, तेरहवां संस्करण, सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, उदयपुर।

पूर्वज आमेर में रहते थे, जो जयपुर के पूर्व ढूंढाड़ राज्य की राजधानी थी। वहां से वे सांगानेर जा बसे, परन्तु जीवन-निर्वाह में कठिनाई का अनुभव होने से वे जयपुर जाकर रहने लगे, वहीं संवत् १८२० के आसपास उनका जन्म हुआ।

मृत्यु तिथि :

कविवर बुधजन की मृत्यु-तिथि का भी कहीं कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ। उनकी अंतिम रचनाएं वर्धमान पुराण सूचनिका एवं योगसार भाषा हैं, जिनकी रचना वि. सं. १८९५ में हुई। अतः यह निश्चित है कि कवि की मृत्यु वि. सं. १८९५ के पश्चात् ही हुई होगी।

साहित्य सेवा :

उनका जीवन, चिन्तन और साहित्य-साधना के लिए समर्पित जीवन था। वे सभी प्रकार के भौतिक द्वन्द्वों से परे थे। सदैव आत्म-साधना व साहित्य-साधना में निरत रहते थे। राजनैतिक व सामाजिक विवादों से परे रहकर श्रावक धर्म का पालन करते थे। उनका कार्यक्षेत्र व अध्ययन क्षेत्र जयपुर था।

"साहित्य-प्रेम उन्हें बचपन से ही था। वे बचपन से ही कविताएं किया करते थे। उन्होंने अपने उस साहित्य प्रेम को अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक निभाया। वे सदा साहित्य-चिंतन में लीन रहा करते थे, पर आज हमें उनके जीवन की रूपरेखा भली-भाँति ज्ञात नहीं है।"[1]

कविवर बुधजन अध्यात्म-शैली के सदस्य थे। शैली गोष्ठी को कहते हैं, जो हिन्दी जैन साहित्य के निर्माण-केन्द्र थे। आगरा, अजमेर, ग्वालियर, जयपुर, दिल्ली आदि केन्द्रों पर १८वीं और १९वीं शताब्दी में हिन्दी-जैन-साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का प्रणयन उक्त केन्द्रों पर होता रहा है।

"बुधजन कवि के जीवन के २०० वर्ष पूर्व आगरे में एक गोष्ठी थी, जिसमें निरन्तर आध्यात्मिक चर्चाएं होती थीं। कविवर बनारसीदास जी उसके प्रमुख सदस्य थे। इस गोष्ठी के माध्यम से ही उन्होंने शिक्षा पाई तथा कवि व पंडित बने।"[2] इस मण्डली के अन्य प्रमुख विद्वान थे—"पं. रूपचन्द पांडेय, जगजीवन, धर्मदास, कुंवरपाल, कवि सालिवाहन, नंदकवि, हीरानन्द, बुलाकीदास, भैया भगवतीदास, जगतराम, भूधरदास, नथमल बिलाला आदि।"[3]

---

१. कवि बुधजन : बुधजन सतसई, प्रशस्ति पृष्ठ ५, संपादक नाथूरामजी प्रेमी हि. सा. का. सं. इति. हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई प्रकाशन।

२. जैन डॉ. प्रेमसागर : हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि पृ. १७, प्र. संस्करण १९६४ भारतीय ज्ञान पीठ काशी प्रकाशन।

३. देखिये हीरानन्द कृत समवसरण विधान।

इसी प्रकार दिल्ली में भी एक गोष्ठी थी, जो सुखानन्द की सैली कहलाती थी। कविवर द्यानतरायजी ने इस गोष्ठी के माध्यम से अपनी काव्य-शक्ति बढ़ाई। जयपुर में तेरापंथी सैली थी, जिसके पं. टोडरमलजी आदि अनेक सुप्रसिद्ध विद्वान सदस्य रहे थे। कविवर बुधजन ने इसी सैली के माध्यम से अपनी काव्य-प्रतिभा को विकसित किया और उच्चकोटि के सुकवि बन गये।

साहित्य-सृजन की दृष्टि से उत्तर भारत में उस काल में जैनों के प्रमुख केन्द्र गुजरात, दिल्ली, आगरा और जयपुर थे। संस्कृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं में साहित्य-सृजन चलता रहा। किन्तु उसमें गद्य एवं पद्य के हिन्दी साहित्य की ही बहुलता रही और उसकी रचना में जयपुर केन्द्र सर्वाग्रणी रहा। इस डेढ़ सौ वर्ष के अराजकता काल में लगभग ५०-६० जैन कवियों एवं साहित्यकारों के नाम मिलते हैं, जिनमें लगभग एक दर्जन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं।

कविवर बुधजन के समय में आचार्यकल्प पं. टोडरमल की विशेष ख्याति थी। उनकी अपूर्व साहित्यिक सेवाओं के कारण जयपुर भारत का प्रसिद्ध साहित्यिक केन्द्र बन चुका था, अतः कविवर बुधजन भी स्वतः उधर मुड़ गये। यद्यपि कविवर बुधजन ने अपने विषय में विशेष कुछ नहीं लिखा है, किन्तु "बुधजन सतसई" की अंतिम प्रशस्ति से संकेत मिलता है कि "जिस प्रकार नायकों के मध्य में सरपंच होता है उसी प्रकार ढूंढार प्रदेश के मध्य में जयपुर नगर था। वहां का राजा जयसिंह था जो इन्द्र के समान था और वह प्रजा का हित करने वाला था।"[1]

राजस्थान राज्य का इतिहास देखने से ज्ञात होता है कि कविवर बुधजन ने अपनी प्रसिद्ध कृति "**बुधजन सतसई**" में जिस जयपुर के शासक सवाई जयसिंह का नामोल्लेख किया है वह सवाई जयसिंह तृतीय थे। उनका शासन काल १८७६ से १८९२ तक था कवि का जीवन काल भी वि. सं. १८२० से १८९५ तक का रहा है। कवि की रचनाएं भी वि. सं. १८३५ से १८९५ तक की उपलब्ध हैं। अतः स्पष्ट है कि कवि ने सवाई जयसिंह की जो प्रशंसा की है वह सही है, क्योंकि कवि के समय में (सवाई जयसिंह) तृतीय जयपुर के शासक थे।

२. अनुश्रुति एवं वंश परिचय

कविवर बुधजन के पूर्वज पहले आमेर में रहते थे, जो जयपुर के पूर्व राजस्थान की राजधानी थी। वहां जब जीवन-निर्वाह में कठिनाई होने लगी, तो वे

---

१. मधिनायक सरपंच ज्यों, जैपुर मधि ढूंढार।
नृप जयसिंह सुरिंद तहं, पिरजा को हितकार॥
कवि बुधजन : बुधजन सतसई : अन्तिम प्रशस्ति पृ. ५२ संपादक पं. नाथूरामजी प्रेमी हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

सांगानेर जा बसे, वहां भी जब जीवन-निर्वाह में कठिनाई होने लगी, तो इनके बाबा पूरनमलजी जयपुर आकर रहने लगे। इनके पिता का नाम निहालचन्द जी था। धार्मिक प्रवृत्तिमय दैनिक षट्कर्म आपकी नित्यचर्या के विशेष अंग थे। वे पवित्र-जीवन निर्वाह करने में दत्तचित्त रहते थे। इन्हीं के घर कवि ने संवत् १८२० के आस-पास जन्म लिया।

"शैशवकाल व्यतीत होने पर, विद्याध्ययन के लिए आपने गुरुचरणों का आश्रय लिया। आपके विद्यागुरु पं. मांगीलालजी ने आपको बड़ी ही तत्परता से पढ़ाया।"[1]

"बुधजन" प्रत्युत्पन्न मति थे। अतः अल्प समय में ही उन्होंने पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। उन दिनों आज जैसे विश्वविद्यालय नहीं थे। शिक्षा का विशेष प्रचार नहीं था। सैलियों के माध्यम से ही विद्याध्ययन करने की परम्परा थी। कविवर बुधजन का अधिकांश जीवन ढूंढार प्रदेश में बीता। पवित्र जीवन-निर्वाह के लिए दीवान अमरचन्दजी के यहां प्रधान मुनीम के पद पर कार्य करते थे। ये अपने पिता की तृतीय संतान थे।

आजीविका संचालन हेतु उन्होंने और क्या किया इसका उल्लेख कहीं से भी प्राप्त नहीं हो सका। पं. टोडरमलजी ने जिस तेरापंथ परम्परा को दृढ़ बनाया, बुधजन भी उसी परम्परा के प्रबल समर्थक थे।

प्रयत्न करने पर भी कवि की जन्म व मृत्यु तिथि का प्रामाणिक परिचय प्राप्त न हो सका। उनके जन्म स्थान व वंश-परम्परा का भी यथेष्ट परिचय अप्राप्त ही रहा। संतान पक्ष एवं पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में प्रयत्न करने पर भी विशेष जानकारी प्राप्त न हो सकी। कवि की रचनाएं ही उनका वास्तविक परिचय है। उन्होंने अपनी रचनाओं में मां शारदा को अश्लील, भौतिक शृंगार की बातों से कभी कलंकित नहीं किया।

सुना जाता है कि कवि के जीवनकाल में जयपुर में १०० जैन मन्दिर थे। उनमें एक शांति जिनेश का मन्दिर बड़े मंदिर के नाम से प्रसिद्ध था। वहां तेरापंथ की अध्यात्म-शैली चलती थी अर्थात् वहां प्रतिदिन गोष्ठी होती थी। उसमें अध्यात्म-चर्चा और पठन-पाठन ही प्रमुख था। गोष्ठी में नाटकत्रय सदैव पढ़े जाते थे। उनके अतिरिक्त और किसी ग्रंथ का पठन-पाठन नहीं होता था। नाटकत्रय आज भी अध्यात्म के प्राण हैं। पठन-पाठन का यह क्रम प्रातः और संध्या दोनों समय चलता था। परिणाम यह हुआ कि श्रोता तत्त्वज्ञान के जानकार हो गये।[2]

---

१. कविवर बुधजन : तत्त्वार्थबोध की भूमिका प्रकाशन कन्हैयालाल गंगवाल, सर्राफा बाजार, लश्कर।

२. अनेकांत वर्ष १९, किरण ६, पृ० ३५३, फरवरी १९६७, वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, दिल्ली।

"पं. नाथूराम जी प्रेमी के अनुसार कवि का वंश परिचय निम्न प्रकार है"[1] :—

शोभाचन्द्र जी
|
पूरणमल जी
|
|
——————————————————
|
(१) निहालचन्द जी

(१) गुलाबचन्दजी, (२) अमीचन्दजी, (३) भदीचन्दजी, (४) श्योजीरामजी, (५) गुमानीरामजी, (६) भगतरामजी।

अमरचन्दजी
|
मोतीलालजी
|
सोनजी
|
फूलचन्द्रजी

दीवान अमरचन्दजी की आज्ञा से आपने जयपुर में दो जिन मन्दिरों का निर्माण कराया था जो कवि की अमर-कीर्ति का गान कर रहे हैं। कवि की पवित्र विरागता उनके मन्दिरों की दीवाल पर अंकित "मोहतोड़" "विषयछोड़", समयपाय चेतभाई से जानी जा सकती है। उस समय जयपुर में छह हजार जैन तथा ६४ हजार अन्य जातियों के घर थे। कवि ने अपने जीवनकाल में जयपुर में महाराजा सवाई जयसिंहजी (तृतीय) एवं महाराजा रामसिंह का शासन काल देखा था।

कविवर बुधजन, जिस समय जयपुर में रह कर साहित्य-साधना कर रहे थे, उस समय जयपुर नगर "सवाई जयपुर" के नाम से प्रसिद्ध था। उसका दूसरा नाम "ढूंढाहड" भी था। वास्तव में ढूंढाहड़ एक देश था और जयपुर उसका मुख्य नगर। उसके एक भाग में "ढूंढाहणी" भाषा चलती थी। जयपुर में उसके बोलने वालों की संख्या पर्याप्त थी। कुछ कवियों ने उस नगर को ही "ढूंढाहड़"

---

१. प्रेमी, नाथूराम (सं०) बुधजन सतसई, प्रस्तावना हिन्दी ग्रंथ कार्यालय, बम्बई।

कुरसीनामा (वंशावली)

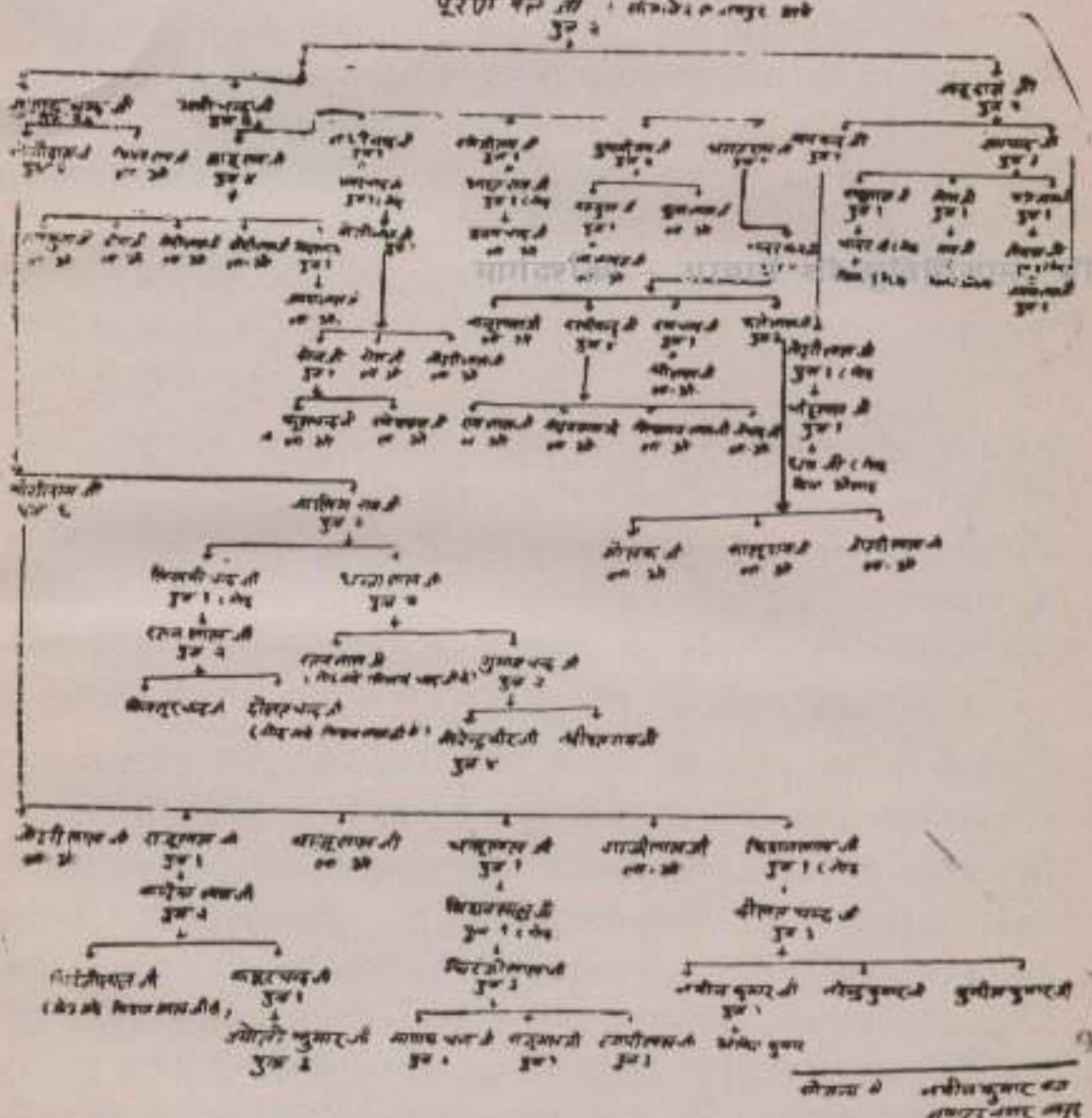

देश लिखा है। ढूंढाहड़ी भाषा में अच्छे साहित्य की रचना हुई। पं० टोडरमलजी की कृतियों में उसके निखरे हुए रूप के दर्शन होते हैं।"[1]

३. कवि का सामाजिक जीवन

महाकवि बुधजन भारत के अग्रगण्य गायकों में से थे। उनके प्रशान्त हृदय-सागर से शांन्ति का अमर-सन्देश लेकर जो धारा बह निकली, विश्व उसे देखकर मुग्ध हो गया। वे सांसारिक मोह-माया के वातावरण में रहकर भी उससे अछूते रहे।

जयपुर में अनेक साहित्यज्ञ हुए हैं और इसके लिए वह अपना एक विशेष स्थान रखता है। उस समय देश का शासन-सूत्र "मोहम्मद शाह" के हाथों में था। बुधजन भी जयपुर के साहित्यज्ञ थे। साहित्य-प्रेम उन्हें बचपन से ही था, उन्होंने अपने इस साहित्य प्रेम को अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक निभाया। वे साहित्य चिंतन में सदालीन रहने वाले लब्ध-प्रतिष्ठ कवि थे। उन्होंने जितना ही हमसे दूर रहने का प्रयत्न किया है, उनके अमर-काव्य ने उनको उतना ही अधिक हमारे संपर्क में ला दिया है।

"बुधजन" शान्ति के सच्चे उपासक थे और इसीलिए उन्होंने कविता भी की। उनकी कविता में न तो कोई प्रदर्शन है और न बाह्याडम्बर ही। वे चिर-शांति स्थापना के परिपोषक थे, उन्होंने शांति की रूपरेखा बड़ी विलक्षणता से अंकित की। प्राणिमात्र इससे सुरक्षित रह सकेगा। एक दूसरे के अधिकार को नष्ट नहीं कर सकेगा। वे चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति अध्यात्म-रस का रसिक बने। वे स्वयं एक चिंतनशील व्यक्ति थे। सदा ही मनन और चिंतन करते रहते थे।

कविवर बुधजन के समय में हिन्दी साहित्य के पूर्ण वैभव का विकास हो रहा था। उनके जीवन का बहुभाग जयपुर में व्यतीत हुआ था। पं. सदासुखजी, पं. बख्तावरमलजी, पं. तनसुखलालजी, पं. वृन्दावनजी, काशी पं. भागचन्दजी हंसागढ़, पं. बख्तावरमलजी, पं. दौलतरामजी द्वितीय आदि कवि के समकालीन विद्वान थे। निःसंदेह कवि का साहित्यिक, व्यक्तिगत व सामाजिक अनुभूति का क्षेत्र विपुल था। सरलता, सादगी व धार्मिक रुचि बुधजन की रचनाओं में प्रस्फुटित हुई। वे गृहस्थ थे, गृहस्थी में रहते हुए भी उनकी वृत्ति निरीह एवं सात्विकता की प्रतीक थी। कवि का संपूर्ण जीवन आध्यात्मिक था। पांडित्य प्रदर्शन से वे सर्वथा दूर थे। उन्होंने साहित्य-साधना में ही अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर

---

१. अनेकान्त वर्ष ११, किरण ६, पृ० २४३, वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली।

दिया था। उनकी रचनाओं में जीवन में घटित दैहिक, दैविक, भौतिक विपत्तियों या अन्य किसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता है।

अनेक जैन कवि ऐसे हुए हैं जो एक ओर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी के विशिष्ट विद्वान थे, सिद्धान्त और तर्कशास्त्र के पारगामी थे, तो दूसरी ओर सहृदय भी कम न थे। उनका काव्य उनकी सहृदयता का प्रतीक है। बुधजन कवि की गणना भी ऐसे ही कवियों में की जाती है।

बुधजन का सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन अन्य साहित्यकारों एवं विद्वानों की भांति विवाद-ग्रस्त नहीं रहा, वे हिन्दी जैन साहित्य के निर्विवाद इष्टा थे। उन्होंने जिस ढूंढारी भाषा को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया, वह हिन्दी के अत्यन्त निकट है, केवल क्रियापदों में थोड़ा-सा परिवर्तन करने पर वह हिन्दी के अत्यन्त निकट ही है।

कवि की रचनाओं में एवं उनके व्यक्तित्व से यह स्पष्ट है कि वे पं. बनारसी-दास एवं टोडरमलजी के बाद अन्य जैन साहित्यकारों में अपना विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कवि की कुछ रचनाएं तो इतनी विस्तृत हैं कि उनपर स्वतन्त्र रूप से बहुत कुछ लिखा जा सकता है। उनके समय में हिन्दी साहित्य के पूर्ण वैभव का विकास हो रहा था। कवि के जीवन का बहुभाग जयपुर में व्यतीत हुआ, जयपुर उस समय अध्यात्म-विद्या का प्रमुख केन्द्र था, अतः स्वभावतः कवि के जीवन पर अध्यात्म विद्या की छाप थी।

४. कवि की धार्मिक वृत्ति

वास्तव में जयपुर में अनेक साहित्यकार हुए हैं और इसके लिए जयपुर अपना एक विशेष स्थान रखता है। कविवर बुधजन बचपन से ही अध्यात्म-रस की कविताएं किया करते थे। वे सदा साहित्य-चिंतन में लीन रहा करते थे, पर आज हमें उनके जीवन की रूपरेखा भलीभांति ज्ञात नहीं है। संभव है "कविवर बुधजन" आत्म-परिचय लिखना नहीं चाहते हों। इसमें उन्हें अभिमान की गंध मालुम हुई हो, लेकिन इससे उनकी महानता में कोई कमी नहीं आती। वे एक लब्ध-प्रतिष्ठ कवि थे, उन्होंने जितना ही हमसे दूर रहने का प्रयत्न किया है, उनके अमर-काव्य ने उन्हें उतना ही अधिक हमारे सम्पर्क में ला दिया है। वे शांति के एक सच्चे उपासक थे और इसीलिए उन्होंने कविताएं की। इसमें न तो आपका कोई प्रदर्शन है और न बाह्य आडम्बर ही। वे चिरशांति स्थापना के पोषक थे। उन्होंने शांति की रूपरेखा बड़ी ही विलक्षणता से अंकित की है।

कविवर बुधजन चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्म-रस का रसिक बने। कविवर चिंतनशील व्यक्ति थे और सदा मनन-चिंतन करते रहते थे। सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का साक्षात्कार करने का उनका प्रयत्न था। उनमें अनुभूति की तीव्र व्यंजना थी। अनुभूति की तीव्र अभिव्यंजना ही कविता है।

"बुधजन" ने आत्म-प्रेरणा से प्रेरित होकर ही काव्य की रचना की थी। प्रदर्शन के लोभ से एक भी पद नहीं रचा है। आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना है "बुधजन सतसई"। इसमें आपने संसार के प्रत्येक पहलू की व्यंजना बड़ी खूबी से की है।

जैन पद संग्रह भक्ति रस के गीतों से ओत-प्रोत एक संकलन मात्र है जिसे गाकर कवि ने शांति का अनुभव किया होगा। आपके शब्द नपे-तुले होते थे। उनका एक-एक शब्द शांति और क्रांति का तापन करने वाला होता था, लेकिन इस क्रांति से कविवर चिरशांति की स्थापना करना चाहते थे। वे एक कुशल गायक थे, उनके गीतों में शान्त-रस, प्रवाह और ओज की त्रिधारा मिलती है। महाकवि बुधजन एक सफल कलाकार थे। हिन्दी आप जैसे कलाकारों को पाकर धन्य हुई और आप जैसे प्रशान्त गायक के अमरगीत इस संघर्षमय संसार में अपनी चिरशांति का आलाप सुना रहे हैं।

उनकी रचनाओं में भक्ति की ऊंची भावना, धार्मिक सजगता और आत्म-निवेदन विद्यमान है। आत्म परितोष के साथ लोक-हित सम्पन्न करना ही उनके काव्य का उद्देश्य है। भक्ति विह्वलता और विनम्र आत्म-समर्पण के कारण अभिव्यंजना शक्ति प्रबल है।

कवि द्वारा रचित पदों में उनके जीवन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनेक जानकारी की बातें प्राप्त होती हैं। जिनभक्त होने के साथ कवि आत्म-साधक भी हैं। सांसारिक भोगों को निःसार समझना, साहित्य-सेवा और सरस्वती आराधना को जीवन का प्रमुख तत्व मानना कवि की विशेषताओं के अन्तर्गत है।

कवि की रचनाओं का अध्ययन करने से एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने अपने अन्तर्जगत की अभिव्यक्ति अनूठे ढंग से की है। कवि की रचनाएं अध्यात्म प्रधान है। उनके पदों में विराट कल्पना, अगाध दार्शनिकता और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विशेषताएं हैं।

५. रचनाकाल

कविवर बुधजन अध्यात्म के ज्ञाता थे। उनकी रचनाओं में उनके बहुमुखी व्यक्तित्व, कृतित्व एवं विषय चयन आदि दृष्टियों के दर्शन होते हैं। रचनाओं के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि वे दार्शनिक विचारों को जन-जन तक पहुंचाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपनी सम्पूर्ण रचनाएं जनभाषा में लिखीं। उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में से कुछ रचनाएं अनूदित हैं। अनूदित रचनाओं में भी कई विषयों पर कवि के मौलिक विचारों का परिचय मिलता है।

कविवर बुधजन की **प्रथम मौलिक रचना** है "छहढाला"। यह रचना वि० सं० १८५९ की अक्षय तृतीया को पूर्ण हुई। जैसा कि कविवर अपनी इस रचना में स्वयं लिखते हैं :—

"ठारा से पंचास अधिक नव संवत् जाना।
तीज शुकल वैशाख, ढ़ाल षट् शुभ उपजानों ।।[1]

कवि की **द्वितीय बड़ी रचना** है "बुधजन विलास"। इसमें विभिन्न राग-रागिनियों से युक्त पदों एवं भजनों का समावेश है। इसमें सैद्धान्तिक विषयों की प्रधानता है और इसी कारण इस रचना का नाम बुधजन विलास रखा गया है। वि. सं. १८६० से १८७८ के मध्य लिखी हुई रचनाओं का इसमें संकलन है।

कवि की **तृतीय बड़ी रचना** है "बुधजन सतसई" जिसका रचनाकाल वि. सं. १८७६ है। ग्रंथ की प्रशस्ति में कविवर स्वयं लिखते हैं :—

संवत् ठारा सै अमी, एक बरसतें घाट।
ज्येष्ठ कृष्ण रवि अष्टमी, हूवो सतसई पाठ ।।[2]

कवि की **चतुर्थ बड़ी रचना** है "तत्वार्थबोध" कवि ने इसे वि. सं. १८७६ में पूर्ण किया था। कविवर इस ग्रंथ की प्रशस्ति में लिखते हैं :—

संवत् ठारा से बिषै, अधिक गुण्यासी वेश।
कार्तिक सुदि पंचमी, पूरन ग्रंथ असेस ।।[3]

कवि की **पंचम बड़ी रचना** है "पंचास्तिकाय"। इस रचना की प्रशस्ति में कवि ने रचना काल का उल्लेख निम्न प्रकार किया है।

रामसिंह नृप जयपुर बसै, सुदि आसीज गुरुदिन दसें।
उगणी से में घटि हैं आठ, ता दिवस में रच्यो पाठ ।।[4]

कवि की छटी रचना "वर्द्धमान पुराण सूचनिका है।" यह भट्टारक सकल कीर्ति द्वारा रचित संस्कृत ग्रंथ के अनुकरण पर लिखी गई है। इसमें भगवान महावीर के अनेक भवों का भावपूर्ण वर्णन है। रचनाकाल **वि० सं० १८६५ अगहन कृष्णा तृतीया गुरुवार** है। ग्रंथ की प्रशस्ति में कविवर लिखते हैं :—

सकलकीर्ति मुनिरच्यो, वचनिका ताकी बांची।
तवैछन्द को रचन बुद्धि, बुधजन की रांची ।।
उगनीसौ में घाटि पांच संवत् वर अगहन।
कृष्ण तृतीया हुवो ग्रंथ पूरन सुरगुरु दिन ।।[5]

---

१. बुधजन : छहढाला, पृ० ३६, सुषमा प्रेस, सतना प्रकाशन।
२. बुधजन : बुधजन सतसई, पद्य क्रमांक ६६६, पृ० १४५, प्र० सं०, सनावद।
३. बुधजन : तत्वार्थबोध, पृ० सं० २७७ ए० सं० ११४, प्रकाशन कन्हैयालाल गं० वाल, लश्कर।
४. बुधजन : पंचास्तिकाय भाषा, हस्तलिखित प्रति, दि० जैन मन्दिर, जयपुर।
५. बुधजन : वर्द्धमान पुराण सूचनिका: पद्य सं. ७७-७८ हस्तलिखित प्रति दि० जैन मन्दिर, जयपुर।

कवि की अन्तिम रचना "योगसार भाषा" है। इसका रचना काल वि० सं० १८९५ श्रावण शुक्ला तृतीया मंगलवार है। यह कवि की अन्तिम रचना प्रतीत होती है क्योंकि इसके बाद की कोई रचना उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ की प्रशस्ति में कवि ने रचना काल का उल्लेख इस प्रकार किया है :—

ठारासो पिच्चानवे संवत् सावन मास।
तीज शुक्ल मंगल दिवस, भाषा हुई प्रकाश[1] ॥

डा० नेमीचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य आरा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" भाग–४ में बुधजन का साहित्यिक-जीवन वि० सं० १८७१ से वि० सं० १८९२ तक स्वीकार किया है। यह संभवतः इसलिए कि डॉ० शास्त्री ने कवि की सम्पूर्ण रचनाओं के अवलोकन की कृपा नहीं की। उन्होंने कवि की केवल ६ रचनाओं का ही उल्लेख किया है, जबकि कवि की अब तक १७ रचनाएं उपलब्ध हैं। कविवर की छहढाला की रचना वि० सं० १८५९ में हो चुकी थी। इसके पूर्व ही वि० सं० १८५० में विमल जिनेश्वर की विनती रची गई थी। स्वयं कविवर के शब्दों में :—

ठारा सै पंचास माह सुदि पूरन मासी।
बुधजन को अरदास, कीजै सुरपुरवासी ॥

यह विनती "बुधजन विलास" में संग्रहीत है।
वि० सं० १८७१ में जिनोपकार स्मरण स्तोत्र (पाना २०)
वि० सं० १८६६ में दोषबावनी (पाना २१)

इसके भी पूर्व वे वि० सं० १८३५ में नन्दीश्वर जयमाला की कविवर रचना कर चुके थे।

उनकी एक रचना और उपलब्ध है, जिसका नाम "बंदना जखड़ी" है। इसमें रचना काल का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि इसका रचना काल वि० सं० १८५५ अनुमानित है।

"इष्ट छत्तीसी" यह भी कवि की सुन्दर रचना है। इसमें पंच परमेष्ठी के गुणों का स्मरण किया गया है। इसमें रचना काल का उल्लेख नहीं है।

इस प्रकार कविवर बुधजन की १७ रचनाएं उपलब्ध हैं। अतः कविवर बुधजन का साहित्यिक रचना काल वि० सं० १८३५ से १८९५ तक रचनाओं के आधार पर निश्चित होता है।

---

१. बुधजन : योगसार भाषा : गुटका संख्या २९९१ पृ० सं० १७, आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर।

६. देहावसान एवं विशिष्ट व्यक्तित्व

"यदि हम किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विश्लेषण करना चाहते हैं तो यह आवश्यक होगा कि उसकी कार्य-प्रवृत्तियों का हमें पूर्ण ज्ञात हो। क्योंकि व्यक्ति के विचार उसकी विभिन्न विषयों में लगने वाली प्रवृत्तियां एवं करने योग्य कार्यों का समूह ही व्यक्तित्व है। विचारों से हमें व्यक्ति के हृदय का ज्ञान होता है और प्रवृत्तियों से उसके चरित्र का बोध होता है। जैन विद्वानों ने जैन संस्कृति के संरक्षण में अभूतपूर्व योगदान दिया है और यह आवश्यक भी है क्योंकि संस्कृति के बिना कोई जाति जीवित नहीं रह सकती।"[1]

"कविवर बुधजन" के व्यक्तित्व का मानदण्ड है उनका आध्यात्मिक प्रेम, सहिष्णुता, उदारता एवं निर्माणात्मक कार्यों के सम्पादन की क्षमता। मैंने कवि के इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर एवं स्वयं यह जानकर कि आपकी "देव दर्शन स्तुति" जिसका प्रारम्भ "प्रभु पतित पावन" से होता है, एक अत्यन्त भावपूर्ण स्तुति है। कवि की यह छोटी-सी स्तुति समग्र जैन समाज में अत्यधिक प्रसिद्ध है। इसकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि यह समाज के आबाल वृद्ध के कंठ पर है। शायद ही ऐसा कोई जैन बालक या बालिका होगी जिसे "बुधजन" की यह स्तुति कंठस्थ न हो।

"कविवर बुधजन" की सफलता का कारण, उनकी निःस्वार्थ सेवा और परोपकारशीलता का भाव है—धन नहीं। वे परम नैष्ठिक और धर्मात्मा व्यक्ति थे। बड़ी ही दृढ़ता के साथ श्रावकाचार का पालन करते थे। वे अत्यन्त ही सादे किन्तु सबल व्यक्तित्व के धनी, बहु शास्त्रविद्, प्रतिभाशाली, विद्वान, गंभीर प्रकृति के गहन आध्यात्मिक विचारक, आत्मानुभवी और आत्म-निष्ठ के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं।

कविवर का देहावसान जयपुर नगर में वि० सं १८९५ के बाद हुआ, क्योंकि १८९५ के बाद की उनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं है। कृतियों के आधार पर कवि का साहित्यिक जीवन ६० वर्ष निश्चित होता है।

---

१. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री : गुरुगोपालदास बरैया स्मृति ग्रंथ, अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद् सागर, चैत्र कृष्णा १२ वि० सं० २०३३।

२-बुधजन द्वारा निबद्ध कृतियां एवं उनका परिचय

कविवर बुधजन की कृतियां कालक्रमानुसार निम्न प्रकार उपलब्ध होती हैं–

१.	नंदीश्वर जयमाला	वि. सं. १८३५	इसका बुधजन विलास में संग्रह किया गया है।
२.	विमल जिनेश्वर स्तुति	,, १८५०	
३.	वंदना जखड़ी	,, १८५५	
४.	छहढाला (षटपाठ)	१८५९	
५.	बुधजन सतसई	,, १८७९	
६	तत्वार्थबोध	,, १८७९	
७.	पंचास्तिकाय भाषा	,, १८९२	
८	वर्धमान पुराण सूचनिका	,, १८९५	बुधजन विलास में संग्रहीत
९.	योगसार भाषा	,, १८९५	
१०.	बुधजन विलास	—	(जीवन के प्रारम्भ से लेकर अन्तिम समय तक छन्दोबद्ध रचनाएं)
११.	पद संग्रह	—	(संवत् १८०० से लेकर १८९१ तक)
१२.	इष्ट छत्तीसी	—	
१३,	संबोध पंचासिका	—	
१४.	मृत्युमहोत्सव	—	
१५.	पंचकल्याणक पूजा	—	
१६.	पंच परमेष्ठी पजा	—	
१७.	सम्मेदशिखर पूजा	—	

१. नंदीश्वर जयमाला वि. सं. १८३५

जैन दर्शन के अनुसार

इस पृथ्वी पर असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। ढाई द्वीप तक मनुष्यों का निवास है। उसके आगे मनुष्यों का गमन नहीं हैं। आठवें द्वीप का नाम नंदीश्वर द्वीप है। यहां पर अकृत्रिम जिन चैत्यालय व उनमें अकृत्रिम जिन प्रतिमाएं हैं। वहां पर अष्टान्हिका पर्व में धार्मिक प्रकृति के देव–देवियों जिनेन्द्र प्रतिमाओं की भक्तिभाव से पूजा करते हैं। चौसठ लाख, इत्यादि अनेक जाति के देव वहां जाकर पूजा करते हैं।

यह नंदीश्वर द्वीप नंदीश्वर समुद्र से वेष्टित है। इस द्वीप का विस्तार १६३८४००००० एक सौ त्रैसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है। इस द्वीप की बाह्य परिधि दो हजार बहत्तर करोड़ ततीस लाख चौवन हजार एक सौ नब्बे योजन है। इसकी पूर्व दिशा में अंजनगिरि पर्वत है। एक अंजनगिरि, चार दधिमुख, आठ रतिकर इन तेरह पर्वतों के शिखर पर उत्तम रत्नमय एक एक जिनेन्द्र भवन स्थित है। ये मन्दिर १०० योजन लम्बे, ४० योजन चौड़े, ७५ योजन ऊंचे हैं। इन जिन मंदिरों में देवतागण जल गंध, अक्षत, पुष्प आदि द्रव्यों से बड़ी भक्ति से पूजा, अर्चा, स्तुति आदि करते हैं। पूर्व दिशा की भांति शेष तीन दिशाओं में स्थित पर्वतों पर भी इसी प्रकार अकृत्रिम जिन मंदिर हैं व उनमें अकृत्रिम जिन प्रतिमाएं विराजमान हैं।

कविवर बुधजन भक्तिपूर्वक इन अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की वंदना करते हुए अपनी लघुता प्रगट करते हैं—

"मैं मंदमति उन अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की वंदना करता हूं मुझ में वह शक्ति नहीं है कि मैं उनका विस्तृत वर्णन कर सकूं। मुझ में सुन्दर छन्द निर्माण

की योग्यता नहीं है। अतः विद्वान पाठक मुझपर दया करें।[1]

रचना के अन्त में कविवर बुधजन रचनाकाल का उल्लेख करते हुए कहते हैं:—

मैंने यह रचना वि० सं० १८३५ चैत्र शुक्ला चतुर्थी, शनिवार को पूर्ण की[2] प्रस्तुत रचना बुधजन विलास में संग्रहीत है।

२. विमल जिनेश्वर की स्तुति वि. सं. १८५०

कविवर बुधजन की यह एक अत्यन्त लघुकाय रचना है। जैन मान्यतानुसार धर्म के प्रबल प्रचारक चतुर्विंशति तीर्थंकर माने गये हैं। उनमें एक नाम विमलनाथ का है। अत्यन्त भाव-विभोर हो कवि विमल जिनेश्वर की स्तुति करते हुए कहते हैं:—

हे विमल जिन ! मैं आपके चरणों का ध्यान करता हूं। मैं आगम के अनुसार वर्णन करता हूं। पर आपके गुणों का वर्णन तो बड़े-बड़े इन्द्र, नरेन्द्र, फणीन्द्र आदि भी करते हुए नहीं अघाते फिर मेरी तो सामर्थ्य ही क्या है ? हे प्रभु ! आप राजपुत्र हैं। पर युवावस्था को प्राप्त होते ही आपने दीक्षा धारण की। कुछ समय बाद आपको पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति हुई। पश्चात् उत्कृष्ट ध्यान के बल पर आपने सम्मेद शिखर (पार्श्वनाथ-हिल) पर्वत से मुक्ति प्राप्त की। आपकी बहिरंग विभूति तो अपार थी पर आपका मन उसमें नहीं रमा व आपने ध्यान के बल पर अपनी अन्तरंग विभूति (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनंत सुख, अनन्त बल) प्रगट कर ली। धन्य है ! वह सम्मेद शिखर पर्वत जो आपके चरण स्पर्श से तीर्थ बन गया।

---

१. वन्दों भवि मंदिर जिन, बैन लीन मति भाणे दी।
वरण अरथ बल छंद हीन, दया धरो सुनि अघ करि छीन॥
बुधजनः, बुधजन विलास—नंदीश्वर जयमाला, पद्य स. १९, पृ. स. २६ हस्तलिखित प्रति से।

२ ठारासे पैंतीस को साल चौथि शनिवार।
चैत जन्म जयमाल को, बधीचन्द हियवार॥
बुधजन, बुधजन विलास, (नंदीश्वर जयमाला) पद्य सं २० पृ. संख्या २६ हस्तलिखित प्रति से।

"अपनी लघुता प्रकट करते हुए कवि लिखते हैं—हे प्रभु ! मैं आपके पवित्र चरणों में अपना मस्तक झुकाता हूं । आप कृपया मेरी प्रार्थना सुन लीजिए । मेरी प्रार्थना यही है कि आप मुझे ऐसी शक्ति प्रदान करें जो मुझे स्वर्ग-मोक्ष के सुखों को प्राप्त करा दे । कवि ने रचना के अन्त में रचनाकाल वि० सं० १८५० माह सुदी पूनम दिया है ।[1]

३. वन्दना जखड़ी वि. सं. १८५५

कविवर बुधजन की यह हस्तलिखित कृति श्री दि० जैन लूणकरण पांड्या मंदिर, जयपुर से प्राप्त हुई थी । यह लघुकाय कृति कवि की मौलिक रचना है । इसमें कवि ने निर्वाण काण्ड के वर्णन की भांति अकृत्रिम जिन चैत्यालयों, भारत के समस्त जैन तीर्थ क्षेत्रों, उन तीर्थ क्षेत्रों से तप द्वारा निर्वाण प्राप्त करने वाले यतियों, जयधवल, समयसार, पंचास्तिकाय गोम्मटसार, त्रिलोकसारादि ग्रन्थों की भक्ति पूर्वक वंदना की है, तथा कर्मों की जकड़न से छूटे अरहन्त, सिद्ध एवं छूटने का प्रयास करने वाले आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पंच परमेष्ठियों की भी वंदना की है एवं जहां जहां सिद्ध क्षेत्र व अतिशय क्षेत्र हैं, उनका भक्ति-भाव से नाम-स्मरण किया है ।

यह रचना अत्यन्त सरल भाषा में लिखी गई है । यह प्रतिदिन प्रातःकाल पाठ करने योग्य है । कवि ने रचना का प्रारंभ, चतुर्विंशति तीर्थंकरों एवं विद्यमान बीस तीर्थङ्करों की स्तुति से किया है ।[2] इस रचना में जहां जहां से जितने जीव सिद्ध पद को प्राप्त हुए हैं उनकी भी वंदना की गई है । जैन भक्ति साहित्य में प्राचीनकाल

---

१. सुनिये विनती नाथ चरणं सीस नमाऊं ।
ठारासे पंचास माह सुदि पूरनवासी ।
बुधजन को अरदास कीजै सुरपुर वासी ।।17।।
बुधजनः बुधजन विलास (विमल जिनेश्वर की स्तुति) पाना 18 पृष्ठ सं. 9-17 हस्तलिखित प्रति से ।

२. आदि तीर्थङ्कर प्रथमहिं वन्दों, वर्द्धमान गुण गाऊं जी ।
अजितआदि पारस जिनवरलों, बीस दोय मन लाऊं जी ।।
सीमंधर आदिक तीर्थङ्कर, विदेह क्षेत्र के मांहीं जी ।
सकल तीर्थङ्कर गुणगण गाऊं, विरहमान मन लाऊं जी ।।
बुधजन : वंदना जखड़ी, पद्य सं. १–२, हस्तलिखित प्रति, दि. जैन लूणकरण मंदिर, जयपुर ।

से जखड़ियां लिखी जाती रही हैं। बुधजन कृत प्रस्तुत जखड़ी में केवल छत्तीस पद्य हैं।

जखड़ी का अर्थ है जकड़ा हुआ। जखड़ी एक प्रकार का सम्बोधन है। हिन्दी के अनेक जैन कवियों ने अपने-अपने ढंग से संसारी जीवों को संबोधित करने के लिए जखड़ियों की रचना की। जिनमें भूधरदास, दौलतराम, रूपचन्द जैसे कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं।

"रचना के अन्त में कवि ने अपने नाम, स्थान व गुरु के नाम का उल्लेख किया है।[1]

४. छहढाला वि. सं. १८५६

यह रचना कवि की एक मौलिक-कृति है। यह छह ढालों में निबद्ध है। सामान्यतः ढाल शब्द काव्य के लिए रूढ़ अर्थ में प्रयोग किया जाता रहा है। जिस प्रकार साहित्य में फागु, विलास, रास आदि शब्द प्रचलित रहे हैं, उसी प्रकार ढाल शब्द का भी प्रचलन रहा है। यह शब्द ध्वन्यर्थ रूप में रास काव्य की भांति गेय रचना के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। छहढाला के अतिरिक्त श्रीपाल ढाल, मृगावती ढाल आदि काव्य रचनाएं भी उल्लेखनीय हैं। इसके प्रत्येक छन्द को पढ़ते समय एक विशेष प्रकार के प्रवाह का अनुभव होता है। इसको छन्द की गति या चाल या ढाल कहते हैं। छहढाला के छह प्रकरणों में से प्रत्येक प्रकरण की अलग-अलग छन्दों में रचना की गई है और पूर्ण रचना में छह प्रकार के छन्दों की ढाल (चाल) होने से इसको छहढाला कहा गया है।

कविवर बुधजन की यह रचना दौलतराम की छहढाला का प्रेरणा स्रोत है। ये वे दौलतराम नही है, जिनका उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मपुराण के निर्माता के रूप में किया है।[2] इनका 'छहढाला' नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि

---

१. नगर भौरासें जखड़ी कीनी, सकल भव्यमन भावैजी।
दास बिहारी (बुधजन) विनती गावै, नामलेत सुख पावे जी।।

बुधजन : वंदना जखड़ी, पद्य संख्या ३६, हस्तलिखित प्रति दि जैन लूणकरण पांड्या मंदिर, जयपुर।

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, तृतीय संस्करण। पृ. संख्या ४११, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी वि. सं. २००३।

द्यानतराय की पंचासिका और दौलतराम का तत्व-उपदेश भी छहढाला कहलाने लगे। सर्व प्रथम कविवर द्यानतराय ने वि. सं. १७१८ कार्तिक मास की त्रयोदशी को इस प्रकार की छह भागों में विभक्त साधारण उपदेशात्मक रचना की थी तथा कुल ५० छन्द होने से उसका नाम पंचासिका रखा था, जैसा कि ग्रन्थ के अंतिम छंदों से ज्ञात होता है।[1] इसके बाद कविवर बुधजन ने वैसाख शुक्ल तृतीया (अक्षय-तृतीया) वि. सं. १८५९ में विषय के क्रमानुसार प्रकरण बद्ध करते हुए इस प्रकार की एक रचना की थी तथा उसका नाम 'छहढाला' रखा था। यह रचना पं. द्यानतराय की रचना से विषय-वर्णन में अधिक विस्तृत है।

इसके पश्चात् कवि दौलतराम ने 'कविवर बुधजन' की छहढाला से प्रेरणा प्राप्त कर शिल्प-कला के कौशल के साथ सर्वांगपूर्ण रचना प्रस्तुत की। उनकी इस रचना में बुधजन की भाषा और भावों की छाया यत्र-तत्र दिखाई देती है। श्री दौलतराम ने स्वयं अपनी रचना के अंतिम छंद में निर्देश भी किया है। उनके ही शब्दों में:—

मुझ पं. दौलतराम ने कवि बुधजन 'छहढाला' का आश्रय लेकर वि. सं. १८९१ की अक्षय तृतीया को यह ग्रन्थ पूर्ण किया।[3] सामान्यतः यह स्वीकार कर लिया गया है कि दौलतराम की 'छहढाला' के पूर्व कविवर बुधजन की छहढाला आदर्श रूप में थी।[4] बुधजन की यह रचना सुन्दर और महत्वपूर्ण है। पहले सर्वत्र इसी का पठन-पाठन होता था। इस रचना ने अनेक व्यक्तियों पर प्रभाव डालकर उनके जीवन को बदलने और अध्यात्मिकता की ओर झुकाने में बड़ा योग दिया है। कविवर बुधजन और कविवर दौलतराम, इन दोनों की छहढाला आध्यात्मिक जैन साहित्य की अनुपम निधि है। बड़े-बड़े ग्रन्थों का सार इनमें भर दिया गया है।

कविवर बुधजन 'छहढाला' की पहली ढाल में वर्णित वैराग्य बर्द्धिनी बारह-भावनाएं, भाव और लय की मधुरता दोनों दृष्टियों से बढ़िया हैं। भाषा और भाव

---

१. क्षय उपशम बलसों कहे, द्यानत अक्षर सेह।
देख सुबोध पंचासिका, बुधजन शुद्ध करेहु॥
कवि द्यानतराय : छहढाला, पद्य संख्या ४७, पृ. सं. १६, प्र. संस्करण शान्तिवीर नगर, महावीरजी।

३. इकनववसु इक वर्ष की, तीज शुक्ल वैसाख।
कर्‌यो तत्व उपदेश यह, लखि बुधजन की भाख॥
दौलतराम : छहढाला, पद्य सं. १६, पृ. सं ५२, सरल जैन ग्रन्थ भंडार, जबलपुर प्रकाशन।

४. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री : सन्मति संदेश. वर्ष १३, अंक ९ सितम्बर १९६८।

की दृष्टि से यह रचना अनुपम है। इसकी भाषा ब्रज-मिश्रित खड़ी बोली है। कहीं-कहीं राजस्थानी भाषा के शब्द भी आ गये हैं। भाषा-सरल, स्वाभाविक, मुहावरेदार और हृदय-स्पर्शी है। अध्यात्म जैसे विषय को इतने सरल और रोचक ढंग से प्रस्तुत करना, कवि की बहुत बड़ी विशेषता है। इस पुस्तक में वैराग्य-वर्द्धक, शान्त रस ही प्रधान है तथा स्वाभाविक रूप से आए हुए उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार भी यत्र-तत्र पाये जाते हैं। इसमें चौपाई, नरेन्द्र छन्द, पद्धरिछन्द, सोरठा, बालछंद, रालाछन्द इन छन्दों का प्रयोग किया गया है। इसकी विविध छन्द युक्त पदावली पढ़ने में बहुत रुचिकर लगती है तथा सरलता से अर्थ स्पष्ट रहने से बड़ा आनन्द आता है और शान्ति मिलती है। वास्तव में यह रचना सभी दृष्टियों से अनूठी है। कवि की यह रचना वि. सं. १८५९ की वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया) के दिन पूर्ण हुई। कविवर बुधजन की इस रचना के ठीक ३२ वर्ष बाद कवि दौलतराम (द्वितीय) ने छहढाला की रचना की थी।

हिन्दी जैन साहित्य के कवियों ने अध्यात्म-रस से भरपूर ऐसी अनकों रचनाएं की हैं। पं. बनारसीदास, पं. भागचन्द, ज्ञानतराय, बुधजन, दौलतराम आदि कवियों ने अपनी पद रचनाओं में अध्यात्म रस की मधुर-धारा बहाई है, उनमें से यह एक छहढाला है, जो सुगम शैली से वीतराग-विज्ञान का बोध कराने वाली है। बुधजन की छहढाला में एवं परवर्ती हिन्दी के जैन कवि दौलतराम (द्वितीय) की छहढाला नामक रचना में क्या साम्य पाया जाता है; यह निम्न लिखित बातों से स्पष्ट है। यथा–

१. बुधजनकृत छहढाला का निर्माण वि. सं. 1859 वैशाख शुक्ला तृतीया (अदाय तृतीया) को हुआ था, जबकि दौलतराम कृत "छहढाला" का निर्माण उसके ठीक 32 वर्ष बाद वि. सं. 1891 वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया) को हुआ था।
2. दोनों रचनाओं की छहों ढालों में पर्याप्त साम्य है।
3. दोनों का आधार द्वादशानुप्रेक्षा आदि प्राचीन ग्रन्थ हैं।
४. दोनों रचनाओं में विषय-चयन का क्रम निम्न प्रकार है:–

बुधजन कृत छहढाला की प्रथम ढाल में बारह भावनाओं का वर्णन है। द्वितीय ढाल में जीवों के चतुर्गति में भ्रमण सम्बन्धी दुःखों का वर्णन है। तृतीय ढाल में काल लब्धि और सम्यग्दृष्टि के भावों का वर्णन है। चतुर्थ ढाल में अष्टांग निरूपण है। पंचम ढाल में श्रावक-धर्म का वर्णन है। छठी ढाल में मुनि धर्म का वर्णन है और जगत् के जीवों को सम्बोधन है।

दौलतराम कृत "छहढाला" की प्रथम ढाल में जीवों के संसार परावर्तन के साथ चारों गतियों के दुःखों का वर्णन है एवं संसारी जनों को गुरु की शिक्षा समझाई गई है। द्वितीय ढाल में संसार-भ्रमण के कारण भूत गृहीत, अगृहीत

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचरित्र के स्वरूप का वर्णन है। इन तीनों को छोड़ने एवं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र को अपनाने की प्रेरणा है। तृतीय ढाल में आत्मा का सुख बतलाकर उसके उपाय रूप से सम्यग्दर्शन का सांगोपांग निरूपण है और इसे ही धर्म का मूल कहा है। चतुर्थ ढाल में–व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र का वर्णन है। इसमें मुख्यत: सम्यक्त्वी श्रावक के विश्वास का वर्णन है। पांचवीं ढाल में जगत्-काय एवं भोगों से विरक्त होने के लिए बारह भावनाओं का वर्णन एवं उनके चिंतन करने का उल्लेख है। इसमें अणुव्रती श्रावक की दैनिक चर्या तथा उसके व्रतों व जीव मोक्ष–प्राप्ति की ओर किस प्रकार अग्रसर होता है–इनका वर्णन है। छठी ढाल में मुनि धर्म एवं स्वरूपाचरण–चारित्र का वर्णन है एवं जीवों को परम पद की प्राप्ति का उपाय बताया है। समय रहते अपना कल्याण कर लेना चाहिए ऐसी शिक्षा जीवों को दी गई है।

५– बुधजन कृत छहढाला की अपेक्षा दौलतराम कृत छहढाला का वर्णन क्रम अधिक व्यवस्थित है, क्योंकि इसमें पहले चतुर्गति के दु:खो का वर्णन है तथा चतुर्गति में भ्रमण के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का वर्णन है।

६– बुधजन कृत छहढाला में मोक्ष के कारण भूत रत्नत्रय का उल्लेख है। तथापि उसमें सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का संयुक्त रूप से एवं सम्यक्चारित्र का पृथक से वर्णन किया गया है।

७– दोनों कवियों की रचनाओं में केवल दो छन्दों को छोड़कर शेष में पूरा-पूरा साम्य है। छन्दों की तालिका निम्न प्रकार है:—

बुधजन कृत छहढाला के छन्द	दौलतराम कृत छहढाला के छन्द
प्रथम ढाल में—चौपाई छन्द	प्रथम ढाल में—चौपाई छन्द
द्वितीय ढाल में—जोगीरासा छन्द	द्वितीय ढाल में—पद्धड़ि छन्द
तृतीय ढाल में—पद्धड़ि छन्द	तृतीय ढाल में—जोगीरासा
चतुर्थ ढाल में - सोरठा छन्द	चतुर्थ ढाल में—ढोला
पंचम ढाल में—चाल छन्द	पांचवीं ढाल में—चाल छन्द
षष्ठ ढाल में—अहोजगत् गुरु की चाल	छठी ढाल में—हरिगीतिका

८– बुधजन कृत "छहढाला" में जैसा आत्म–उद्बोधन है, वैसा दौलतराम कृत "छहढाला" में नहीं मिलता। उदाहरण के लिए—

जब चितवत अपने मांहि आप, हूं चिदानन्द नहिं पुण्य-पाप ।
मेरा नाहीं है राग-भाव, ये तो विविधवश उपजे विभाव[1] ॥

९– छठी ढाल का प्रारम्भ करते हुए "बुधजन" ने मुनि-दीक्षा लेने वाले व्यक्ति का जो सुन्दर चित्र खींचा है वह पढ़ने योग्य है। ग्रन्थ की समाप्ति करते हुए बुधजन ने भव्य-जीवों का ध्यान एक बार फिर सम्यक्त्व की ओर आकर्षित किया है 'सम्यग्दर्शन सहित नर्क में रहना अच्छा है परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना देव व राजा आदि की मनुष्य पर्याय भी बुरी है।[2]" कितना भाव-पूर्ण संबोधन है। पहली ढाल में जो बारह-भावनाओं का वर्णन किया है। वह तो निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से अनुपम है। आत्म-हितैषियों द्वारा मनन-पठन योग्य है।

१०– दोनों ही कवियों ने अपनी-अपनी छहढाला नामक रचनाओं में सम्पूर्ण जैन वाङ्मय का सार भरकर "गागर में सागर" भरने की उक्ति को चरितार्थ कर दिया है। इस दृष्टि से ये दोनों अनुपम कृतियां है। जो व्यक्ति और समाज दोनों को मांजकर उनमें शक्ति के आध्यात्मिक स्रोत उन्मुक्त कर सकती है।

श्री दि. जैन मन्दिर लूणकरण पांड्या पचेवर का रास्ता, जयपुर के ग्रन्थ भंडार का अवलोकन करते समय द्यानतराय, बुधजन व दौलतराम के अतिरिक्त पं. काशीराम (किशन पंडित) की छहढाला भी हमारे देखने में आई थी। इस रचना का भली भांति अवलोकन करने पर विदित हुआ कि साहित्यिक दृष्टि से यह रचना उत्तम कोटि की नहीं है। रचना अत्यन्त लघुकाय है। कवि ने रचनाकाल वि. सं. १८५२ दिया है। ये बुधजन कवि के समकालीन ही हैं। जो भी हों इन चारों कवियों की कृतियों में सर्वाधिक ख्याति दौलतराम कृत छहढाला की है। दूसरे नम्बर पर "बुधजन" की छहढाला आती है। शेष दो रचनाएं प्रसिद्धि को प्राप्त न हो सकीं। फिर भी यह निश्चित है कि ढाल के रूप में काव्य-रचना उस युग की एक विशेष काव्य-विधा थी।

१– बुधजन : छहढाला, तृतीय ढाल, पृ. संख्या २, संख्या पृ. ३४, सुषमा प्रेस सतना प्रकाशन।

२– भला नरक का वास, सहित समकित जे पाता।
अरे बने जे देव, नृपति, मिथ्यामत माता ॥

बुधजन : छहढाला, छठी ढाल, पद्य सं. ८, पृ. सं. ३८ सुषमा प्रेस सतना प्रकाशन।

कविवर बुधजन ने अपनी इस कृति की प्रत्येक ढाल के अन्त में अपने नाम का उल्लेख किया है। ग्रन्थ के अन्त में कवि ने अपने नाम व रचनाकाल का उल्लेख इस प्रकार किया है:—

"हे बुधजन तू अपने चित्त में करोड़ों बातों की एक बात यह रखना कि मन, वचन, काय की शुद्धि पूर्वक सदा जिनमत की शरण ग्रहण करना ही प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है।[1]

तीनों छहढाला ग्रन्थों के मंगलाचरण की आश्चर्य कारिणी समानता इस बात की प्रतीक है कि तीनों ग्रन्थों के रचयिता एक ही परम-तत्व-वीतरागता के उपासक थे।

५—बुधजन विलास

बुधजन विलास में कवि की स्फुट कविताओं एवं पदों आदि का संकलन है। इन्हें पढ़कर प्रत्येक सहृदय व्यक्ति आत्मविभोर हो उठता है। इनका संकलन वि. सं. १८९२ में किया गया था। कृति के अवलोकन से विदित होता है कि कविता पर उनका असाधारण अधिकार था। उनकी काव्य कला हिन्दी साहित्य-संसार में निराली छटा को लिये हुए है।

कवि की रचना प्रायः वैराग्य रस से परिपूर्ण है और बड़ी ही रसली एवं मन-मोहक हैं। इसको पढ़ते ही चित्त प्रसन्न हो उठता है और छोड़ने को जी नहीं चाहता। इसके अध्ययन और तदनुकूल प्रवृत्ति करने से मानव-जीवन बहुत कुछ ऊंचा उठ सकता है। वास्तव में कविवर बुधजन की काव्य-कला का विशुद्ध लक्ष्य आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक की सच्ची सेवा करना रहा है। जो अज्ञानी मानव पाप पंक में निमग्न है, विषय-वासना के दास हैं, तथा आत्मपतन की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उन्हें सम्बोधित करके सन्मार्ग पर लगाने का कवि ने भरसक प्रयत्न किया है। कविता के उच्चादर्श का पता बुधजन-विलास की कविताओं के अध्ययन से

1— कोटि बात की बात अरे बुधजन चित धरना।
मन व तन शुद्ध होय गहो जिन मत का सरना॥
ठारासे पंचास अधिक नव संवत् जानो।
तीज शुक्ल वैशाख ढालषट् शुभउपजानो॥
बुधजनः छहढाला, छठीढाल, पद्य संख्या १०, पृ. सं. ३९ सुषमा प्रेस सतना प्रकाशन

सहज में ही चल जाता है। उनमें लोक-रंजन या ख्याति–लाभ–पूजादि को कोई स्थान नहीं है।

अलंकार तथा प्रसाद गुण से विशिष्ट होने के साथ–साथ उक्त रचना सरल, सरस एवं गम्भीर अर्थ को लिये हुए हैं। कविता में कहीं–कहीं उर्दू, गुजराती अपभ्रंश, राजस्थानी, ब्रज आदि भाषाओं के शब्दों का यथोचित समावेश किया गया है। इसमें भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखी गई कविताओं का सुन्दर संकलन है। इसमें निम्नलिखित रचनाएं संग्रहीत हैं, जिनके शीर्षक इस प्रकार हैं—[1]

१	विचार पच्चीसी	—	२५ पद
२	दर्शन पच्चीसी	—	२५ पद
३	अरहंत देव की स्तुति देव दर्शन स्तुति	—	४ पद
४	दर्शनाष्टक	—	८ पद
५	ढाल त्रिभुवन गुर स्वामी की	—	७ पद
६	पूजा के दोहे	—	६ पद
७	दर्शन के पद	—	८ पद
८	ढाल मंगल की	—	४ पद
९	बिनती पद	—	१२ पद
१०	बिबुध, छत्तीसी	—	३६ पद
११	द्वादशानुप्रेक्षा	—	१४ पद
१२	शुद्धात्मा–जखड़ी	—	८ पद
१३	सम्यकत्व–भावना	—	१० पद (कवि रइधू की सम्मत्त भावना का हिन्दी पद्यानुवाद।
१४	सरस्वती पूजा	—	१८ पद
१५	पूजाष्टक	—	९ पद
१६	शारदाष्टक	—	८ पद
१७	गुरु बिनती	—	१४ पद
१८	चौबीस ठाणा	—	५० पद
१९	स्फुट पद	—	१० पद
२०	जिनोपकार स्मरण स्तोत्र	—	२० पद

---

१ — बुधजनः बुधजन विलास शास्त्र भण्डार, दि० जैन मन्दिर, सोनकच्छ म. प्र. वि० सं. १९६६, हस्तलिखित प्रति।

२१	दोष भाषणी स्तोत्र भक्ति जाने की विनती	—	५२ पद
२२	उपदेश छत्तीसी	—	३६ पद
२३	वचन-बत्तीसा	—	३२ पद
२४	बोध-द्वादशी	—	१२ पद
२५	ज्ञान-पच्चीसी	—	२५ पद
२६	नंदीश्वर-जयमाला भाषा	—	२१ पद
२७	विराग भावना	—	५२ पद
२८	पद	—	२३५ पद

बुधजन विलास में प्राप्त उपर्युक्त विषय श्री दि० जैन मन्दिर सोनकच्छ (म. प्र.) से प्राप्त हस्त-लिखित प्रति के आधार से उल्लिखित हैं। उक्त ग्रन्थ के लिपि कर्ता बृजलाल हैं। हस्तलिखित ग्रन्थ संवत् १९६६ मगसिर सुदी दसवीं को लिखकर पूर्ण हुआ था। बुधजन-विलास की ही एक हस्त-लिखित प्रति हुकुमचन्द जी एम. ए. के सौजन्य से दि. जैन मारवाड़ी मन्दिर ट्रस्ट से प्राप्त हुई थी। इसमें उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त कुछ विषय और भी हैं वे हैं—[1]

१. पूजन पहली पढ़ने के दोहा
२. समकित जखड़ी
३. लघु श्रावकाचार बत्तीसी

इस प्रकार कुल ३१ संख्यक संक्षिप्त रचनाओं का सुन्दर संकलन बुधजन विलास में दृष्टि गोचर होता है। इनमें कुछ रचनाएं तो इतनी बड़ी हैं कि वे स्वयं एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में संकलित की जा सकती हैं। बुधजन विलास की कविताएं काव्य-कला की दृष्टि से संपूर्ण रीतियों, शब्दालंकार एवं अर्थालंकार से परिपूर्ण हैं। इसमें स्थान-स्थान पर अनुप्रास और यमक की झलक भी दिखाई देती है। छन्दों की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। इसमें लगभग ५२ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं :-

(१) सोरठा (2) दोहा (३) ढाल त्रिभुवन गुरुस्वामी की (४) ढाल करुनाल्योजी की (५) त्रिभंगी छन्द (६) ढाल मंगल की (७) ढाल नोमंग की (८) चौपाई (९) गीता छन्द (१०) पद्धड़ि छन्द (११) चौपाई छन्द (१२) मरहठी छन्द (१३) कुण्डलिया (१४) अडिल्ल (१५) सम्यकज जोगिता (१६) राग भैरू (१७) भैरू की वंचरी (१८) भैरवी (१९) षट्ताल तितालो (२०) रागपढा (२१) राग रामकली (२२) राग ललित (२३) विलावल कनड़ी (२४) अलहिया

---

1. कवि बुधजन: बुधजन विलास, हस्तलिखित प्रति, दि. जैन मारवाड़ी मन्दिर ट्रस्ट, इन्दौर।

विलावल (२५) आसावरी (२६) राग-सारंग (२७) राग लुहरी सारंग (२८) पूरवी ताल (२९) राग धनाक्षी (३०) राग गौरीताल (३१) राग ईमन (३२) राग दीपचन्दी (३३) काफी कनड़ी (३४) कनड़ी जलद (३५) झंझोटी (३६) राग जंगला (३७) राग अहिंग (३८) राग खंभावत (३९) राग परज (४०) राग कांहरो (४१) राग अभाणो (४२) राग केदारो (४३) सोरठा इकतालो (४४) सोरठ जलद (४५) राग विहागड़ो (४६) राग विहंग (४७) राग जे जैवंती (४८) मालकोष (४९) राग कालिंगड़ो (५०) गजल रखता (५१) राग मल्हार (५२) मल्हार रूपक।

भाषा-बुधजन विलास की भाषा ब्रज मिश्रित राजस्थानी है। कवि, राजस्थान के प्रमुख नगर जयपुर के निवासी थे। जयपुर उस समय हिन्दी जैन साहित्य का प्रमुख केन्द्र था। कारक रचना में ब्रज की विशेषता पाई जाती है। कवि की इस रचना में संयुक्त वर्णों को स्वर विभक्ति के द्वारा पृथक् करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। यथा-सरव (सर्व) जनम (जन्म) खेतर (क्षेत्र) सुभाव (स्वभाव) सबद (शब्द) परतीति (प्रतीति) आतमा (आत्मा) पदारथ (पदार्थ) दरस (दर्श) तत्वारथ (तत्वार्थ) सरधान (श्रद्धान)। इसी प्रकार–

संयुक्त वर्णों को सरल बनाने की पद्धति भी मिलती है। यथा स्तुति का (थुति) स्वरूप का (सुरूप) युति का (दुति) जन्ममरण का (जामन-मरण) स्थान का थान इत्यादि।

मुहावरों व लोकोक्तियों के प्रयोग में अन्यान्य हिन्दी कवियों की भांति बुधजन ने भी भाषा के सौंदर्य का ध्यान रखते हुए उनके सफल प्रयोग किये हैं। यथा–

निंदक सहजे दुःख लई।
वन्दक लई कल्याण।
डूबत जलधि जहाज।
कहा कमाई करत है गुड़ी उड़ावन हार।
समता नीर बुझाय।
बैठे ज्ञान जहाज में त उतरे भवपार।

बुधजन विलास उर्दू एवं फारसी के शब्द जैसे इलाज, ख्याल, सलाह, अरज, पीर, सिरताज, मतलब, दलगीर, दुनियां, जाहर, जहांन, मजा इत्यादि मिलते हैं।

छन्द विधान-बुधजन विलास में कवि ने मात्रिक व वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों के प्रयोग किये हैं। मात्रिक छन्दों में दोहा, सोरठा, चौपाई, सवैया आदि छन्द प्रमुख हैं। वर्णिक छन्दों में कवि ने अनेक छन्दों के सफल प्रयोग किये हैं, जो उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है। उपर्युक्त तालिका कवि के छन्द ज्ञान का स्पष्ट परिचय देती है।

प्रस्तुत संग्रह में स्थान-स्थान पर अनुप्रास और यमक की झलक भी दिखाई देती है। इस में यद्यपि सभी रचनाएं भाव, भाषा, छन्द, अलंकार आदि की दृष्टि से उत्तम हैं परन्तु उन सब में विवेचित रचनाएं बड़ी ही चित्ताकर्षक जान पड़ती है। कवि अध्यात्म व भक्ति रस के कवि थे अतः उनके कतिपय भक्ति परक पद प्रस्तुत हैं :-

पद-

उत्तम नरभव पायके मति भूले रे रामा ।।टेक।।
कीट पशु का तन जब पाया, तब तू रह्या निकाया।
अब नरदेही पाय सयाने क्यों न भजे प्रभु नामा ।।१।।
सुरपति याकी चाह करत उर, कब पाऊं नर जामा।
ऐसा रतन पायके भाई, क्यों खोवत बिन कामा ।।२।।
धन जीवन तन सुन्दर पाया, मगन भया लखि भामा।
काल अचानक झटिके खायगा, परे रहेंगे ठामा ।।३।।
अपने स्वामी के पद-पंकज, करो हिये बिसरामा।
मेटि कपट भ्रम अपना बुधजन, ज्यों पावो शिवधामा[1] ।।४।।

इसी प्रकार के एक अन्य पद में कितनी प्रबोध पूर्ण वाणी में कवि कहता है-

संसार एक बाजार है और मनुष्य उसका एक व्यापारी है। व्यापारी बाजार में जाता है और सौदा खरीदता है। जो व्यापारी सौदे की पारखी होता है वह हमेशा ऐसा सौदा खरीदता है, जिसमें उसे अधिकाधिक लाभ हो। हानि पहुंचाने वाले सौदे का वह स्पर्श भी नहीं करता। परन्तु जिस व्यापारी को अच्छे-बुरे माल की परख नहीं होती वह खराब सौदा भी खरीद लेता है। फल यह होता है कि वह हानि उठाता है और कुशल व्यापारी अपनी व्यापारिक कुशलता के कारण दिन-प्रतिदिन प्रगति करता है और व्यापार में पूर्ण सफलता प्राप्त करता हुआ सुख और शान्ति का अनुभव करता है। कविवर बुधजन की दृष्टि में संसार एक बाजार है और उसका प्रत्येक मनुष्य एक व्यापारी है। इस संसार-बाजार में मानव-व्यापारी को सुकृत का सौदा करना है। ऐसा करने पर ही वह अपने जीवन में लाभ उठा सकेगा। जीवन का शास्वत आनन्द ले सकेगा। इसके लिये मानव-व्यापारी को प्रति-क्षण अपनी विवेक-बुद्धि जागृत रखनी है। उसे अतीत के घाटे के सौदे पर, वर्तमान में सुकृत के सौदे पर और भावी जीवन को परमानन्दमय एवं पूर्ण निराकुल बनाने के लक्ष्य पर

---

1. बुधजनः बुधजन विलास,पद्य संख्या 66, पृ. संख्या 34, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, 161/1 हरीसन रोड, कलकत्ता प्रकाशन।

सतर्कता से दृष्टि रखनी है। एक क्षण का प्रमाद उसे अनन्त घाटे का सौदा करा सकता है। कवि स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहता है। हे आत्मन्! तू इस संसार रूपी बाजार में परमार्थ के लिये, आत्म-कल्याण के लिये सुकृत का सौदा करले-सम्यक् आचार का पालन कर। तूने सौभाग्य से सर्वश्रेष्ठ सद्गृहस्थ के कुल में जन्म लिया है और इस पर भी तुझे वीतराग मार्ग पर चलने का सुअवसर मिला है। फिर भी रे मूढ़ आत्मन्! तू इस सुयोग को क्यों क्षणिक एवं विनश्वर भोग-विलास में बिताये दे रहा है? हे आत्मन्! मोहनिद्रा में पड़े-पड़े तुम्हें चिरकाल व्यतीत हो गया। तुम्हें पता नहीं है कि कर्मचक्र किस प्रकार तुम्हारे आत्म-गुण रत्नों की लूट कर रहा है। जागो, अब भी नहीं जाग रहे हो! जीवन व्यापार में लाभ उठाने के इच्छुक प्रत्येक मानवात्मा के लिये कविवर की यह पवित्र प्रेरणा न मालूम कब तक स्फूर्ति प्रदान करती रहेगी।[1]

कविवर बुधजन के पूर्ववर्ती व परवर्ती अनेक हिन्दी के कवियों ने विलास नाम से रचनाएं की हैं। सच तो यह है कि १६वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक के कवियों में इस प्रकार की रचना करने की एक परम्परा ही चल पड़ी थी। विलास नामक रचनाओं की परम्परा सम्बन्धी संक्षिप्त-तालिका कालक्रमानुसार निम्न प्रकार है :-

---

१. करले हो जीव, सुकृत का सौदा करले।
परमारथ कारज करले हो॥
उत्तम कुल को पायक, जिनमत-रतन लहाय।
भोग-भोग वे कारने, क्यों शठ देत गमाय॥
व्यापारी बन आइयो, नर-भव-हाट-मंझार।
फलदायक व्यापार कर, नातर विपति-तयार॥
भव अनन्त धरतो फिरयो, चौरासी बन मांहि।
अब नरदेहीं पायकें, अघ खोवे क्यों नाहिं॥
जिनमुनि आगम परखकें, पूजो करि सरधान।
कुगुरु, कुदेव के मानवे, फिर्‌यो चतुर्गति थान।
मोह-नींद-मां सोवता, डूबो काल अटूट।
"बुधजन" क्यों जागो नहीं, धर्म करत है लूट॥
सौदा करले, करले हो जीव। सुकृत का सौदा करले हो॥

कवि बुधजन, बुधजन विलास, पद संख्या, २३५ जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, १६१/१ हरीसन रोड, कलकत्ता।

क्रमांक	प्रतिनिधि कवि	रचना का नाम	शताब्दी
१.	सुन्दर दास	सुन्दर-विलास	१६ वीं
२.	जगन्नाथ	भामिनी-विलास	१६ वीं
३.	बनारसीदास	बनारसी-विलास	१७ वीं
४.	द्यानतराय	द्यानत-विलास	,,
५.	जगतराम	[illegible]-विलास	,,
६.	जटमल विलाला	प्रेम-विलास	१७ वीं
७.	मुनि हर्ष समुद्र	भावना-विलास	,,
८.	यशोविजय	जस-विलास	,,
९.	लक्ष्मी बल्लभ	भावना-विलास	,,
१०.	खड्गसेन	आगम-विलास	१८ वां
११.	दौलतराम कासलीवाल	विवेक-विलास	,,
१२.	भूधरदास	भूधर-विलास	,,
१३.	बुधजन	बुधजन-विलास	,,
१४.	दौलतराम (द्वितीय)	दिलाराम-विलास	,,
१५.	भैया भगवतीदास	ब्रह्म-विलास	,,
१६.	विजय गच्छ	राज-विलास	,,
१७.	विनय विजय	विनय-विलास	,,
१८.	नथमल विलाला	जिनगुण-विलास	,,
१९.	दीपचन्द शाह	अनुभव-विलास	,,
२०.	वृन्दावन लाल	वृन्दावन-विलास	१९ वीं
२१.	ज्ञानानन्द	ज्ञानानन्द-विलास	,,
२२.	वृन्दकवि	वृन्द-विलास	,,
२३.	देवीदास	परमानन्द-विलास	,,
२४.	बखतराम	बुद्धि-विलास	,,
२५.	गुलाबराय	शिखिर-विलास	,,
२६.	मनरंगलाल	शिखिर-विलास	,,
२७.	लालचन्द	शिखिर-विलास	,,
२८.	परमानन्द जौहरी	चेतन-विलास	,,
२९.	पारसदास निगोत्या	पारस-विलास	,,
३०.	मोतीलाल	मरकत-विलास	,,
३१.	पं. लक्ष्मीचन्द	लक्ष्मी-विलास	,,
३२.	जोधराज कासलीवाल	सुख-विलास	,,

इनके अतिरिक्त यम विलास, शील विलास, सभा विलास, कारक विलास विवेक विलास, नयन सुख विलास इत्यादि अनेक रचनाएं विलास नाम से इन शताब्दियों में रची गईं। ये अधिकतर गेय रचनाएं हैं।

"बुधजन विलास" की प्रायः सम्पूर्ण रचनाएं गेय हैं। प्रायः सभी मुक्तक छन्द हैं। इन सभी रचनाओं को विषय की दृष्टि से मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) नीति प्रधान रचनाएं (२) सैद्धान्तिक रचनाएं (३) आध्यात्मिक रचनाएं। (नीति प्रधान रचनाओं में बुधजन सतसई, पद संग्रह, बुधजन-विलास आदि। आध्यात्मिक रचनाओं में छहढाला, तत्वार्थ बोध, वर्द्धमान पुराणसूचनिका, योगसार भाषा आदि। आध्यात्मिक रचनाओं में पंचास्तिकाय भाषा आदि हैं। इनके अतिरिक्त भक्ति प्रधान रचनाएं भी हैं, जिनके नाम हैं— नंदीश्वर जयमाला, इष्ट छत्तीसी, विमल जिनेश्वर स्तुति, वन्दना जखड़ी आदि।)

बुधजन विलास की दो प्रमुख कृतियों का परिचय निम्न प्रकार है।

६—दोष बावनी (१८६६ वि. सं.)

कवि की यह एक लघु कृति है। इसमें कुल ५२ पद्य हैं। यह चौपाई छन्द में लिखी गई है। इस रचना के निर्माण में कवि का लक्ष्य यह रहा है कि मनुष्य पाप कार्यों से सदा बचता रहे क्योंकि पाप कार्यों का फल अन्ततः दुःख रूप ही होता है। इन्हीं पाप कार्यों के कारण जीवों को खोटी गतियों में जन्म लेना पड़ता है।

कवि ने बड़े ही सुन्दर ढंग से दुर्जन के लक्षण बताये हैं वे लिखते हैं:— दुर्जन व्यक्ति कभी प्रभु का नाम लेना नहीं चाहता जबकि सज्जन पुरुष प्रभु का नाम सुनते ही प्रसन्न हो जाता है। सच्चे व झूठे देवी-देवताओं की परीक्षा न कर सकने के कारण दुर्जन पुरुष दुगति के पात्र होते हैं। दुर्जन पुरुष भक्ष्य, अभक्ष्य का, धर्म, अधर्म का। जाति कुजाति का अन्तर नहीं समझते। पांचों इन्द्रियों के विषय भोगों में दिन-रात लीन रहते हैं। रात-दिन खोटे धंधों में व्यस्त रहते हैं। धर्म चर्चा में गूंगे बन जाते हैं। नाटक-सिनेमा, नाच-गाना आदि में रस लेते हैं। रातभर जागते हैं। कभी त्याग करते नहीं। कदाचित् दानादि देते भी है तो मान बड़ाई के लिए देते हैं। श्रद्धालु धर्मी जनों की हंसी उड़ाते हैं।

रचना के अन्त में कवि ने अपने नाम का तथा रचना काल का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है[1]—

१— ठारेसे छाछठि कै साल, श्रावण सुदि दिन तीज विशाल।

शेष अगले पृष्ठ पर

७–जिनोपकार स्मरण स्तोत्र (१८७१ वि. सं.)

यह रचना एक प्रकार का स्तोत्र है। चौपाई, कुण्डलिया, सोरठा, छन्दों में लिखी गई है। भक्त जन अपने आराध्य के समक्ष अपने को दीन-हीन मानता है। वह अपने आराध्य में अनंत गुणों का समावेश देखता है। चौपाई छन्द में कवि कितनी महत्त्वपूर्ण बात कह रहा है :—

हे प्रभु ! जो लोग आपका भक्ति-भाव पूर्वक ध्यान करते हैं वे आपके समान बन जाते हैं। इसी कारण मैं आपका ध्यान करता हूं। मैं आपके अनंत उपकारों को जानता हूं।[2]

भक्त को इस बात का पूरा ज्ञान है कि स्त्री, पुत्र, आभूषण, धन, मकान ये सब वस्तुएं क्षणिक हैं अतः इनके उपजने व नष्ट होने में वह हर्ष-विषाद नहीं मानता। बहिरात्मा (भौतिकवादी) पन का त्याग कर अन्तरात्मा (ज्ञानी) बनता है। देहादि के स्वभाव को वह भली भांति जानता है कि ये देहादि क्षणिक हैं। वस्तुतः जीव मरता नहीं पर प्राणों के वियोग को व्यवहार में मरण कहा जाता है। भक्त ज्ञानी जन जानते हैं कि मनुष्य, देव, मंत्र तंत्र औषधि आदि भी इस जीव को मरने से बचा नहीं सकते। वह अपनी ज्ञान निधि को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। वह अपने को ही सम्बोधित करते हुए कहता है। हे आत्मन् ! तू तो ज्ञानस्वरूपी है। तथापि भ्रमवश जडवत् हो रहा हैं। रागी-द्वेषी बन कर विपत्तियों में फंसा हुआ है। इसमें तेरी ही भूल है। कवि एक सुन्दर दृष्टान्त देते हुए कहते हैं—यद्यपि दूध और पानी मिल जाते हैं तथापि वे दोनों अपनी अपनी सत्ता को नहीं छोड़ते। भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। उसी प्रकार ज्ञान दृष्टि से विचार करने पर शरीर व आत्मा की भिन्नता भी स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि शरीर जड़ है अचेतन है, नाशवान है, रूपी पदार्थ है जबकि आत्मा चेतन है, स्थायी है अरूपी है, ज्ञान, दर्शन शक्ति सम्पन्न है। अतः दोनों की एकता का कोई प्रश्न ही नहीं।

दोष बावनी पूरण भया, 'बुधजन' पढ़ियों रचिकै दया ॥

कवि बुधजन : बुधजन विलास (दोष बावनी) पाना नं. २१ हस्तलिखित प्रति के आधार से।

२– तुम जिन ध्यान लोक जो करे, सो निश्चय तुम तुलिता धरे।
तातें ध्यान करूं हूं तोय, तुम उपगार ज्ञान में जोय ॥

बुधजन : बुधजन विलास (जिनोपकार स्मरण स्तोत्र) पाना नं. १८–१९ हस्तलिखित प्रति से।

भक्त पुनः कहता है—अनादिकाल से यह जीव कर्मों से सम्बन्ध होने के कारण मलिन है तथापि हे जिनवाणी आपके प्रसाद से वह अत्यन्त निर्मल हो जाता है और पूर्ण ज्ञानमय हो जाता है।

८—इष्ट छत्तीसी

जैन काव्यों में पंच परमेष्ठी का महत्वपूर्ण स्थान है। पंच परमेष्ठियों को ही पंचपरमगुरु माना गया है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु (मुनि) ये पंचपरमेष्ठी हैं। अरहंत को जिन या जिनेन्द्र भी कहते हैं। उनका सौंदर्य प्रेरणा का अक्षय पुंज है। जैन धर्मानुयायी सर्व प्रथम प्रातःकाल उठते ही पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हैं। कविवर बुधजन ने इष्ठ छत्तीसी ग्रन्थ में मंगलाचरण के रूप में अरहन्त की ही भक्ति की है। वे लिखते हैं:—

"मैं श्री अरहन्त को प्रणाम करता हूं। दयामय धर्म को नमस्कार करता हूं तथा निर्ग्रन्थ (परिग्रह रहित) गुरु (आचार्य, उपाध्याय साधु) को नमस्कार करता हूं।[1]

मंगलाचरण के पश्चात् अरहंत परमेष्ठी के ४६ गुण, सिद्ध परमेष्ठी के ८ गुण, आचार्य परमेष्ठी के ३६, उपाध्याय परमेष्ठी के २५ गुण तथा साधु परमेष्ठी के २८ गुणों का विस्तार से विवेचन किया है।

ग्रन्थ के अन्त में कवि कहता है कि:—

"मैंने यह इष्ट छत्तीसी ग्रन्थ साधर्मी जनों के नित्य पठन-पाठन हेतु बनाया है। हित-मित शिवपुर पंथ प्रदाता पंचपरमेष्ठी के गुणों का वर्णन मुझ अल्प मति (बुधजन) द्वारा किया जाता है।[1]

यह रचना मुख्यतः सोरठा और दोहा छन्दों में लिखी गई है।

९—बुधजन सतसई (वि. सं. १८७९)

यह कविवर बुधजन की लोक प्रिय काव्य रचना है। कविवर बुधजन नीति-काव्य निर्माता के रूप में हिन्दी जैन साहित्य में ख्याति प्राप्त हैं। जैन रचनाएँ

१— प्रणमूं श्री अरहंत, दया कथित जिनधर्म को।
गुरु निरग्रन्थ महंत, और न मानूं सर्वथा॥
बुधजन : बुधजन विलास (इष्ट छत्तीसी) पाना १३, हस्तलिखित प्रति से।

१— साधरमी भव पठन को, इष्ट छत्तीसी ग्रन्थ। शेष अगले पृष्ठ पर

भारतीय नीति काव्य की अक्षय राशि हैं। जैन धर्म की आचार प्रधानता के कारण जैन साहित्य में भी नीति उक्तियां प्रधान लक्ष्य बनकर आई हैं। मध्यकालीन हिन्दी काव्याकाश में तुलसी, बिहारी, रहीम व वृन्द के समान बनारसी दास, द्यानतराय, भूधरदास, बुधजन आदि जैन कवि भी उन नक्षत्रों में से हैं जो अपने विवेक-आलोक से अज्ञानान्धकार से भूले बटोहियों का पथ प्रशस्त करते रहे हैं तथा आगे भी करते रहेंगे।

कवि की नीति सम्बन्धी प्रसिद्ध रचना बुधजन सतसई एवं अन्य रचनाओं का अध्ययन प्रस्तुत करने के पूर्व नीति शब्द की व्याख्या प्रस्तुत करना आवश्यक है। वह निम्न प्रकार होगी—

नीति–शब्द प्रापणार्थक धातु "नी" (णीञ्)[1] तथा भावार्थक प्रत्यय (क्तिन्[2] ति के संयोग स निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है नयन (ले जाना) अथवा प्रापण (पहुंचाना) परन्तु आज कल यह प्रायः उक्ति अर्थ में प्रयुक्त होता है।

हिन्दी के कवियों ने नीति शब्द का प्रयोग सर्वत्र उक्ति अर्थ में ही किया है। हाल कवि ने प्राकृत भाषा में 'गाथा सप्तशती' की रचना ईसा की प्रथम द्वितीय शताब्दी के लगभग की थी। उसी के अनुकरण पर मुक्तक काव्य में सतसई की रचना हिन्दी में होने लगी। सर्वाधिक श्रेय 'बिहारी सतसई' को प्राप्त हुआ। शृंगार की रचना होते हुए भी यह इतनी लोक-प्रिय हुई कि इसके अनुकरण पर, विक्रम सतसई, मतिराम सतसई, वृन्दसतसई, वीर सतसई आदि अनेक सतसई ग्रन्थ लिखे गए हैं।[3]

प्रस्तुत रचना भी इन्हीं सतसई ग्रन्थों की पद्धति पर ७०२ दोहों में लिखी गई है। इस सरस नीति पूर्ण रचना में देवानुराग शतक, सुभाषित नीतिः उपदेशधिकार और विराग भावना ये चार प्रकरण हैं।

प्रथम–देवानुराग–शतक भक्ति प्रधान है। इस खंड में कवि ने १०० दोहे लिखे हैं। दास्य–भाव की भक्ति अपने आराध्य के प्रति प्रगट की गई है। अपनी आलोचना करना और जिनेन्द्र की महानता को व्यक्त करना ही कवि का लक्ष्य है

पिछले पृष्ठ का शेष

अल्प बुद्धि बुधजन रच्यो, हितमित शिवपुर पंथ ॥

बुधजन :, इष्ट छत्तीसी, पाना १४ हस्तलिखित प्रति से।

१– णीञ् प्रापणे, पाणिनिः सिद्धान्त कौमुदी, पृ. सं. ४७० ई. सन् १९३८ निर्णय-सागर प्रेस, बम्बई।

२– 'स्त्रियां क्तिन' पाणिनी, अष्टाध्यायी, ३-३-९४ निर्णय सागर प्रेस, बंबई

३– शर्मा, राजनारायण एम. ए. मध्यकालीन कवि और उनका काव्य, पृष्ठ संख्या ?

अतः वह कहता है:—

हे प्रभु ! मेरे अवगुणों की ओर ध्यान मत दो क्योंकि मेरे अवगुणों की गिनती नहीं है, मैं अवगुणों का धाम हूं। मैं पतित हूं और आप पतितउद्धारक। अतः मुझ जैसे पतितों का काम बना दीजिये।[4]

द्वितीय–सुभाषित खण्ड–में ३०० दोहे हैं। ये सभी दोहे नीति विषयक हैं। लोक मर्यादा के संरक्षण के लिए कवि ने अनेक हितोपदेश की बातें लिखी हैं। कबीर तुलसी, रहीम, और वृन्द के दोहों से इस विभाग के दोहे समानता रखते हैं। इस विभाग के अनेक दोहे नीति के निदर्शन हैं। यथा–

"योग्य अवसर पर योग्य ही वचन बोलना चाहिये। जिस प्रकार पानी यदि सावन, भादों में बरसता है तो उससे सभी को शान्ति मिलती है। जो लोग योग्य अवसर के बिना बोलते हैं उनका मान घटता है, जैसे बादल यदि कार्तिक मास में बरसते हैं तो सभी उनको बुरा कहते हैं, कोई भी उनकी सराहना नहीं करता।[3]" इत्यादि—

तृतीया–उपदेशाधिकार में 200 दोहे हैं। इस खंड में विविध विषयों का क्रमबद्ध वर्णन है। विद्या-प्रशंसा, मित्रता और संगति, जुआ-निषेध, शिकार-निन्दा, चोरी-निन्दा, परस्त्री-संग-निषेध शीर्षकों में यह खंड विभाजित है।

चतुर्थ-विराग भावना-खण्ड में वैराग्यवर्द्धक 202 दोहे हैं। नीतिकाव्य की दृष्टि से सुभाषित नीति तथा उपदेशाधिकार ही विशेष महत्वपूर्ण हैं। इस खण्ड में संसार की असारता का बहुत ही सुन्दर और सजीव चित्रण किया गया है। इस खण्ड के सभी दोहे रोचक और मनोहर हैं। सुभाषित नीति में तो विविध-विषयों का प्रायः कोई विशेष क्रम लक्षित नहीं होता, परन्तु उपदेशाधिकार के दोहे विद्या प्रशंसा आदि शीर्षकों में विभाजित है। इसके एक एक दोहे में जीवन को प्रगतिशील बनाने वाले अमूल्य सन्देश भरे हैं। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं।[2] यथा—

---

४. मेरे ओगुन जिन , मैं ओगुन को धाम।
पतित उद्धारक आप हो, करो पतित को काम।
बुधजनः देवानुरागशतक शीर्षक, बुधजन सतसई, पद्य सं. ७८, सनावद।

१. ओसर लखिके बोलिये, अथा बोगता बैन।
सावन भादों बरसतें, सब ही पावें चैन ॥११६॥
बोलिउठे ओसर बिना, ताका रहे न मान।
जैसे कार्तिक बरसतें, निन्दे सकल अहान ॥११७॥
बुधजनः बुधजन सतसई (सुभाषित नीति) प. सं. ११६–११७, सनावद।

2. बुधजनः बुधजन-सतसई, पद्य सं० १०८, 125, 223 (सनावद)

एक चरन हू नित पढ़ै, तो काटे अज्ञान ।
पनिहारी की लेज सौं, सहज कटे पाषाण ॥ 108 ॥
महाराज महावृक्ष की, सुखदा शीतल छाय ।
सेवत फल मासे न तो, छाया तो रह जाय ॥ 125 ॥
पर उपदेश करन निपुन, ते तो लखे अनेक ।
करे समिक बोले समिक, ते हजार में एक ॥ 223 ॥

इस खण्ड के कतिपय दोहे तो पंच तंत्र और हितोपदेश के श्लोकों का अनुवाद प्रतीत होते हैं । तुलसी, कबीर और रहीम के दोहों से भी कवि अनुप्राणित प्रतीत होता है ।

इन दोहों के मनन-चिंतन-स्मरण और पठन से आत्मा निर्मल होती है । हृदय पवित्र भावों से भर जाता है और जीवन में सुख-शान्ति का अनुभव होता है । दृष्टान्तों द्वारा संसार की वास्तविकता चित्रण करने में कवि को अपूर्व सफलता मिली है । वस्तु स्थिति का वास्तविक चित्र आंखों के सामने मूर्तिमान होकर उपस्थित हो जाता है । कतिपय दृष्टान्त प्रस्तुत हैं । यथा—

इस जीव का इस जगत् में वास्तव में कौन पुत्र है और कौन स्त्री ? किसका धन एवं परिवार है ? जिस प्रकार धर्मशाला में देश-विदेश के, विभिन्न जातियों के, विभिन्न धर्मों के लोग एकत्रित हो जाते हैं, परन्तु थोड़े ही समय के पश्चात् सब बिछुड़ जाते हैं । जिस सम्पत्ति के लिये यह मानव निरंतर कष्ट उठाता है, मरते समय वह भी साथ नहीं जाती, यहीं पड़ी रह जाती है । जिसे नाना प्रकार से खिलाया-पिलाया-सजाया-संवारा जाता है, वह देह भी यहीं पड़ी रह जाती है । इस संसार में जो भी आया है उसे एक न एक दिन अवश्य ही जाना होगा । जब राजा दशरथ, लक्ष्मण और राम जैसे बली एवं न्याय-नीति पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले पुरुष भी जीवित नहीं रह सके तो झूंठ, कपट आदि करने वाला तू कैसे चिरकाल तक जीवित रह सकेगा ?[1]

कवि की चुभती हुई उक्तियां हृदय में प्रविष्ट हो जाती है तथा जीवन के आन्तरिक-सौदर्य की अनुभूति होने लगती है । सतसई के एक-एक दोहे में कवि

---

१. को है सुत को है तिया, काको धन परिवार ।
आके मिले सराये में, बिछुरेंगे निरधार ॥५०३॥
परी रहेगी संपदा, धरी रहेगी काय ।
छलबलकर क्यों हूं ना बचै, काल झपट ले जाय ॥५१५॥
आया सो नाहीं रह्या, दशरथ लक्ष्मण राम ।
तू कैसे रह जायगा, झूठ कपट का धाम ॥५२३॥
बुधजनः बुधजन सतसई, पद्य सं. ५०३, ५१५, ५२३ प्र. संस्करण, सनावद ।

ने जीवन को गतिशील बनाने वाले अमूल्य संदेश भरे हैं। इसमें भक्तिमार्ग, सुभाषित नीति, उपदेश, विद्याप्रशंसा, वैराग्यभावना, आत्मानुभव के विषय में सात सौ दोहे लिखकर जिज्ञासुओं के लिए अपूर्व विज्ञान दिया है। इसमें बड़ी ही कला कुशलता के साथ अध्यात्म, वैराग्य और सदाचार की त्रिधारा प्रवाहित की गई है। 'इसकी रचना वि० संवत् १८७९ में हुई थी।'[1]

सतसई की रचना का उद्देश्य मानव को असत् से सत् की ओर ले जाने का प्रतीत होता है। ग्रन्थ की प्रशस्ति में कवि स्वयं लिखते हैं—

'भूख सहन करना पड़े तो कर लो। दरिद्रता सहन करना पड़े तो उसे भी सहन कर लो। लोकापवाद सहन करना पड़े तो उसे भी सहन कर लो, पर कभी भी निन्दनीय कार्य मत करो। इसी प्रकार एक और अन्य पद्य में कवि कहता है।'[2]

'मैंने यह रचना अपनी अन्तः प्रेरणा से ही बनाई थी, अन्य कोई विशिष्ट उद्देश्य नहीं था। न किसी की प्रेरणा से, न किसी की आशा से मैंने यह रचना की है, किन्तु केवल अपनी बुद्धि को परिमार्जित करने के लिए ही मैंने यह (रचनने की है[3]।

देवानुराग शतक में कवि अपने आराध्य को अनंतगुणों और रूपों वाला देखता है और अपने आपको उनका वर्णन करने में असमर्थ पाता है। चूंकि नर पर्याय बार-बार नहीं मिलती अतः वह इस अवसर को चूकना नहीं चाहता। वह अपनी प्रार्थना किसी के माध्यम से नही वरन स्वयं ही करना चाहता है। यथा

जो मैं कहाऊं और तें, तो न मिटै उरझार।
मेरी तो तोपैं बनी, तातैं करों पुकार[4] ॥

---

१. संवत् ठारा से असी, एक बरसते घाट।
ज्येष्ठ कृष्ण रवि अष्टमी, हूवो सतसई पाठ ॥
बुधजनः बुधजन सतसई, पद्य सं० ६९६, पृ०सं० १४५, प्र० संस्करण, सनावद।

२. भूख सहो दारिद सहो, सहो लोक अपकार।
निंदकाम तुम मतिकरो, यहै ग्रन्थको सार ॥
बुधजनः बुधजन सतसई, तृ० आवृत्ति, पृ०सं० ७४।६९९, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, प्रकाशन।

३. ना काहू की प्रेरणा, ना काहू की आस।
अपनी मति तीखी करन, बरन्यो वरन विलास ॥
बुधजनः बुधजन सतसई, तृ० आवृत्ति, पृ०सं. ७४/६९९, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई प्रकाशन।

४. बुधजनः बुधजन सतसई, पद्य संख्या १३ पृ०सं ३, प्र० संस्करण सनावद।

कवि अपने इष्ट को तनिक भी कष्ट देना नहीं चाहता, वह अपने कार्य को शीघ्र भी करना नहीं चाहता। वह तो यही चाहता है कि उसका कार्य सही रूप से हो जाये। रचना के अवलोकन से लगता है कि यह कवि की श्रेष्ठ रचना है। इसमें उत्तम कवियों की भांति अनुभूतियों का तीव्र व्यंजना है। संसार के प्रत्येक पहलू की व्यंजना बड़ी ही खुशी के साथ की गई है। उन्होंने सूर, तुलसी और मीरा की भांति अपने आराध्य को महान एवं स्वयं को क्षुद्र बताया है। वे लिखते हैं :-

हे प्रभु आप तो दीनानाथ हो और मैं दीन एवं अनाथ हूं। मुझे आपका सत्संग प्राप्त हो गया है अतः अब मुझे सम्पन्न एवं सनाथ करने में विलम्ब मत कीजिये।'[1]

हे प्रभु ! जगत्-जन तो स्वार्थ में लिप्त हैं। केवल आप ही निःस्वार्थ दिखते हो। अन्य जन पाप-परम्परा की बुद्धि में सहायक है, जबकि आप पापों को नाश करने वाले हों[2]।

हे प्रभु ! आप मेरे अवगुणों पर ध्यान मत दीजिए क्योंकि वे अनंत हैं। आप पतित उद्धारक हैं, अतः मुझ जसे पतितों का उद्धार कर दीजिए[3]।'

हे प्रभु ! मेरी कोई भौतिक अभिलाषाएं नहीं है, न मैं किसी प्रकार की कोई याचना ही करना चाहता हूं। मैं तो केवल यही चाहता हूं कि अपलक नेत्रों से केवल आपकी शान्त, वीतराग, नासाग्रदृष्टि, मुद्रा को देखता रहूं[4]।'

सच्ची आत्म सिद्धि की कितनी सरल, ललित व्यास्था इस पथ में है:-

एक देखिए जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल-विमल न विचारिये, यहे सिद्धि नहिं और[5]।।

डा० रामस्वरूप शास्त्री के शब्दों में :-

'हिन्दी का नीतिकाव्य, यद्यापि रचनाओं की संख्या, परिणाम, विषयवैविध्य

---

१. तुम तो दीनानाथ हो मैं हूं दीन अनाथ।
अब तो ढील न कीजिये, भलो मिल गयो साथ।।

२. और सकल स्वारथ सगे, बिन स्वारथ हो आप।
पाप मिटावत आप हो, और बढ़ावत पाप।।

३. मेरे अवगुन जिन गिनो, मैं आगुन को धाम।
पतित उद्धारक आप हो, करो पतित का काम।।

४. एही वर मोहि दीजिये, जाचूं नहिं कुछ और।
अनिमिष दृग निरखत रहूं, शान्त छबी चित-चोर।।

कवि बुधजनः बुधजन सतसई, पद्य सं० ४२,४८,७८,९५ प्र० संस्करण सनावद।

५. वही

और उपयोगिता की दृष्टि से संस्कृत के नीति–काव्य से कम नहीं, तथापि यह मानना ही पड़ता है कि विशेष प्रतिभाशाली कवियों की कमी के कारण वह संस्कृत के नीति काव्यों के समान सरस, चमत्कारपूर्ण और प्रभूविष्णु नहीं बन सका, फिर भी पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के नीति काव्यों से तो वह प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ ही है [1]

बुधजन सतसई का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन.–

बुधजन सतसई की भाषा व्रज मिश्रित राजस्थानी है, किन्तु उसका रूप साहित्यिक है। अतः इसमें आये हुए क्रिया पदों पर अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

क्रिया–

(१) सतसई में प्रयुक्त अधिकांश क्रियाएं कर्तरि प्रयोग में हैं।

(२) कुछ क्रियाएं कर्मणि प्रयोग में भी पाई जाती हैं, जिनके द्वारा क्रिया का कर्म स्पष्ट है, उनके कर्ता का उल्लेख नहीं मिलता।

उदाहरण–

(क) बंदत श्री महाराज[2]। पद्य संख्या २०

(ख) एक ठौर राजत अबल[3]। पद्य संख्या २३

(ग) भली बुरी निरखत रही[4]। पद्य संख्या २४

(घ) अरज गरज की करत हूं[5]। पद्य संख्या ३७

काल रचना—बुधजन सतसई में प्रयुक्त क्रियाओं में तीन अर्थ पाये जाते हैं, निश्चयार्थ, आज्ञार्थ तथा सम्भावनार्थ। निश्चयार्थ से भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों में कार्य होने की सूचना मिलती है। आज्ञार्थ वर्तमान तथा भविष्य-इन दो कालों में मध्यम पुरुष में आज्ञा तथा अन्य पुरुषों में स्वीकार-सम्मति सूचित करता है। सम्भावनार्थ उस क्रिया का द्योतन करता है, जहां कार्य सम्पन्न नहीं हुआ रहता। इस प्रकार से प्रयुक्त से छह काल सामान्य काल कहे जा सकते हैं। ये निम्न प्रकार हैं :—

(१) वर्तमान निश्चयार्थक

(२) भूत निश्चयार्थक

(३) भविष्य निश्चयार्थक

---

१. डा० राम स्वरूप ऋषिवेश: हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास, पृ.सं ६४१ दिल्ली प्रकाशन, दिल्ली १९६२।

२. बुधजन: बुधजन सतसई, पद्य सं० २० पृ० सं० ५ प्र० संस्करण प्रकाशन

३. बुधजन: बुधजन सतसई, पद्य सं. २३ पृ० सं ५ प्र० संस्करण, सनावद प्रकाशन

४. बुधजन: बुधजन सतसई, पद्य सं० ६ प्र० संस्करण सनावद प्रकाशन

५. बुधजन: बुधजन सतसई पद्य सं. ३७ पृ० सं ८ प्र० संस्करण प्रकाशन।

(४) वर्तमान आज्ञार्थक
(५) भविष्य आज्ञार्थक
(६) सम्भावनार्थक

इन छह कालों के अतिरिक्त सहायक क्रियाओं की सहायता से भी अन्य कालों की सृष्टि हुई है। इन्हें संयुक्त काल कह सकते हैं।

इस प्रकार विभिन्न कालों की दृष्टि में रखते हुए 'बुधजन-सतसई में प्रयुक्त समस्त क्रियाओं को निम्न वर्गों में विभाजित करके उनकी विवेचना की गई है।

(१) सामान्य क्रियाएं
(२) सहायक क्रियाएं
(३) पूर्व कालिक क्रियाएं
(४) संयुक्त क्रियाएं तथा
(५) क्रियात्मक संज्ञा

सामान्य क्रियाओं के अन्तर्गत (क) वर्तमान कालिक क्रियाएं (ख) आज्ञार्थक क्रियाएं (ग) भूतकालिक क्रियाएं (घ) भविष्य कालिक क्रियाएं आती है :

उदाहरण—

धातु+अहि – जा+अहि – जाहि (६३)
ओ+अहि – होहि (५२२)

धातु+ए :

लह+ए—लहै (४६)
मिल—ए—मिलै (३२६)
लख+ए—लखै (१११)
धातु+एँ :
पीड+एँ—पीडैं (५७७)
पूज+एँ—पूजैं (५२)
कर+एँ—करैं (१३४)
धातु+ओं :
देख+ओं—देखों (४२४)
अज+ओ—अजों (४६७)
जास+ओ—जासों (४६६)
धातु+अत
आव+अत—आवत
दे+अत—देत
धातु+ई :

ज्वार+ई—ज्वारी (४४६)
अमल+ई—अमली (४४६)
बार+ई—बारी (४४६)
धातु+ओ :
हर+ओ—हरो (५)
मेट+ओ—मेटो (७)
धातु+ओ—मिल्यो (१२)
राच+यो—राच्यो (१५)
पर+यो—पर्‌यो (१००)

इनके अतिरिक्त कृदन्त व तद्धित रूप भी पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। यथा—

कृदन्त रूप—

धातु+ऐन:
दा+एन—देन (७६)
धातु+आय:
लह+आय—लहाय (६३५)
बन+आय—बनाय (४४१)
ख+आय—खाय (३३५)
धातु+आइ:
छुड+आइ—छुड़ाइ (४४०)
धातु+सी:
जा+सी—जासी (५४०)
रह+सी—रहसी (५०७)
पाय+सी—पायसी (६३६)

तद्धित रूप—

शब्द+री:
रस+री—रसरी (५)
राव+री—रावरी (१६)
जेंव+रो—जेवरी (३३५)
शब्द तरें:
पग+तरें—पगतरे (३)
सब+तरें—सबतरें (३)
शब्द+तें:
गुरु+तें—गुरुतें (४३६)

कष्ट + तें—कष्टतें (५८१)
शब्द + आं : (भाववाचक में)
दुःख + आं—दुःखां (६६, ६८४)
सुख + आं—सूखां (६५७)
नरक + आं—नरकां (६६६)

इनके अतिरिक्त बुधजन सतसई में शब्दों को बदलने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। यथा—

स्थान का थान (१५, ११३)
सुस्थिर का सुथिर (३०, ६८)
सुस्थान का सुथान (४२६)

कहीं कहीं—श के स्थाय पर स किया गया है। यथा—

विशुद्धता का विसुद्धता (२५)
अशक्त का असक्त (८७)
विषय का विसय (६१)
अशुचि का असुचि (४५७)

रचना में कहीं—कहीं ठेठ हिन्दी के शब्द भी पाये जाते हैं यथा—

कर्म ठिगोरे ८४, ठाठ ५१३, ठौर ५३६, कुठोर (६२)

दान का संक्षिप्तीकरण किया गया है। यथा—

दान का दों (४१५)

बुधजन सतसई में संज्ञाएं तथा क्रियाएं ओकारांत हैं। इसमें का विभक्ति के स्थान पर को का प्रयोग देखा जाता है। यथा—

राजको (३६३) पढ़िवे को ४२८, संसारी को ५७५।

संक्षेप में इतना ही है कि—

भारतीय आर्य भाषा के मध्य एवं आधुनिक काल के संक्रांतिकाल में क्रियापद पर्याप्त रूप में विश्लेषणावस्था की ओर अग्रसर हुए और संयुक्त क्रियाओं का व्यवहार बढ़ा। आधुनिक काल में क्रिया पद प्रक्रिया तो और भी सरल हो गई। आधुनिक आर्य भाषाओं में तिङन्त रूप थोड़े हैं। इनमें कृदन्त रूपों को ही प्रधानता मिली है और संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बढ़ा है।[1]

"बुधजन सतसई" की भाषा ब्रज मिश्रित ढूंढारी (राजस्थानी) है, किन्तु उसका रूप साहित्यिक है। अतः उसमें आये हुए क्रिया पदों पर अध्ययन प्रस्तुत

---

१. राजकुमारी मिश्र : हिन्दुस्तानी त्रैमासिक भाग २५, अंक १–४ जनवरी दिसम्बर १९६४, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, पृ० सं० २१४।

किया गया है। इतना और ज्ञातव्य है कि (1) सतसई में प्रयुक्त अधिकांश क्रियाएं कर्तरि प्रयोग में हैं।

(२) कुछ क्रियाएं कर्मणि प्रयोग में भी पाई जाती हैं, जिनके द्वारा क्रियाओं का कर्म स्पष्ट है, उनके कर्ता का उल्लेख नहीं मिलता। इसमें फारसी आदि के तद्रूप भी प्राप्त होते हैं। यथा—

हुन्नर (२६७) माफिक (३६३) जिहाज (५६-६०) खुस्याल (२१२) बजार, हुकमी (२५८) (१४०)

कतिपय—राजस्थानी भाषा के शब्दों के प्रयोग में भी द्रष्टव्य हैं। यथा- मोसर (१२) अबार (१२) दुखां की खान (६६) मिनख (६४४) ओसर (१२) समझसी (३३०) खोसिलेय (२३५) पायसी (६३६) अनेक देशज शब्दों के प्रयोग पाये जाते हैं। यथा—

नातरि (२२१) आछी (२२१) बुगला (२२१) परेवा (३१५) भोत (४०५) आदि हिन्दी के तद्भव रूपों के प्रयोग भी पाये जाते हैं। यथा—

औगुन (७८) तिया, जुर (६१) सरबस (४७०) आन (६) रतन (१५) चितामनि (१५) घरी (२०) परगट (३२) मारग (४६) चरन (५६) अलप (३०७) निरवाह (६३) इत्यादि

कतिपय अपभ्रंश भाषा के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। यथा—

जुद्ध (१११) जुत्त (१४३) जदपि (२८६) इत्यादि।

कतिपय संस्कृत के शब्द भी द्रष्टव्य हैं। यथा—

विपदा। १४७) दीनानाथ (४२) पथ्यापथ्य (१४२) अतिथिदान (१७६) एक मात सुतभ्रात (१८०) विबुध (२६६) क्षुधा (२५) तृषा (२५) भवार्णव (७४) इत्यादि एकाधस्थलपर 'एवजुत' (एव+जुत) जैसे रूप भी मिलते हैं, जिनमें अरबी-हिन्दी का मिश्रण लक्षित होता है। भाषा में प्रायः छोटे-छोटे प्रचलित समस्त रूपों का ही प्रयोग किया गया है, परन्तु कहीं-कहीं प्रत्युग्रचित (१३६) दयाभिलाष (१३३) जैसे शब्दों के प्रयोग भी हैं, जो उनके संस्कृत ज्ञान को संसूचित करते हैं। कहावतों तथा मुहावरों के प्रयोग भी दिखाई देते हैं। यथा—तेता पांव पसारिये जेती लांबी सौर (२६१) ढील न कीजिए (४२) पर्यो रहू तुम चरनतट (४३) काटे पाप पहार (३३६) मेलों क्यों न कपूर में हींग न होय सुवास (३४२) पोलो घट सूधो सदा (३४१) सर्पन दूध पिलाइये विष ही के दातार (३८१) जीने से मरना भला (४०३) इत्यादि।

अलंकार योजना—

सतसई में तीनों प्रकार के अलंकार दिखाई देते हैं। शब्दालंकारों में छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, वीप्सा, लाटानुप्रास आदि का तथा अर्थालंकारों में उपमा, दृष्टान्त,

अर्थान्तर न्यास, रूपक, यथा-संख्य, उल्लेख तुल्य योगिता आदि का और उभयालंकार में संसृष्टि का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

शब्दालंकार

(१) 'गिरि गिरि प्रति मानिक नहीं, वन-वन चंदन नाहिं।' वीप्सा

(२) 'सुधर सभा में यों लखें, जैसे राजत भूप।' पद्य संख्या (२८६) छेकानुप्रास

(३) 'धन सम कुल सम धरम सम समवय मीत बनाय।' पद्य संख्या (४४६)

(४) 'दुराचारि तिय कलहिनी किंकर क्रूर कठोर।' पद्य सं. (२५१) वृत्यनुप्रास

अर्थालंकार—

(५) 'बक बत हित उद्यम करै, जो हैं चतुर विसेखि।' पद सं. (१५२ उपमा

(६) 'सत्यदीप बाती क्षमा, सीलतेल संजोग।' पद्य सं. (२००) रूपक

(७) भला किये करि हे बुरा, दुरजन सहज सुभाय।
पय पायें विष देत हैं, फणी महा दुखदाय॥ (१०४) दृष्टान्त

(८) 'जैसी संगत कीजिये, तैसा ह्वै परिनाम।
तीर गहे ताके तुरत, माला तें ले नाम॥ (३१६) अर्थान्तरन्याय

यह बात ध्यान देने की है कि उपमा, दृष्टान्त आदि अलंकारों से युक्त दोहे अधिकतर पूर्ववर्ती वाक्यों से प्रभावित हैं। मौलिक नहीं।

उभयालंकार—

१. नीतिवान नीति न तजें, सहें भूख तिस त्रास।
ज्यों हंसा मुक्ता विना, बनसर करे निवास॥ पद्य सं० (३२०)
(लाटानुप्रास, छेकानुसास, दृष्टान्त की संसृष्टि)

विधान-छन्द-शैली

समग्र रचना पुस्तक दोहों में है और छन्द-शास्त्र की दृष्टि से दोहे प्रायः निर्दोष हैं।

गुण-दोष-प्रसाद और माधुर्य रचना के प्रधान गुण हैं। कहीं-कहीं अप्रयुक्त तत्व दोष भी दृष्टिगत होता है।[1] निम्नांकित दोहे में विचित्र का प्रयोग 'बुद्धिमान' के अर्थ में किया गया है, परन्तु ये सब सामान्य स्खलन हैं, जिनसे सर्वथा मुक्त रहना कदाचित् किसी भी कवि के वश में नहीं। मुख्यदोष तो नीरसता है, जिनके कारण विषय की दृष्टि से उत्तम होने पर भी रचना, वृन्द सतसई के समान लोक-प्रिय न हो सकी।[2]

---

१. भयो यदा अपमान निज, भाषै नाहिं विचित्र।

२. डॉ० रामस्वरूप ऋषिकेश, हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास, पृ० ५५६ दिल्ली पुस्तक भंडार, दिल्ली।

रचना में यद्यपि विविधता है तथापि इस रचना का वृन्द सतसई आदि नीति ग्रन्थों के समान प्रचार-प्रसार न हो सका, यह परिताप का विषय है।

बुधजन सतसई : अनुशीलन

सतसई के नीति-सम्बन्धी अंशों पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि कवि ने केवल उपदेशात्मक ही नहीं, सामान्य नीति की भी अनेक उपयोगी बातों का वर्णन किया है। मुख्यतः 'बुधजन सतसई' एक सुन्दर नीति ग्रन्थ है। इसमें पांच प्रकार की नीतियों का समावेश है। वे इस प्रकार हैं :—

(१) वैयक्तिक नीति (२) पारिवारिक नीति (३) सामाजिक नीति (४) आर्थिक नीति (५) इतर प्राणि-विषयक नीति।

१. वैयक्तिक नीति—जैन रचनाओं में प्रायः शारीरिक सुखों की उपेक्षा ही दिखाई गई है, परन्तु बुधजन ने दुःखों से छूटने की प्रेरणा ही नहीं दी, रोग-निवारण के उपायों का उल्लेख भी किया है। कतिपय वैयक्तिक नीति सम्बन्धी दोहे उद्धृत हैं—

पट पनही बहु खीर गो, औषधि बीज अहार।
ज्यों लाभे त्यों लीजिये, कीजे दुःख परिहार[1] ॥
कोढ़ मांस, घृत जुर विषे, सूल द्विदल थो टार।
इग रोगी मैथुन तजो, नवां बान अतिसार[2] ॥
असत् वैन नहिं बोलिये, तातें होत बिगार।
वे असत्य नहिं सत्य हैं, जाते है उपकार[3] ॥
पुस्तक गुरु थिरता लगन, मिले सुथान सहाय।
तब विद्या पढ़िवां बने, मानुष गति परजाय[4] ॥
सींग पूछ बिन बैल है, मानुष बिना विवेक।
भख्य अभख्य समझे नहीं, भगिनी भामिनी एक[5] ॥

पारिवारिक नीति

कवि ने सुभाषित नीति में अनेक उपयोगी बातों का उल्लेख किया है। माता-पिता की सेवा तथा पातिव्रत पर तो सभी नीति-कवियों ने थोड़ा बहुत लिखा है, परन्तु बुधजन ने भाई के प्रति पुत्र और पत्नी से भी अधिक प्रेम तथा भानजे के प्रति सावधानता का उल्लेख किया है कतिपय पारिवारिक नीति सम्बन्धी दोहे उद्धृत हैं—

---

१. बुधजन सतसई, पद्य संख्या २३८ प्रथम संस्करण, सनावद।
२. वही, पद्य संख्या २७८
३. वही, पद्य संख्या ६७७
४. वही, पद्य संख्या ४२६
५. वही, पद्य संख्या ४३७।

निजभाई निरगुन भलो, पर गुनजुत किहि काम।
आगन दध निवाल लदि, डारा राखे थाम[1] ॥१८१॥
विद्यादयें कुशिष्य कों, करे सुगुरू अपकार।
लाख लड़ावो भानजा, खोसिलेय अधिकार[2] ॥२३५॥

सामाजिक नीति—

पातिव्रत पर तो प्रायः सभी नीति-कवि बल देते हैं, परन्तु पत्नी व्रत पर विशेष बल जैन कवियों की विशेषता है। तदनुसार बुधजन ने भी सामाजिक यौन-पवित्रता की रक्षा के लिये परस्त्री सेवन एवं वेश्या सेवन का निषेध किया है व इस विषय पर अनेक भावपूर्ण दोहे लिखे हैं। कतिपय सामाजिक नीति सम्बन्धी दोहे उद्धृत हैं—

अपनी परतख देखिके, जैसा अपने दर्द।
तैसा ही परनारिका, दुखी होत है मर्द[3] ॥४९१॥
हीन-दीन में लीन है, सेती अंग मिलाय।
लेती सरबस संपदा, देती रोग लगाय[4] ॥४७३॥

आर्थिक नीति—

यद्यपि बुधजन ने धन-जन्य सम्मान, तथा दारिद्र्य-जन्य अपमान का अनेक दोहों में सविस्तार उल्लेख किया है, तथापि उन्होंने चोरी, अन्याय, जुआ आदि साधनों में धन-संग्रह को बहुत बुरा कहा है। उनके मत में नीति का परित्याग नितान्त अनुचित है। आर्थिक नीति सम्बन्धी पद्य उद्धृत हैं—

नीति तजे नहि सत्पुरुष, जो धन मिले करोर।
कुलतिय बनै न कंचनी, भुगते विपदा घोर[1] ॥३१८॥

इतर प्राणि विषयक नीति

'प्राण सबको प्यारे होते हैं और अहिंसा जैनों का मुख्य सिद्धान्त है, इसलिये बुधजन ने मांस-भक्षण तथा आखेट का प्रबल निषेध किया है। इसके अतिरिक्त मद्यपान के त्याग के ये हेतु प्रस्तुत किये हैं कि—उसके नशे में मनुष्य गोपनीय बातें प्रकट कर देता है। सुधबुध भूल कर गलियों में गिर कुत्तों से मुख चटवाता है मद्य—निर्माण में होने वाली हिंसा के पाप का भागी होता है।[2]

---

१. बुधजन सतसई, पद्य सं. १८१।
२. से ४. वही, पद्य सं १८१, १२३५, ४९१, ४७३
५ बुधजन सतसई पद्य सं. ३१८
६. वही, ४८३

उपर्युक्त नीतियों के अतिरिक्त अन्य नीतियां भी रचना में देखी जा सकती हैं। यथा-मिश्रित नीति आदि। इसका प्रशंसनीय है परन्तु दैव के समक्ष उसकी दाल नहीं गलती। उसमें वह शक्ति नहीं कि उद्यमी को सुख, विद्या, आयु, धन आदि से प्रसन्न कर सके। पूर्व जन्म के कर्म इतने प्रबल हैं कि शिशु जब गर्भ में होता है तभी से उसके लिये ये वस्तुएं निश्चित हो जाती हैं :—

सुख दुःख विद्या आयु धन, कुल बल वित्त अधिकार।
साथ गर्भ में अवतरे, देहधरी जिहि बार[1] ॥२४९॥

१०—तत्वार्थबोध--वि० सं० १८७९

कविवर बुधजन की एक अन्य रचना तत्वार्थबोध है जो एक पद्य ग्रन्थ है। इसमें गृद्धपिच्छाचार्य के तत्वार्थ सूत्र के सूत्र विषय का पल्लवित अनुवाद दिया हुआ है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में निम्नलिखित विषयों का समावेश किया गया है :—

(१) मंगलाचरण (२) चतुर्गति वर्णन (३) सप्ततत्त्व कथन (४) सम्यगदर्शन, ज्ञान, चारित्र (५) मिथ्या दर्शन, ज्ञान, चारित्र, (६) नय, (७) निक्षेप, (८) सम्यग्तत्त्व के २५ दोष, (९) अनेकांत, (१०) जीव के नौ अधिकार, (११) समुद्घात, (१२) षट्द्रव्य, (१३) पल्य का प्रमाण (१४) उर्ध्वलोक-मध्यलोक-अधोलोक वर्णन, (१५) द्रव्य-गुण-पर्याय, (१६) पच्चीस क्रिया (१७) अष्टकर्म (१८) निर्देश (१९) स्वामित्व (२०) साधन (२१) अधिकरण (२२) विधान (२३) प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभागबंध, (२४) १४ गुणस्थान (२५) पंचपरमेष्ठी (२६) श्रावक की ग्यारह प्रतिमा (२७) मुनिधर्म कथन (२८) ध्यान का वर्णन इत्यादि।

"इनके अतिरिक्त अन्य कई विषयों का समावेश इस ग्रन्थ में है। पं० परमानन्द जी शास्त्री के अनुसार इसमें सम्यक्त्व के सभी अंगों का विशद् विवेचन, पल्य, सागर व राजू के प्रमाण का वर्णन, मध्यलोक की व्याख्या, चौदह गुणस्थानों की चर्चा, श्रावकाचार की कथनी, १० धर्म और १२ तपों का वर्णन, शील के १८००० भेदों का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इसमें गोमटसार जीवकांड के प्रायः सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है[2]।"

इस ग्रंथ में आत्म-स्वातंत्र्य प्राप्त करने के मार्ग का काव्यमय शैली में सुन्दरता के साथ प्रतिपादन किया गया है। परिणामों में वैराग्यभाव जगाने के लिये कवि एक ही पद्य में कितनी मार्मिक बात कहते हैं :—

---

१. वही २४९

२. परमानन्द शास्त्रीः अनेकान्त, वर्ष ११, किरण ६, पृ. २४६, वीर सेवा मंदिर प्रकाशन।

'शरीर, धन और स्त्री का साहचर्य ही जगत् का मूल है, संसार-बंधन का कारण है। अज्ञानी जीव इन्हें अपना इष्ट, अनुकूल एवं प्रिय मानता है[1]।" वे आगे सुखी होने का उपाय बताते हुए कहते हैं :—

"हे प्राणी ! यदि तू सुखी होना चाहता है तो सुखी होने का उपाय बताता हूं उसे ध्यान पूर्वक सुन। जगत् के समस्त स्त्री, पुरुष सुख चाहते हैं, परन्तु वे सुख की प्राप्ति का ठीक साधन नहीं जानते। वे धन की प्राप्ति में सुख मानते हैं। परन्तु यह समझ ठीक नहीं है। धन सम्पन्न व्यक्ति प्रत्यक्ष में दुःखी देखे जाते हैं, उन्हें राजा, चोर, रोग, शोक, ग्लानि आदि के अनेक दुःख होते रहते हैं। वे धन की प्राप्ति हेतु नदी, पर्वत, तालाब, वन आदि भयानक स्थानों में जाते हैं तथा भोजन, पानी, निद्रा का भी परित्याग करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर दूसरों के प्राणों को पीड़ा पहुंचाते हैं। इतने कष्ट उठाने के बाद भी यदि उन्हें धन की प्राप्ति नहीं होती तो बहुत अधिक दुःख का अनुभव करते हैं। कदाचित् पुण्य योग से धन की प्राप्ति हो भी जाती है परन्तु अस्वस्थता के कारण उसको भोगने में असमर्थ रहते हैं। कदाचित् सम्पूर्ण साधन मिल भी गये तो भोगों में आसक्त होकर जन्म, मरण, रोग आदि के दुःखों को भोगना पड़ता है[2]। भाव यह है कि मानव जीवन आदि से अन्त तक दुःख पूर्ण है, अतः जिनमत को धारण करो। इसके धारण किये बिना सुखों की प्राप्ति दुर्लभ है।

इसी ग्रन्थ में धन के विषय में कवि लिखते हैं :—

"धन के कारण भाई-भाई परस्पर में लड़ते हैं। धन की अधिक प्राप्ति न होने से सेवक स्वामी का साथ छोड़ देते हैं। धन के कारण ही चारों का भय रहता है।

---

१. तन धन त्रिया जगत का मूल, जीव रहें इनके अनुकूल।
सुनो अवस्था तिनकी अबै, कछू विरागता आवै तबै ॥
बुधजन तत्वार्थबोध, पद्य संख्या १३, पृ. संख्या २, कन्हैयालाल गंगवाल, लश्कर प्रकाशन।

२. सुखी हुवा चाहो जगमाहिं, जल में घृत कहूं निकसै नांहि।
चार गति में फिरे अजान, ताको वरनूं विविध विधान ॥
सुख चाहें नरनारी सबै, मानहिं धनतें सो नहिं पावे।
परतखि दुःखी लखे धनवान, भूप चोर रुज सोक गिलान ॥
नदी तड़ाग सैलवन फिरे, असन पान निद्रा परिहरै।
परकूं, पीड़ै प्रापति लहै, बिन प्रापति दुख अधिका वहै ॥
करि नहिं सके मिलै जो भोग, शक्ति हीन के होय वियोग।
जो भागन तें भोगे भोग, बाढ़े जन्म-मरण दुख रोग ॥
बुधजन : तत्वार्थबोध, पद्य संख्या ९, १०, ११, १२, पृ० सं० २ लश्कर प्रकाशन

शासक भी धन के कारण भयभीत करते रहते हैं। धन अधिक हो जाने पर मनुष्य मद्यपान, वेश्यागमन, परस्त्री सेवन, मांस भक्षण, जुआ आदि दुर्व्यसनों का सेवन करने लग जाता है। धन की प्राप्ति होने पर राजा का भय और उसके विनष्ट हो जाने पर दुखों का अनुभव करता है। धन के लिये नाना प्रकार से क्रोध, छल आदि करता है। अतः आदि, मध्य और अन्त कहीं भी-किसी भी दशा में धन सुख का कारण नहीं है। सुख तो परिणामों में समता भावों को धारण करने से प्राप्त होता है[1]।"

सम्यग्दर्शन के बाहरी कारणों का दिग्दर्शन कवि ने निम्न शब्दों में कराया है :—

जिन महिमा जिन छवि दरस, दुख वेदन सुर रिद्धि।
भव सुमरण, आगम श्रवण, कारण बाह्य प्रसिद्धि[2] ॥

सम्यग्दर्शन के अन्तरंग कारणों का उल्लेख करते हुए कवि कहते हैं :—

अन्तरंग सम्यक्त्व का, करन लब्धि है मूर।
तातें वरनूं लब्धि कूं, जैसे भाषी सूर[3] ॥

कवि ने निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की उपादेयता और अनुपादेयता का बड़ा ही भावपूर्ण एवं तर्कसंगत वर्णन किया है। उसे कवि के ही शब्दों में :—

"जिसमें पर की अपेक्षा नहीं है, जो अनुपम है, जिसका न आदि है और न अन्त। अपने ही गुण-पर्यायों में जो भेद ग्रहण नहीं करता तथा वस्तु के शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करता है उसे निश्चय नय कहते हैं। असत्यार्थ नय को व्यवहारनय तथा सत्यार्थ नय को निश्चय-नय कहते हैं। निश्चय नय के आश्रय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। वह बंध का कारण नहीं है। इस जीव ने व्यवहार नय से वस्तु के स्वरूप को अनंतवार श्रद्धा में लिया और सुना परन्तु निश्चय नय के बिना संसार में भ्रमण ही किया। अतः आपापर का भेद विज्ञान होने पर, स्वानुभव के द्वारा समस्त वेदों (लिंगों) का अथवा भव-भ्रमण का उच्छेद करना ही योग्य है[4]।"

"उपर्युक्त थोड़े से दोहों में जो अर्थ गांभीर्य है, उस पर से ही पाठक इस ग्रन्थ की उपयोगिता, महत्ता और विषय विवेचन की सरल एवं मनोहर सरणि का

---

१. बुधजन : तत्वार्थबोध, पद्य सं. ९, १०, ११, १२, १३ लश्कर, प्रकाशन।
२. वही, पद्य सं. ६३,
३. वही, पद्य सं. ६४।
४. बुधजनः तत्वार्थबोध, पद्य संख्या ३९, ४४, पृ० १७, १८, १८ लश्कर

मूल्य आंक सकेंगे और कवि के भावुक हृदय की गतिविधि को भी पहिचान सकेंगे[1]।" इस प्रकार यह सारा ही ग्रन्थ सैद्धान्तिक विवेचन सुन्दर, सुगम एवं ललित सूक्तियों, विविध अनुप्रासों आदि को लिये हुए हैं।

तत्वार्थ बोध का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन—

तत्वार्थबोध की भाषा व्रज मिश्रित राजस्थानी है, किन्तु उसका रूप साहित्यिक है। अतः उसमें आये हुए क्रियापदों पर अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

विधान-छन्द-शैली—

समग्र रचना मुख्य रूप से मुक्तक दोहों में है और छन्द शास्त्र की दृष्टि से दोहे प्रायः निर्दोष हैं। विवेच्यरचना में कवि ने दोहा छन्द के अतिरिक्त सोरठा, चौपाई, छप्पय, अडिल्ल, कुण्डलिया, गाथा और गीता छन्दों के प्रयोग किये हैं। प्रसाद और माधुर्य गुण से रचना परिपूर्ण है।

इस प्रकार के अध्ययन से विदित होता है कि कवि का भाषा पर अद्भुत अधिकार था। वे बड़े से बड़े गंभीर भाव को एक पंक्ति में स्पष्टता और पूर्णता के साथ व्यक्त कर सकते थे। 'इसमें गोम्मटसार जीवकांड के प्रायः सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है'[2]। 'इस ग्रन्थ को कविवर ने वि.सं. १८७९ में राजा जयसिंह के शासनकाल में बनाकर पूर्ण किया[3]।'

११—पद-संग्रह (स्फुटपद) १८८०-९१ वि०सं०

'कविवर बुधजन का पद संग्रह भी विभिन्न राग-रागिनियों से युक्त है। इस संग्रह में २४३ पद हैं। इन पदों में अनुभूतियों की तीव्रता, लयात्मक, संवेदनशीलता और समाहित भावना का पूरा अस्तित्व विद्यमान है। इनके पदों में स्वानुभूति एवं अध्यात्म की तल-स्पर्शिनी छाया विद्यमान है। भाव और भाषा की दृष्टि से यह

---

१. परमानन्द शास्त्री : अनेकान्त वर्ष ११, किरण ६, संपा. जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मंदिर, सरसावा (सहारनपुर), वि०सं २००९

२. परमानन्द शास्त्री, वर्ष ११, किरण ६ पृ० २४६।

३. संवत् अठारा सै विषै, अधिक गुण्यासी वेश।
कार्तिक सुदि शशि पंचमी, पूरण ग्रन्थ अशेष॥
सुवस बसै जयपुर तहां, नृप जयसिंह महाराज।
बुधजन कीनो ग्रन्थ तहां, निज पर के हित काज॥

बुधजनः तत्वार्थबोध, पद्य संख्या १३, १४ पृ.सं २७७ प्रका० कन्हैयालाल गंगवाल, लश्कर।

रचना उच्च कोटि की है। इनके पदों का कवित्व पक्ष व गेय पक्ष दोनों ही परिपुष्ट हैं[1]।

दार्शनिक तत्वों को समझाने के लिये हमारे कवियों ने जो पद और भजनों का माध्यम अंगीकार किया है, उसके अनेक कारण हैं।

एक तो यह कि पद में कविता के साथ में गेय तत्व सम्मिलित रहता है। यह संगीत, पदों को राग-लय और तान की अपरिमित संभावनाएं प्रदान करता है।

दूसरे यह कि पद का विस्तार सीमित होता है अतः संक्षेप में सब कुछ आ जाता है। तीसरे यह कि उपर्युक्त विशेषताओं के कारण पद आसानी से याद हो जाता है। अतः अध्यात्म-तत्व के चिंतन-मनन में सहायता मिलती है। एक बात और, इन पदों का दैनिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और इनका स्पष्ट प्रयोजन है।

हमारे आध्यात्मिक-जीवन की यह परंपरा रही है कि प्रायः प्रत्येक धर्म और पंथ के व्यक्ति अपने-अपने धर्म स्थानों में प्रातः सायं एकत्रित होते थे, वहां शास्त्र प्रवचन सुनते थे और अन्त में स्तुति पदों का गान होता था।

धर्म का यह अत्यन्त सुन्दर, सरस और ग्राह्य रूप था। आज भी जिन मंदिरों में शास्त्र-सभाएं होती हैं, वहां ये पद या इसी प्रकार के अन्य पद गाये जाते हैं। इस प्रकार का भजन-गान गांधी जी की प्रार्थना सभाओं का मुख्य अंग था। हिन्दी जैन कवि 'दौलतराम' ने धार्मिक प्रवचन का एक ऐसा सुन्दर चित्र खींचा है कि मन मुग्ध हो जाता है। साधर्मी जन मिलते हैं, प्रवचन की अमृत रूपी झड़ी लगती है—ऐसी कि समग्र पावस-फीके पड़ जांय।

'इन पदों की भावात्मक पृष्ठ भूमि, विचारों की सात्विकता आत्मनिष्ठ अनुभूतियों की गहराई, अभिव्यक्ति की सुघराई, सरलता, शालीनता और सरस गेयता सब भव्य है। इन सब तत्वों का समन्वय ही पाठक के मन में लोकोत्तर आनंद की सृष्टि करता है। बुधजन के पदों में भावावेश, उन्मुक्त प्रवाह, आन्तरिक संगीत कल्पना की तूलिका द्वारा भाव-चित्रों की कमनीयता, आनन्द विव्हलता, रसानुभूति की गंभीरता एवं रमणीयता का पूरा समन्वय विद्यमान है। कवि 'बुधजन' द्वारा रचित पदों में उनके जीवन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनेक जानकारी की बातें प्राप्त होती हैं। इनके समस्त पद गेय हैं[2]।

---

१. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्यः तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा भाग–४, अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद प्रकाशन, पृ० २।

२. जैन डॉ० राजकुमार : अध्यात्म पदावली, पृ० २१–२२, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

इनकी रचनाओं में रूपक अलंकार के दर्शन होते हैं। यथा—

निजपुर में आज मची होली, निज पुर में।
उमगि चिदानन्द जी इत आये, उत आई समकित गोरी ॥१॥
लोकलाज कुल कानि गंवाई, ज्ञान गुलाल भरी झोरी।
समकित केशर रंग बनायो, चारित की पिक छोरी ॥२॥
गावत अजपा गान मनोहर, अनहद झरसों वरस्योरी।
देखन आये "बुधजन" भीगे, निरख्यो ख्याल अनखोरी ॥३॥[1]

पद संग्रह भक्ति रस गीतों से ओतप्रोत एक संकलन मात्र है, जिसे गाकर कवि ने शान्ति का अनुभव किया होगा। जैन जगत में "बुधजन" के पदों का अत्यधिक प्रचार है। अब तक उनके २६५ पद प्राप्त हो चुके हैं। पदों के अध्ययन से पता चलता है कि वे उच्च श्रेणी के कवि थे। आत्मा-परमात्मा एवं संसार सम्बन्धी चिन्तन कई वर्षों तक करते रहे और उसी का परिशीलन भी किया करते थे। उन्होंने अन्य कवियों की भांति आत्म-दर्शन किये थे[2]। 'जैन साहित्य में रूपकों की छटा केवल "बुधजन" की रचनाओं में ही नहीं, उनके पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषा के कवियों की रचनाओं में प्रचुरता से मिलती है[3]। इन विचारों की रचना और आत्मानुभूति की प्रेरणा पाठकों के समक्ष ऐसा चित्र उपस्थित करती है, जिससे पाठक आत्मानुभूति में लीन हुए बिना नहीं रहता। संसार में मनुष्य अपनी अर्थशक्ति और जन शक्ति का बड़ा भरोसा रखता है; कि समय आने पर हमारा धन और माता-पिता, पुत्र-मित्र, स्त्री एवं परिजन वगैरह अवश्य ही हमारे काम आऐंगे और विपत्ति हमारा साथ देंगे। धनादि को वह अपनी निकटतम वस्तुएं मानता है, परन्तु समय पर वही मनुष्य देखता है कि उसका पैसा और उसके स्वजन-परिजन कोई भी विपत्ति के साथी नहीं हैं—एक भी ऐसा नहीं है जो उसकी विपत्ति को हलका ब उसे मालूम पड़ जाता है कि जगत में जिस धन और स्वजन-परिजन पना कहकर उद्घोष करता था उनमें से एक भी उसका नहीं है। विपत्ति में यदि कोई सहायता करता है; उसे शान्ति-सुख और वह है उसकी आत्मा का भाव कर्म।

रंग शीर्षक से "अहिंसा वाणी" पत्रिका में प्रका० वर्ष ९६९।

, हिन्दी पद संग्रह, पृ० १९० दि० जैन अतिशय भवन, जयपुर, मई १९६५।

भाषा और साहित्य, पृ० सं० २७७

आत्म-परिणाम, शान्ति, संतोष और समता आदि ही अपने कहे जा सकते हैं क्योंकि ये भाव आत्मा के स्वभाव हैं जो निरंतर आत्मा के साथ रहने वाले हैं। धन-स्वजन-परिजन आत्मा से पृथक् हैं और [illegible] हैं। इसलिये जो वस्तु अपनी नहीं है उस पर प्रतीति रखना व्यर्थ है और अज्ञता की सूचक है।

कविवर बुधजन ने निम्न लिखित पद में इसी धर्मतत्व के महत्त्व का दिग्दर्शन कराया है। पद कर्ता के शब्दों में देखिये वे कहते हैं कि "हमें धर्म पर ही सम्यक् प्रतीति और अपनत्व का भाव रखना चाहिये।"

'धर्म बिन कोई नहीं अपना ।।'
सुख-संपति-धन, थिर नहि जग में जैसे रेन सपना ।।१।।

हे आत्मन् ! संसार में धर्म ही अपनी वस्तु है और इस पर ही भरोसा किया जा सकता है कि समय आने पर यह विपत्ति में सहायक होगा। जगत् की समस्त सुख-सामग्री और अर्थ का कुछ भी ठिकाना नहीं है। जिस प्रकार रात्रि का स्वप्न जागने पर मिथ्या निकल आता है, उसी प्रकार जगत् का यह वैभव भी क्षण नश्वर है और रात्रि के स्वप्न के समान न अपने में कुछ अर्थ रखता है और न इस आत्मा को समय पर कुछ सहायता पहुंचा सकता है। वास्तव में धर्म के बिना कोई अपना नहीं है। आगे "बुधजन" कहते हैं कि हमारा वर्तमान अतीत के धर्माचरण का फल है और भविष्य का निर्माण हमारे धर्माचरण पर निर्भर है। कितने स्पष्ट शब्दों में वह धर्माचरण की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हैं :

आगे किया सो पाया भाई याही है निरना।
अब जो करेगा सो पावेगा, तातें धर्म करना ।।

हे आत्मन्। यह स्पष्ट है कि पूर्व जन्म में जो कुछ तुमने धर्म का पालन किया था उसके अनुसार ही तुम्हें वर्तमान में सुख सामग्री प्राप्त हुई है और वर्तमान में जैसा धर्माचरण करोगे तदनुसार ही भविष्य में साधन-सामग्री मिलेगी इसलिये पूर्ण शांति एवं सुख प्राप्त करने के लिये केवल धर्म का ही पालन करना चाहिये। कविवर बुधजन लोक दृष्टि से भी धर्माचरण की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि :—

ऐसे सब संसार कहत है, धर्म किये तिरना।
परपीड़ा विसना दिक सेयें, नरक विषै परना ।।

समस्त संसार इस बात का समर्थन करता है कि जीव, धर्म के द्वारा ही संसार-सागर से पार होता है इसके विपरीत जो दूसरों को कष्ट पहुंचाता है और व्यसन आदि कर सेवन करता है वह नरक में जाता है और असीम दुःखों को उठाता हुआ संसार समुद्र में गोते लगाता रहता है। कविवर कहते हैं :—

अशुभ कर्म का उदय राजा और रंक किसी को भी नहीं छोड़ता है। देखिये :—

नृप के घर सारी सामग्री ताके ज्वर तपना ।
अरु दारिद्री के हू ज्वर है पार उदय थपना ।।

राजा भी इस संसार में सुखी नहीं है और दरिद्र भी सुखी नहीं है। राजा के यहां यद्यपि संपूर्ण सुख-सामग्री विद्यमान है फिर भी तृष्णा के कारण वह सामग्री उसे दुःख और संताप ही पहुंचा रही है। दरिद्री तो अपने अशुभ कर्म के कारण अभाव में दुःखी है ही। कविवर बुधजन आगे कहते हैं :—

विपत्ति में कोई सगा सम्बन्धी भी साथ नहीं देता। संसार स्वार्थी है उससे सहायता की आशा करना दुराशा मात्र है। ऐसे अवसरों पर धर्म का ही केवल भरोसा किया जा सकता है। उनके ही शब्दों में सुनिये :—

"नाती तो स्वारथ के साथी तोहि विपति भरना।
बन-गिरि-सरिता-अगनि जुद्ध में धर्म ही का शरणा ।।

आत्मन्। तेरे जितने भी सम्बन्धि-जन हैं, जिन्हें तू अपना बतलाता है, सब स्वार्थ के साथी हैं। अपना काम निकल जाने पर तुम्हारा कोई भी साथ देने वाला नहीं है। विपत्तियों का बोझ तुझे ही उठाना होगा। वन में, पर्वतों पर नदी और अग्निकांडों में तथा युद्ध जैसे अवसरों पर केवल धर्म ही तुम्हें शरण दे सकता है। कविवर के शब्दों में ही धर्म की संक्षिप्त रूप रेखा देखिये :—

चित 'बुधजन' संतोष धारना, परचिंता हरना।
विपति पड़े तो समता रखना, परमातम जपना ।।

आत्मन्। चित्त में सदैव संतोष धारण करना। दूसरों की आकुलता को दूर करना, विपत्ति काल में व्याकुल न होकर समता धारण करना और निरंतर परमात्मा का पुण्य स्मरण करना यही धर्म है। जगत् में धर्म के सिवाय कोई अपना नहीं है।

'धर्म बिन कोई नहीं अपना'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दी के जैन कवियों के भजन व पद सदियों से हमारी अमूल्य-निधि रहे हैं। उन्होंने हमारे जीवन को प्रति क्षण नया उत्थान दिया है। इसमें अपरंपार शास्त्रीय मंथन सुप्त पड़ा है। कविवर बुधजन समझाना चाहते हैं कि मनुष्य पर्याय पाकर उसे विषय भोग में बिता देना बहुत बड़ी मूर्खता है। कैसा चुभता हुआ उदाहरण दिया है :—

यों भव पाय विषय सुख सेना गजचढ़ि ईंधन ढोना हो।'

इस चित्र को आंखों के आगे खड़ा कीजिये। कैसा मूर्ख होगा वह पुरुष जो राजसी हाथी को ईंधन ढोने के काम में प्रयुक्त करे।

आध्यात्मिक पद तो अन्य कवियों ने भी लिखे हैं, परन्तु "बुधजन" के भजन अपनी अलग विशेषता रखते हैं। द्यानतराय, दौलतराम, भागचन्द आदि के समान

"बुधजन" के भजन भी आनन्द-दायक हैं। कवि के आध्यात्मिक भजन उनकी वैराग्य भावना का मूर्तिमान प्रतिबिंब है। भजनों में कवि ने राग-रागिनियों के चुनाव का विशेष ध्यान रखा है। प्रत्येक पद आध्यात्मिक रस से ओत-प्रोत है और ध्यान से पढ़ने-सुनने वालों पर वैराग्य की अमिट छाप छोड़े बिना नहीं रहते सच तो यह है कि—कवि ने भजनों के बहाने जैन धर्म की आत्मा ही खोलकर रख दी है।

कविवर बुधजन के ये आध्यात्मिक भजन आज भी उतने ही उपयोगी एवं प्रेरणा दायक हैं जितने पूर्वकाल में थे। 'इस जड़वाद के युग में आज ऐसे भजनों की उतनी ही आवश्यकता है जितनी रेगिस्तान के प्रवासी को जल की आवश्यकता होती है। बुधजन कवि का साहित्य आध्यात्मिक रस से ओत प्रोत है और ध्यान से पढ़ने सुनने वालों पर वैराग्य की अमिट छाप छोड़े बिना नहीं रहता। बुधजन ने मुमुक्षु जगत् का महान उपकार किया है। साहित्य स्वयं एक कला है और उस कला को दूसरी कलाओं के अभाव में दबाया नहीं जा सकता। उत्तम साहित्य को पढ़कर हृदय में जो गुद गुदी और अनुभूति होती है, वह बुधजन के पद साहित्य में है[1]।'

बुधजन ने मुख्यतः आध्यात्मिक पद लिखे हैं। इन पदों के निर्माण में कवि का एक मात्र लक्ष्य है—मानव का विवेक जागृत हो व वह अपना जीवन नीति पूर्वक व्यतीत करे। कवि के समस्त पद ज्ञान मूलक व उद्‌बोधनकारी हैं। इस विषय को स्पष्ट करते हुए जैन डॉ. राजकुमार लिखते हैं—'कवि के ज्ञान मूलक उद्‌बोधनकारी पदों की एक विशेषता यह है कि उनमें वस्तुतत्व को प्रतिपादित करने के लिये जो उपमाएं अलंकार और प्रतीक लिये गये हैं, उनमें व्यावहारिकता का पुट है। समस्त साहित्यिकता और सरसता को अक्षुण्ण बनाये रखकर भी कवि ने प्रयत्न किया है कि इन पदों की आध्यात्मिकता सर्व साधारण के लिये सुलभ हो, इसलिये इनकी शैली, अभिव्यंजना और उपमा बड़ी सीधी और हृदय ग्राही है। प्रायः प्रत्येक दार्शनिक स्थापना के समर्थन में व्यावहारिक हेतु और उजागर दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं।'[2]

उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पदावली की भाषा में विशेषण और संज्ञाएं ओकारान्त हैं। इसमें भूतकालिक ओकारान्त क्रियाएं, सर्वनाम और परसर्ग के अनेकानेक रूप मिलते हैं जो इनकी रचनाओं को स्पष्टतया ब्रज भाषा से प्रभावित घोषित करते हैं किन्तु यह प्रभाव ही है। पदों की मूल भाषा निश्चय ही हिन्दी है।

---

१. डॉ. लाल बहादुर शास्त्रीः अध्यात्म पद संग्रह की भूमिका, पृ० ५।

२. जैन डॉ० राजकुमार : अध्यात्म पदावली भाग–२, पृष्ठ १६, भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रकाशन, १६६४।

१२-पंचास्तिकाय-भाषा (१८९२ वि०सं०)

७. पंचास्तिकाय भाषा (वि० सं० १८९२)

जयपुर के तत्कालीन दीवान संघी अमरचन्द की प्रेरणा से कविवर बुधजन ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। यह कवि की अनूदित कृति है। यह जैन दर्शन के सिद्धान्तों के प्रतिपादक प्राकृत भाषा के महान् ग्रंथ 'पंचास्तिकाय' का हिन्दी पद्यानुवाद है। इस कृति में ५८२ पद्य हैं। यह एक दीर्घकाय रचना है।

यह आचार्य कुन्द कुन्द के पंचास्तिकाय (प्राकृत) का हिन्दी पद्यानुवाद तो है, पर इसमें कवि की अपनी मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। इसमें जैन दर्शन के सिद्धान्तों में से मुख्यतः षट् द्रव्यों का वर्णन विस्तार से किया गया है। जीव, पुद्गल धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय इन पांच अस्तिकाय द्रव्यों को बहुप्रदेशी एवं काल द्रव्य को एक प्रदेशी कहा गया है।

संपूर्ण ग्रंथ दर्शनशास्त्र की गहन व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसमें प्रतिपादित वस्तुतत्व का सार इस प्रकार है :—

विश्व अर्थात् अनादि-अनंत स्वयं सिद्ध सत् ऐसी अनंतानंत वस्तुओं का (छहों द्रव्य का) समुदाय। प्रत्येक वस्तु अनुत्पन्न एवं अविनाशी है। प्रत्येक वस्तु में में अनंत शक्तियां अथवा गुण हैं जो त्रैकालिक नित्य हैं। प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण अपने कार्य करती है अर्थात् नवीन दशाएं-अवस्थाएं-पर्यायें धारण करती है तथापि वे पर्यायें ऐसी मर्यादा में रहकर होती हैं कि वस्तु अपनी जाति को नहीं छोड़ती अर्थात् उसकी शक्तियों में से एक भी कम अधिक नहीं होती। वस्तुओं की (द्रव्यों की) भिन्न-भिन्न शक्तियों की अपेक्षा से उनकी (द्रव्यों की) छह जातियां हैं—जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य जिसमें सदा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख आदि अनन्तगुण (शक्तियां) हों वह जीव द्रव्य हैं, जिसमें सदा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि अनन्त गुण हों, वह पुद्गल द्रव्य है शेष चार द्रव्यों के विशिष्ट गुण अनुक्रम से गति-हेतुत्व, स्थिति हेतुत्व, अवगाहन हेतुत्व तथा वर्तना हेतुत्व हैं। इन छह द्रव्यों में से प्रथम पांचद्रव्य सत् होने से तथा शक्ति अथवा शक्ति अपेक्षा से विशाल क्षेत्र वाले होने से अस्तिकाय हैं, काल द्रव्य 'अस्ति' है किन्तु काय नहीं है।

यह सर्व द्रव्य-अनंत जीवद्रव्य, अनंतानंत पुद्गलद्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य तथा असंख्य काल द्रव्य स्वयं परिपूर्ण हैं और अन्य द्रव्यों से बिल्कुल स्वतंत्र हैं, वे परमार्थतः कभी एक दूसरे से मिलते नहीं हैं, भिन्न ही रहते हैं। देव, मनुष्य, तिर्यन्च, नरक, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि जीवों में जीव पुद्गल मानों मिल गये हों ऐसा लगता है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, वे बिलकुल पृथक् हैं। सर्व जीव अनंतज्ञान-दर्शन, सुख, बल की निधि हैं तथापि, पर द्वारा उन्हें कुछ सुख-दुःख नहीं होता तथापि संसारी अज्ञानी जीव अनादि काल से स्वतः अज्ञान पर्याय रूप परिणमित होकर

अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को, परिपूर्णता को, स्वातंत्र्य को एवं अस्तित्व को भी भूल रहा है और पर पदार्थों को सुख दुःख का कारण मानकर उनके प्रति राग-द्वेष करता रहता है, जीव के ऐसे भावों के निमित्त से पुद्गल स्वतः ज्ञानावरणादि कर्म पर्याय रूप परिणमित होकर जीव के साथ संयोग में आते हैं और इसलिये अनादि काल से जीव को पौद्गलिक देह का संयोग होता रहता है। परन्तु जीव और देह के संयोग में भी जीव और पुद्गल बिलकुल पृथक् हैं तथा उनके कार्य भी एक दूसरे से बिलकुल भिन्न एवं निरपेक्ष हैं। जीव केवल भ्रान्ति के कारण ही देह की दशा से तथा इष्ट अनिष्ट पर पदार्थों से अपने को सुखी दुःखी मानता है। वास्तव में अपने सुख-गुण की विकारी पर्याय रूप परिणमित होकर जीव के साथ संयोग मे आते है और इसलिये अनादिकाल से जीव को पौद्गलिक देह का संयोग होता रहता है। परन्तु जीव और देह के संयोग से भी जीव और पुद्गल सर्वथा पृथक् हैं तथा उनके कार्य भी एक दूसरे से बिलकुल भिन्न एवं निरपेक्ष हैं। जीव केवल भ्रान्ति के कारण ही देह की दशा तथा इष्ट अनिष्ट पर पदार्थों से अपने को सुखी दुःखी मानता है। वास्तव में अपने सुख गुण की विकारी पर्याय रूप परिणमित होकर वह अनादिकाल से दुखी हो रहा है।

कवि ने विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जब तक जीव वस्तु स्वरूप को नहीं समझ पाता तब तक अन्य लाखों प्रयत्नों से भी मोक्ष का उपाय उसके हाथ नहीं लगता। इसीलिये इस ग्रन्थ में सर्व प्रथम पंचास्तिकाय और नव पदार्थों का स्वरूप समझाया गया है कि जिससे जीव वस्तु तत्त्व को समझकर मोक्ष मार्ग के मूलभूत सम्यग्दर्शन को प्राप्त हों। अस्तिकायों और पदार्थों के निरूपण के पश्चात् इसमें मोक्ष मार्ग सूचक-चूलिका है। यह अन्तिम अधिकार शास्त्र रूपी मन्दिर पर रत्न कलश की भाँति शोभा देता है।

सर्वप्रथम आचार्य कुन्द-कुन्द ने अन्य जीवों की भलाई के लिये इस ग्रन्थ की रचना की और इसके रहस्य को जानकर आचार्य अमृतचन्द्र ने इसकी संस्कृत टीका की और उसकी हिन्दी वचनिका हेमराज ने लिखी। इन रचनाओं का मनन कर 'बुधजन' ने हिन्दी में इनका पद्यानुवाद किया। रचना का अध्ययन करने में मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और सम्यक्त्व की प्राप्ति से प्राणी संसार समुद्र से पार होते हैं।

ग्रन्थ की महानता कविवर बुधजन के शब्दों में—"इसकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। मैं मन, वचन, काय से इसकी वंदना करता हूं।"[1] ग्रन्थ रचना के प्रेरक संघी अमरचन्द दीवान का उपकार मानते हुए कवि कहता है—"संघी अमरचन्द दीवान ने दया पूर्वक इसके हिन्दी पद्यानुवाद की मुझे प्रेरणा दी। मैंने श्रद्धा पूर्वक इस रचना का हिन्दी पद्यानुवाद किया।" ग्रन्थ के अन्त में वे लघुता

१. परकारन कुन्दकुन्द बखानी, ताका रहस्य अमृतचंद्र जानि।

प्रगट करते हुए लिखते हैं—यदि इसके हिन्दी पद्यानुवाद में त्रुटियां हों तो विज्ञजन मूल ग्रन्थ का अवलोकन कर शुद्ध कर लें[1]।" "कवि के समय में जयपुर के शासक सवाई रामसिंह थे। कवि ने यह रचना आसोज सुदी दशमी गुरुवार वि० सं० १८९२ में पूर्ण की थी[2]।" जयपुर से प्रकाशित मासिक पत्रिका "हितैषी" से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि "बुधजन" ने अपने जीवन काल में दो शासकों का शासन काल जयपुर में देखा था।

१३. वर्द्धमान पुराण सूचनिका वि० सं० १८९५

८ वर्द्धमान पुराण सूचनिका [वि० सं० १८९५]

यह कवि की अन्तिम रचना है। इसमें तीर्थंकर महावीर के पूर्व भवों का वर्णन किया गया है। पुरवा भील की पर्याय से महावीर की पर्याय तक इस जीव ने जो-जो प्रमुख पर्यायें [३३] प्राप्त कीं उनका सप्रमाण क्रमबद्ध वर्णन है। इस लघु कृति में केवल ८० पद्य हैं। रचना के अन्त में कवि ने अपना नाम व रचना काल का उल्लेख किया है।

सकल कीर्ति मुनि ने संस्कृत भाषा में "वर्द्धमान पुराण सूचनिका" ग्रन्थ की रचना की थी। उसी की गद्यात्मक हिन्दी वचनिका पढ़कर तथा उसी से कम भाग लेकर मेरी बुद्धि उसे पद्यबद्ध करने की हुई इसे मैंने वि० सं० १८९५ में अगहन कृष्णा तृतीया गुरुवार को पूर्ण किया[3]।

टीकारची संस्कृत वानी, हेमराज वचनिका आनि ॥५७७॥
करें सम्यक्त्व मिथ्यात्व हरें, भगसागर लीला ते तरें ॥
महिमा मुख तें कही न जाय, 'बुधजन' वन्दे मनवचकाय ॥२७८॥
सांगही अमरचंद दीवान, मोकूं कही दयावर आन।
शब्द अर्थ यो में लह्यो, भाषा करन तवै उमगयो ॥५७९॥
कवि बुधजन : पंचास्तिकाय भाषा, पद्य संख्या ५७७, ५७८, ५७९।

१. भक्तिप्रेरित रचना आनी, लिखो पढो वांचो भवि ज्ञानी।
जो कछु यामें असुद्ध निहारो, मूल ग्रंथलखि ताहि सुधारो ॥
कवि बुधजन : पंचास्तिकाय भाषा, पद्य संख्या ५८०।

२. रामसिंह नृप जयपुर बसे, सुदि आसोज गुरु दिन दसें।
उगणीसै में घटि हैं आठ, ता दिवस में रच्यो पाठ ॥
कवि बुधजन : पंचास्तिकाय भाषा, पद्य संख्या ॥५८१॥

३. सकल कीर्ति मुनिरच्यो, वचनिका ताकी वांची।
तवै छंद को रचन, बुद्धि "बुधजन" की रांची ॥

कवि ने ग्रन्थ के अन्त में लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर लिखा है—

"राजा, देश, नगर, ग्राम, घर और प्रत्येक व्यक्ति का मंगल हो। नगर में सदा नृत्य, गान आदि मनोरंजन के कार्य चलते रहें। सबके घर धन-धान्य से परिपूर्ण हों, सब लोग धर्मी जनों की संगति करें, जिससे पापों का नाश हो व सब लोग प्रभु का गुण स्मरण करते रहें[1]।"

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि कवि की यह अन्तिम रचना है। क्योंकि इसमें लोक मंगल की जिस भावना का उल्लेख कवि ने किया है उसे देखने से लगता है कि उन्होंने अपने अन्तिम क्षणों में इसकी रचना की होगी या वृद्धावस्था में इसकी रचना की होगी।

दूसरी बात यह भी है कि इसके बाद की कोई रचना कवि की उपलब्ध नहीं है। अतः मेरी सम्मति में यह कवि की अन्तिम रचना है। "बुधजन" ने हिन्दी भाषा में अपने विचारों की अभिव्यंजना कर वाङ्मय की वृद्धि की है। उन्होंने समाज कल्याण की प्रेरणा से ही काव्य की रचना की है। भोग-विलास और राग-द्वेष के प्रदर्शनात्मक शृंगार आदि रसों से कवि का कोई प्रयोजन नहीं।

ग्रन्थ के अवलोकन से कविवर बुधजन की काव्य प्रतिभा और सिद्धान्त-ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। वे चारों अनुयोगों (वेदों) के विद्वान थे, कवि तो थे ही। रचना की भाषा से अवगत होता है कि उस समय हिन्दी की खड़ी बोली का आरम्भ हो गया था। कवि ने यह रचना अपने काल की हिन्दी की खड़ी बोली में की है। रचना सरस और सरल है।

१४. योगसार भाषा (वि० सं० १८९५)

9. योगसार भाषा (वि. सं. १८९५)

आचार्य योगीन्द्रदेव द्वारा रचित अपभ्रंश रचना के आधार पर कविवर बुधजन ने इसका भाषानुवाद हिन्दी पद्यों में किया। यह रचना आत्म-संबोधन हेतु रची गयी है। इसका विषय आध्यात्मिक है। इसमें निश्चय और व्यवहार नय की सापेक्षता दिखाई गई है। निश्चयनय आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बताने वाला है, पर व्यवहार नय के बिना निश्चय नय का वर्णन नहीं हो सकता, तथापि अपने

उगनीसौ में घाटि, पांच संवत् घर अगहन।
कृष्ण तृतीया हुवो ग्रंथ पूरन सुर गुरु दिन॥
कवि बुधजन : वर्द्धमान पुराण सूचनिका, पद्य सं० ७७–७८ हस्तलिखित प्रति, जयपुर

१. मंगल हो नृप देश नगर, ग्रामैं जन-जन-घर।

शुद्ध स्वरूप [परमात्मा] के सन्मुख होने के लिये व्यवहार नय की कोई उपयोगिता नहीं है[1]।"

भाषा की दृष्टि से यह रचना उत्कृष्ट नहीं है, तथापि विषय आध्यात्मिक होने से उपादेय है। ग्रन्थ के अन्त में कवि अपनी लघुता प्रकट करते हुए कहते हैं:—

"मैंने अपभ्रंश के ग्रन्थ योगसार के आधार से भव्यजनों के हितार्थ इसे हिन्दी भाषा में लिखा है। यदि इसमें किसी प्रकार की त्रुटि हो तो सज्जन-जन इसमें सुधार कर लेवें[2]।"

इस रचना में कवि ने अपने नाम व रचनाकाल का उल्लेख भी किया है[3] जिससे स्पष्ट है कि कवि ने इसे सावन शुक्ला तृतीया मंगलवार वि० सं० १८९५ को पूर्ण किया।

इस प्रकार स्पष्ट है कि "वर्द्धमान पुराण सूचनिका" और "योगसार भाषा" दो कवि का अन्तिम रचनाएं हैं।

होय सदा नूतगान, धान-धन रहै कोषभर ॥
करो सुपात्रां दान, इष्ट प्रभु पूज रचावो।
धर्मातम संग करो, हरो अघ प्रभुगुन गावो ॥

कवि बुधजन : वर्द्धमान पुराण सूचनिका, पद्य संख्या ७९, ८० हस्तलिखित प्रति, जयपुर।

१. निश्चय परमातम दरस, विन व्योहार न होइ।
परमातम अनुभौसमय, नय व्योहार न कोइ ॥

बुधजन : योगसार भाषा, हस्तलिखित प्रति, पद्य सं. १०९, दि. जैन लूणकरण पांड्यां मंदिर, जयपुर।

२. जोगसार अनुसार यह, भाषा भवि हितकार,
दोहा बुधजन निज रचे, सज्जन लेहु सुधार ॥११०॥

३. वही

तृतीय-खण्ड

प्रथम अध्याय

१. कृतियों का भाषा विषयक एवं साहित्यिक अध्ययन

भारतीय भाषाओं के साहित्य में ऊपर से दिखाई देने वाली भिन्नता रूपगत है। सभी भाषाओं की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। किन्तु उद्गम और विकास की दृष्टि से सामान्यतः सभी भारतीय आर्य भाषाओं में एकता लक्षित होती है क्योंकि उनका मूल स्रोत एक है। इसी प्रकार लगभग उन सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उद्गम काल दसवीं शताब्दी के आस-पास कहा जाता है। इतना ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के विकास की पृष्ठभूमि में भी एक जैसी सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना का स्वर सुनाई देता है। मध्य युगीन संतों की वाणी और भक्ति साहित्य आर्य भाषाओं की ही धरोहर नहीं है अपितु दक्षिण भारत की भाषाओं-तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम में भी उनकी रचना प्रचुर मात्रा में हुई है। रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, नई परम्पराओं के निर्माण तथा प्रेम और शृंगार के अंकन की प्रवृत्ति सम्पूर्ण भारतीय साहित्य की मूल धारा न रही है। भारतीय साहित्य को धर्म संप्रदाय और जाति के आधार पर विभक्त करना उचित नहीं है, क्योंकि भाषागत भिन्नता तथा जातीय संस्कारों के विद्यमान होने पर भी हमारे देश का साहित्य हमारे जीवन और संस्कृति का प्रतिबिम्ब है। भाषा और लिपि के ऊपरी आवरण को सहज उसके समग्र रूप को देखें, तो उसकी मूलभूत एकता का लक्ष्य बोध हो सकता है।

किसी देश की संस्कृति का अध्ययन, उस देश के निवासियों के मानसिक सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन का समवेत आकलन उसके सम्पूर्ण रूप को समझने के लिए देश की आदि युगीन अवस्था से लेकर आधुनिक युग तक की अवस्था के क्रमिक विकास को विभिन्न युगों में प्रचलित प्रवृत्तियों तथा परम्पराओं के प्रकाश में देखने की तथा उसके अंगों पर दृष्टि रखने की आवश्यकता है। यद्यपि संस्कृति के अनेक अंग हो सकते हैं किन्तु सामान्यतः चार उपादान प्रमुख माने जाते हैं। संस्कृति के मुख्य चार अंग हैं :—

(१) साहित्य और भाषा।

(२) धर्म और दर्शन।

(३) राजनीतिक तथा भौगोलिक परिस्थितियां ।

(४) सामाजिक परिस्थितियां ।

यहाँ साहित्य शब्द का अर्थ संकुचित न होकर व्यापक है । उसके अन्तर्गत केवल सृजनात्मक साहित्य ही नहीं, धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी प्रकार का साहित्य है जो क्षणिक, सस्ता मनोरंजन न देकर शास्वत सत्य सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का उद्घाटन करने में समर्थ होता है, वही सत्साहित्य है । "जैन साहित्य अध्यात्म-प्रधान साहित्य है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्रान्तीय भाषाएं और हिन्दी में जो जैन साहित्य आज प्राप्त है, उसका मूल स्वर अध्यात्म है । धार्मिक-क्रान्तियां साहित्य की दिशा सदा से बदलती रही है और ऐसा जैन साहित्य में भी हुआ है[1] ।"

एक बात जो ध्यान देने की है, वह यह है कि प्रायः एक ग्रंथ को लेकर हम यह नहीं कह सकते कि उसमें केवल राजनैतिक या आध्यात्मिक स्थितियों का ही विश्लेषण है । उस ग्रंथ में अन्य प्रकार की स्थितियों तथा तत्वों का विवेचन होता है । अतः हम समस्त साहित्य का वर्गीकरण, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि रूप में न करके दूसरे प्रकार से करेंगे । यह वर्गीकरण समय तथा प्रवृत्ति दोनों के विचार से होगा ।

संस्कृति से सम्बन्धित समस्त साहित्य को हम निम्न वर्गों में बांट सकते हैं ।

[१] वैदिक-साहित्य ।
[२] लौकिक-साहित्य ।
[३] पौराणिक-साहित्य ।
[४] स्तोत्र-साहित्य ।
[५] दर्शन-साहित्य ।
[६] पुरुषार्थ-साहित्य ।
[७] सृजनात्मक-साहित्य ।

जिस दिन हम प्राचीन भाषाओं में निबद्ध साहित्य को भूल पायेंगे, उसी दिन से हमारा पतन होने लगेगा । संस्कृति क्या है ? धर्म क्या है ? और उनका दैनंदिन के जीवन में कैसे उपयोग हो सकता है, इत्यादि बातों का बोध हमें प्राचीन साहित्य से ही होता है । इससे हमें मानसिक तृप्ति तो मिलती ही है, साथ ही शास्वत सुख और उसकी प्राप्ति के साधनों का बोध भी हमें इसी साहित्य से होता है ।

---

१. जैन डॉ० रवीन्द्रकुमार : कविवर बनारसीदास जीवनी और कृतित्व, पृष्ठ ४६, भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रकाशन ।

"यदि विचार कर देखा जाय तो धर्म एक है और उसे जीवन में उतारने का मार्ग भी एक ही है परन्तु विश्व में जो अनेक धर्म दिखाई देते हैं और उनमें परस्पर जो अन्तर है उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि का ज्ञान हम इस साहित्य का गहन मंथन किये बिना नहीं कर सकते[1]।"

कविवर बुधजन ने जिस ढूंढारी (जयपुरी) भाषा में साहित्य रचना की, उसका इतिहास डॉ० जार्ज ए० ग्रियर्सन के अनुसार निम्न प्रकार है :—

"इस प्रकार जयपुर की सीमा के निकट मारवाड़ क्षेत्र में बोली जाने वाली मारवाड़ी भाषा मारवाड़ प्रान्त में ढूंढारी कहलाती है। यह जयपुरी भाषा का एक नाम है क्योंकि इस पर जयपुरी का गहरा प्रभाव है। वास्तव में यह मिश्रित भाषा है और जयपुर सीमा के निकट होने से मारवाड़ी की अपेक्षा संभवत: जयपुरी के अधिक निकट है। ढूंढारी के भी दो भेद हैं। [१] चट्टानी पहाड़ियों की एक श्रेणी जो करीब-करीब सम्पूर्ण शेखावाटी (जयपुर प्रदेश) को दो भागों में विभाजित करती है। उत्तर पूर्वी दिशा में और उसी के पास पूर्वी दिशा में पहाड़ियों के पूर्व की ओर का भाग ढूंढारी कहलाता है। यह एक ऐसा नाम है जो पहले-पहल राजपूताने के एक विशाल भाग के लिये प्रयुक्त था, जबकि पश्चिम की ओर बाजार नामधारी प्रदेश, जिसमें सम्पूर्ण शेखावाटी सम्मिलित है और सम्पूर्ण रेतीले प्रदेश को सम्मिलित कर लिया जाता है, जहां कि पानी बड़ी गहराई से प्राप्त होता है। जोधपुर रियासत के सुदूर उत्तर पूर्व में जहां वह प्रदेश, जयपुर का सीमा प्रदेश बनता है। वहां की बोली मारवाड़ी और जयपुरी का मिश्रण है अथवा बाद वाली भाषा को भी स्थानीय रूप से ढूंढारी कहते हैं। इस पर जयपुरी का विशेष प्रभाव है। यहां वास्तव में भाषा मिश्रित है और जयपुर सीमा के पास है और सम्भवत: यह भाषा मारवाड़ी की अपेक्षा जयपुरी के अधिक निकट है।

Thus the Marwari spoken in Marwar close to the Jaipur frantier is called in Marwar Dhoondhari on of the names of Jaipuri, Because the Jaipuri influens, is very strong. Here indeed the language is mixed one and near the Jaipur border is probably nearer Jaipury then Marwari.

A Range of rocky hills inter sects nearly the whole shekhawati in the Jaipur state. In a north estern direction and close upon its eastern frentier, the country on the east side of the hills is called Dhoondhari (A name which was formarly applied to a large part of Rajputana which that to the west is called

---

१. पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री : वर्णी स्मृति ग्रन्थ, खण्ड 2, पृष्ठ ६८, अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्, सागर म० प्र० प्रकाशन।

Rasar which includes nearly the whole shekhawati and is generally apply to sandy country where is water is only procarable to at a great depth.

In the extreme North east of the Jodhpur state, where its borders and the Jaipur state the dialect is said to the mixture of Marwari and Jaipuri, or the letter is rocky called Dhoondhari.

The language is a mixed on and near the Jaipur border is probably nearer Jaipuri then Marwari (1. Linguiestic survey of India Zild 9 (vol.) part II page 71.

ढूंढारी भाषा का एक उद्धरण देखिये, जिससे भाषा के सोष्ठव एवं माधुर्य का परिचय मिलता है। कहा है—'एक जणां के दो टाबर हा। वा में सूं छोट-क्यो आपका बापने क्यो के बाबा जी मारे पांती में आवे जकी माल भनेयो। जधांनी आपकी धर निकरी वाने बांट दीनी। थोड़ा घणा दिना पछे छोटो टाबरो आपकी सगली पूंजी मेलीकर परदेस गयो। वठे आपकी सारी पूंजी कुफंडा में उड़ादी। सगड़ी निवड़िया पछे बी देस में जवरो अकाल पड़ियो[1]।

कविवर बुधजन का अधिकांश जीवन ढूंढाड़ प्रदेश में ही बीता था। ढूंढाड़ प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा ढूंढारी है, जिसका मूलाधार ब्रजभाषा है। इस भाषा में खड़ी बोली का पुट है। इसे हम मिश्रित हिन्दी (ब्रज भाषा और राजस्थानी) कह सकते हैं। अपने भाव-प्रकाशन में कविवर को जिस भाषा का जो शब्द उपयुक्त लगा उसका खुलकर उपयोग किया है। भाव-प्रकाशन में भाषा के सरल-प्रवाह का अत्यधिक ध्यान रखा गया है। कहीं भी भाषा की कठिनता के कारण भाव-दुरूहता नहीं आने पाई है। गंभीरतम दार्शनिक विचारों की भी इतनी सरल भाषा में अभिव्यंजना हुई है कि पाठक को उन्हें हृदयंगम करने में कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा है। शैली बहुधा व्यास प्रधान है। भाषा और भावों का इतना अनुपम सामंजस्य हिन्दी साहित्य की कम ही रचनाओं में प्राप्त होता है।

डिंगल, अवधी और ब्रज के समान ही ढूंढारी भाषा भी एक साहित्यिक भाषा है। इसका विस्तृत शब्द भंडार तथा व्याकरण है। कवि ने स्वच्छ, मधुर एवं प्रवाहपूर्ण ब्रज मिश्रित राजस्थानी भाषा का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। कवि की रचनाओं में विदेशी भाषा के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है, किन्तु ऐसे शब्द बहुत कम हैं।

---

१. डॉ० जार्ज एग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जिल्द ९, भाग २; पृष्ठ ७१।

"प्राचीन काव्यों की भाषा वैसे ही दुरूह होती है फिर उसका उद्धरण यदि सावधानी से न छपे तो अर्थ संगति बिठाना और भी कठिन हो जाता है"[1]। राजस्थान के क्षेत्र विशिष्ट की साहित्यिक भाषा डिंगल है। डिंगल भाषा प्राकृत और अपभ्रंश से उत्पन्न मानी गई है।

'प्राकृत और अपभ्रंश से उद्भूत डिंगल भाषा, एक क्षेत्र विशेष की जनता और विशिष्ट वर्ग, दोनों के अभिव्यक्ति का माध्यम रही है। डिंगल भाषा आदिकालीन (प्राचीन) भाषा है तथा इसमें प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।[2]' वस्तुतः प्रदेश की साहित्यिक धाराओं में हिन्दी, उर्दू, ब्रज, अवधी तथा मैथिली के अतिरिक्त डिंगल साहित्य धारा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी कई विशेषताएं हैं। डिंगल साहित्य की परंपरा का सम्बन्ध संस्कृत साहित्य से विशेष न होकर प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य धाराओं से अधिक निकट का है, फिर यह केवल उच्च वर्ग से सम्बन्धित साहित्य नहीं है बल्कि जन-संपर्क में लिखा गया है। डिंगल में पद्य साहित्य के साथ-साथ गद्य साहित्य भी प्रचुर-मात्रा में मिलता है। रस-बुधजन के साहित्य में यों तो सभी रस यथास्थान अभिव्यंजित हुए हैं पर मुख्यता शान्तरस की है। सभी हिन्दी जैन साहित्यकारों ने अपने साहित्य में शान्त रस की धारा ही प्रमुख रूप से बहाई है। उनकी रचनाओं में स्वान्तः सुखाय की दृष्टि विशेष रूप से परिलक्षित होती है। उन्होंने साहित्य को कभी भी आजीविका का साधन नहीं बनाया। उन्होंने हिन्दी-साहित्य के विकास में पर्याप्त योग दिया। उन्होंने जैन परंपरा के अन्तर्गत रहकर ही साहित्य-सेवा की। वे कवि भी थे और भक्त भी। भक्ति के प्रतिपादन को ही उन्होंने अपना साध्य बनाया। बुधजन सतसई में उनकी भक्ति की अनन्यता यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है। यथा—

वारक वानर बाघ अहि, अंजन भील भंडार।
जाविधि प्रभु सुखिया किया, सो ही मेरी बार ॥३६॥
तुम तो दीनानाथ हो, मैं हूं दीन अनाथ।
अब तो ढील न कीजिये, भलो मिल गयो साथ ॥४२॥

---

१. वीरवाणी, वर्ष ७, अंक ६, पृष्ठ १२३–२४, जयपुर।

२. विद्या भास्कर : डिंगल साहित्य प्रकाशकीय १६६०, डा० जगदीश प्रसाद एम०ए०, डी० फिल०, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उ०प्र० इलाहाबाद।

"कवि को प्रभु के चरणों की शरण इतनी प्रिय है कि वे भव-भव में उसी की याचना करते हैं[1]।"

कविवर बुधजन जैन दर्शन और सिद्धान्त के पारंगत अनुभवी विद्वान थे। बुधजन की तरह बनारसीदास, भैया भगवतीदास, द्यानतराय, दौलतराम आदि ने भी आध्यात्मिक व नीति परक रचनाएं कीं। बिहारी सतसई के कतिपय दोहे नीति सम्बन्धी हैं। वृन्दसतसई, गिरधर की कुण्डलियां, दीन दयाल गिरि की रचनाएं भी नीति परक हैं। इस प्रकार हिन्दी में १९ वीं शताब्दी तक नीति परक रचनाएं होती रहीं। बुधजन की रचनाएं मुख्यतः तीन भागों में विभाजित की जा सकती हैं। (१) नीति प्रधान रचनाएं (२) सैद्धान्तिक रचनाएं (३) आध्यात्मिक रचनाएं।

नीति परक रचनाएं समास शैली में लिखी गई हैं। जैन कवियों ने अपने साहित्य सृजन के मूल में ही अध्यात्म को रखा है। प्रायः सभी हिन्दी जैन कवियों ने आत्म-जागरण प्रधान पदों की रचना की है। आज भी सभी लब्धप्रतिष्ठ कवि अपनी कविता का चरम लक्ष्य आत्मा की उन्नति ही मानते हैं। वास्तव में कविता वही है जो मानव की आत्म उन्नति का पथ प्रशस्त कर सके।

बुधजन ने अपनी रचनाओं में मुख्यतः दोहा, चौपाई, पद, कुण्डलिया, कवित्त, सवैया आदि छन्दों का प्रयोग किया है। इनके पद्यों में ब्रज और राजस्थानी (ढूंढारी) के मिश्रण की स्पष्ट झलक है। ढूंढारी में जैन साहित्य के बड़े-बड़े पुराणों का पद्यानुवाद भी उन्होंने किया है।

कवि की सैद्धान्तिक रचनाओं में विषय प्रधान वर्णन शैली है। उन्होंने सभी सिद्धान्तों का समावेश सरल-शैली में किया है। हिन्दी में उनके द्वारा लिखित अध्यात्म, भक्ति और रूपक काव्य सम्बन्धी भी हैं। उनकी सभी रचनाएं हिन्दी भाषा में हैं। उनके समस्त पद भक्ति रस से परिपूर्ण हैं। कवि ने अपने आराध्य की भक्ति करते हुए उसके रूप लावण्य का विवेचन किया है उनकी समस्त रचनाएं पद्य बद्ध हैं।

एक बात और विशेष ध्यान देने की है कि बुधजन के पदों की भाषा पर ब्रज का प्रभाव है। ब्रजभाषा की मूल प्रकृति ओकारान्त है। कवि के पदों में अनेक ओकारान्त शब्द मिलते हैं। यथा-मिल्यो, कर्‌यो, मर्‌यो, गयो, गहयो, भन्यो इत्यादि। यही

---

१. याचूं नहीं सुरवास, पुनि नरराज परिजन साथ जी।
बुध याचहूं तुझ भक्ति भव-भव दीजिये शिवनाथ जी॥
बुधजनः देवदर्शन स्तुति, ज्ञानपीठ पूजांजलि, पद्य ८, पृ० ४३४–३५ भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रकाशन।

नहीं-संज्ञा, विशेषण और सर्वनाम भी ओकारान्त प्रयुक्त हुए हैं। सर्वनाम-साधित रूप यथा-जाकों, वाकों, ताकों, काकों इत्यादि।

शब्द कोष-पद संग्रह की शब्दावली बड़ी ही विलक्षण और महत्त्वपूर्ण है। बुधजन ने अपने [illegible] की लोक भाषा को बड़े आदर से तथा अपने पदों में स्थान दिया है। परिणामतः अनेक देशी शब्दों का स्वाभाविक प्रयोग सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। यथा-लेज (बु. स. प. सं. १०८) सेती (४७३) नातरि (२२१) बुगला (२२१) परेवा (३१५) वायुका (१६२) लूंग (६५) वाय (६६) विनज (६५) पदे (७) डोलना (४) इत्यादि।

कवि की रचनाओं में सर्वाधिक संख्या तद्भव शब्दों की है जो ध्वनि परिवर्तन के बाद बहुत ही श्रुति मधुर और आकर्षक रूप ग्रहण कर लेते हैं। वे संस्कृत के ज्ञाता थे। उनकी रचनाओं में संस्कृत के अनेक रूप प्राप्त होते हैं। यथा-चित्रकार (६९) वारि (६८) सुयश (६७) कलुषित (६६) निरंतर (६६) परिवर्तन (६४) कर्माश्रव (६४) पल्लव (६१) इत्यादि।

(२) **वस्तु पक्षीय विश्लेषण :—**

भारतवर्ष अति प्राचीन काल से अध्यात्म-विद्या की लीला भूमि रहा है। अपनी आधि दैविक एवं आधि भौतिक समृद्धि के साथ उसके मनीषी साधकों ने अध्यात्म क्षेत्र में जिस चिरंतन सत्य का साक्षात्कार किया उसकी भास्वर रश्मि माला से विश्व का प्रत्येक भू-भाग आलोकित है। भारतीय साहित्य और इतिहास का अध्ययन इस बात का साक्षी है कि आध्यात्मिक गवेषणा और उसका सम्यक् आचरण ही उसके सत्य शोधी, पृथ्वी पुत्रों के जीवन का एक मात्र अभिलषित लक्ष्य रहा है। इसी लोक मंगलकारिणी आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के द्वारा भारत ने चिरकाल से विश्व का नेतृत्व किया और इसी की संजीवनी शक्ति से अनुप्राणित होकर आज भी उसकी वैदेशिक नीति विश्व को विस्मय-विमुग्ध करती हुई विजयिनी हो रही है[1]।

जैन परंपरा में अध्यात्म-विद्या की गरिमा का यथेष्ट गान जैन कवियों ने किया है। अध्यात्म में आत्म-विशुद्धि का प्रतिमान प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि मनुष्य जन्म का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यह जीव अनंत काल तक चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण करता है और बड़ी कठिनाई से मनुष्य जन्म का लाभ कर पाता है। इसके लिये उसे अविराम साधना करनी पड़ती है। वह अपने अन्तर्मल को स्वच्छ करता है और आत्म शुद्धि की एक श्रेणी में पहुंचकर मनुष्य भव को प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य भव की प्राप्ति एक सीमा तक आत्म-विशुद्धि का

---

१. जैन, डा० राजकुमार : अध्यात्म पदावली, पृ० सं० १ तृतीय संस्करण १९६५, भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रकाशन।

परिणाम है जो इस बात को सूचित करता है कि यह जीव अब ऐसी स्थिति में है कि प्रयत्न करने पर सर्वात्मना कर्मबंधन से मुक्त होकर शाश्वत सुख प्राप्त कर सकता है, परन्तु ज्योंही इसे मनुष्य भव मिलता है वह इसे प्राप्त करने के लिये की गई अपनी गंभीर साधना को एकदम भूल जाता है और उन असंख्य योनियों में भोगे हुए अनंत पीड़ाओं के पुंज को। फल यह होता है कि यह जीव मनुष्य होकर भी अज्ञानी होकर भूल जाता है भ्रमवश अमानवीय कार्य करने लग जाता है और अपनी साधना से पतित होकर पुनः उसी पीड़ा पयोधि में गोते लगाना प्रारंभ कर देता है।

मनुष्य के लिये इससे अधिक लज्जा एवं करुणाजनक बात और क्या हो सकती है कि वह अपनी अनंत साधना से प्राप्त की गई चिंतामणि सदृश दुर्लभ वस्तु को यों ही खो देता है और फिर दीन-हीन बनकर रोने-सिसकने लगता है। मनुष्य के पतन की यह चरम सीमा है। कविवर बुधजन ऐसे विवेक-विकल मानव को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं :—

'नर भव पाय फेरि दुःख भरना, ऐसा काज न करना हो।'

हे आत्मन्! तुम ऐसा काम कभी न करना जिससे मनुष्य भव प्राप्त करके भी फिर से तुम्हें दुःख भोगना पड़े। कविवर बुधजन की दृष्टि में कर्म बन्धन ही संसार के दुःख जाल का कारण है, जो ममत्व भाव से और भी दृढ़ होता जाता है, इसलिये वे कितने स्पष्ट एवं सरल शब्दों में मनुष्य को मतलब की बात बतला रहे हैं :—

'नाहक ममत ठानि पुद्गल सों, करम जाल क्यों परना हो।

आत्मन्! तुम पुद्गल-परवस्तु से (जो अपनी नहीं है) ममत्व जोड़ कर व्यर्थ क्यों कर्म चक्र के बन्धन में पड़ते हो? तुम ऐसा काम कभी न करना जिससे मनुष्य भव प्राप्त करके भी तुम्हें फिर से दुःख भोगना पड़े। कविवर आत्म-स्वभाव एवं पर वस्तु के स्वरूप में अन्तर दिखलाते हुए कितने सुन्दर ढंग से जीव को भेद-विज्ञान की ओर प्रेरित करते हुए कर्त्तव्य मार्ग पर आरूढ़ रहने के लिये गुरु का उपदेश बता रहे हैं :—

यह तो जड़, तू ज्ञान अरूपी, तिल तुष ज्यों गुरु वरना हो।
राग दोष तजि, भज समता को, कर्म साथ के हरना हो॥

हे आत्मन्! यह पुद्गल परवस्तु है। जड़ है, तुम अरूपी हो और ज्ञान-मय हो। तुम दोनों का तिल-तुष के समान सम्बन्ध है। जिस प्रकार तिलों से तुष को प्रथक् कर देने पर शुद्ध तेल मात्र अवशेष रह जाता है, उसी प्रकार कर्ममल से विमुक्त होने पर आत्मा भी शुद्ध स्वरूप में प्रदीप्त हो उठता है इसलिये आत्मन्! तुम राग द्वेष को छोड़कर अपने कर्म बंधन को तोड़ दो और अपने भीतर संपूर्ण समभाव को (मोह-राग-द्वेष रहित अवस्था) को जागृत करो।

कविवर बुधजन सरलता के साथ आध्यात्मिक विषय का विवेचन करने में अत्यन्त निपुण हैं। उन्होंने सर्वत्र अल्पाक्षरों में भावगाम्भीर्य को समाहित किया है, किन्तु चलती हुई भाषा में कहीं भी क्लिष्टता का बोध नहीं होता। कहीं-कहीं तो उपमानों के प्रयोग से ही कवि ने काम चलाया है। यथा—

हे आत्मन्। इस मनुष्य भव को प्राप्त करके भी विषय-सुख में मग्न हो जाने का अर्थ है हाथी पर सवारी करने के बाद सिर पर ईंधन ढोना। इसलिये आत्मन्! यदि तुम भवसागर से पार होना चाहते हो, संसार के दुःखों से छुटकारा चाहते हो तो तुम्हें समझदारी के साथ उन जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों की उपासना करनी चाहिये, जिन्होंने अपनी आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त कर लिया है। मनुष्य, मनुष्य का जन्म लेकर भी जब तक सदा के लिये दुःखों से छुटकारा पाने के मार्ग पर दृढ़ता एवं निष्ठा से अग्रसर नहीं होता, कविवर बुधजन की वाणी उसे पुकार-पुकार कर, सम्बुद्ध करती रहेगी। 'नरभवपायफेरि दुःख भरना, ऐसा काज न करना हो'

कविवर बुधजन का एक पद्य देखिये—

'बाबा मैं न काहू का'

मोह का यह सबसे बड़ा मद है। संसार का मानव आदि काल से उसके मद में उन्मत्त है। इसके कारण उसे एक क्षण के लिये भी शुद्ध आत्म-स्वरूप की झलक नहीं मिल पाती। यह सोच ही नहीं पाता कि शरीर के अन्दर रहने वाला 'मैं' क्या है और उसके साथी शरीर तथा अन्य बाह्य वैभव-सामग्री का इस "मैं और इससे पृथक् अन्य वस्तुओं का क्या सम्बन्ध है। इस बात का यथार्थ विवेक न होने के कारण यह इन सब चीजों में अपनत्व मान बैठता है और 'मैं' के स्वरूप को भूलकर बाह्य वस्तुओं में ही 'मैं' के दर्शन करने लगता है। इसे ही पर्याय मूढ़ता (पर वस्तु में अपने को मानना) कहते हैं।

मैं सुखी दुःखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुतिय में सबल दीन, बे रूप सुभग मूरख प्रबीन[1]॥

इत्यादि कल्पनाओं में मोह का प्रबल उद्रेक ही लक्षित होता है और इसी भाव के कारण समस्त वस्तुओं में इष्ट और अनिष्ट की कल्पना करके यह जीव चिरकाल से आकुल-व्याकुल हो रहा है। कालब्धि आने पर तथा पुरुषार्थ जागृत होने पर इसे आत्म भान होता है—मैं तथा इससे सम्बन्धित समस्त वस्तुओं की ठीक-ठीक जानकारी होती है। मोह मद-मंद हो जाता है। अंतरात्मा स्वपर विवेक की उज्जवल ज्योति से आलोकित हो उठती और गुन गुनाने लगती है।

---

१. पं० दौलतराम, छहढाला, द्वितीय ढाल, पद्य संख्या ४ पृष्ठ संख्या ११, सरल जैन ग्रन्थ भंडार, जबलपुर प्रकाशन।

'बाबा मैं न काहू का, कोई नहीं मेरा रे।
सुरनर नरक तिर्यंग्गति मांही, मो को कर्मन घेरा रे।।'

बाबा मैं किसी का नहीं हूं और कोई मेरा नहीं है। शुद्ध आत्म स्वभाव ही मेरी निधि है और उसकी संपूर्ण उपलब्धि ही मेरा लक्ष्य है। अन्य समस्त सांसारिक वस्तुओं का इस आत्म-स्वभाव से कोई मेल नहीं है। संसार की इन चीजों में भी 'स्व' (आत्मा) की कल्पना करने से मुझे कर्मों ने नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गतियों में बुरी तरह रुला दिया।

अन्तर्दृष्टि खुलते ही "मैं" से सम्बन्धित समस्त वस्तुओं की सम्यक्, प्रतीति होने लगती है और तब आत्मा बड़ी सरलता से अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को पहिचान लेती है। देखिये :—

अन्तस् में किस प्रकार स्व-पर विवेक की ज्योति जागृत हो रही है—

'मात-पिता-सुत-तिय-कुल-परिजन
मोह-गरल उरझेरा रे,
तन-धन-वसन-भवन-जड़ न्यारे
हूं चिन्मूरति न्यारा रे।।

माता, पिता, पुत्र, स्त्री, कुल और नौकर-चाकर यह सब मोह जाल में फंसाने वाले हैं। इनमें राग और अपनत्व बुद्धि करके आज तक हम मोह-पाश में फंसे रहे और दु:खों को उठाते रहे। वास्तव में शरीर, धन, वस्त्र और मकान का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये समस्त वस्तुएं जड़ हैं और आत्मा से पृथक् हैं। आत्मा का चैतन्य स्वभाव है और वह स्वयं इन सब चीजों से पृथक् अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व रखता है।

विभाव भावों को छोड़कर किस प्रकार कविवर आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार कर रहे हैं :—

'मुझ विभाव जड़ कर्म रचित हैं, कर्मन हमको छोरा रे।
विभाव चक्र तजि धारि सुभावा, अब आनन्द घन हेरा रे।।

शुद्ध आत्म-स्वभाव को छोड़कर अन्य समस्त भाव एवं कल्पनाएं वैभाविक है, जो स्वयं आत्म-स्वरूप से पृथक् जड़ स्वरूप हैं और नवीन कर्म परंपरा की सृष्टि के कारण हैं और कर्म ही हमें संसार भ्रमण के द्वारा रुलाते हैं। अब हमने वैभाविक भावों को छोड़ दिया है और शुद्ध भावों को अपना लिया है। इस समय हम केवल शुद्ध चिदानन्दमय आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार कर रहे हैं।

कविवर 'बुधजन' सच्चिदानन्द के पान में इतने तन्मय हो रहे हैं कि इसके सामने उन्हें अन्य समस्त जप-तप केवल उसी साध्य को प्राप्त करने वाले साधन भर ही दिखलाई दे रहे हैं। कविवर के शब्दों में सुनिये :—

खरच खेद नहीं अनुभव करते, निरखि चिदानन्द तेरा रे।
जप-तप-व्रत श्रुतसार यही है, बुधजन कर न अवेरा रे॥

शुद्ध चैतन्यमय आत्म-स्वरूप को साक्षात्कार करने पर हमें त्याग करते समय खेद का अनुभव नहीं होता है क्योंकि हमने निश्चय कर लिया है कि हमारा सम्बन्ध और अपनत्व केवल शुद्ध आत्म-स्वभाव से है, इसलिये अन्य समस्त पर वस्तुओं के त्याग में हमें तनिक भी दुःख का अनुभव नहीं होता। जप-तप-व्रत और संपूर्ण शास्त्र ज्ञान का भी यही ध्येय है कि हमें अपने सच्चिदानन्द मय आत्म-स्वरूप के स्थिर दर्शन हों।

आज लोक में अपने दायित्व को उपेक्षित कर कर्त्तव्य से जी चुराने वाले अनेक जन ऐसा कहते हुए पाये जाते हैं।

'बाबा मैं न काहू का, कोई नहीं मेरा रे।'

जैनाचार्यों ने प्राकृत के समान ही संस्कृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं में अपने विचारों की अभिव्यंजना कर वाङ्मय की वृद्धि की है।

गृहस्थावस्था में रहते हुए भी कवि ने सरस्वती की साधना द्वारा तीर्थंकर की वाणी को जन-जन तक पहुंचाया है।

काव्य-साहित्य की आत्मा भोग-विलास और राग द्वेष के प्रदर्शनात्मक शृंगार और वीर रसों में नहीं है किन्तु समाज कल्याण की प्रेरणा ही काव्य साहित्य के मूल में निहित है।

दर्शन, आचार, सिद्धान्त प्रभृति विषयों की उद्भावना के समान ही जन-कल्याण की भावना भी काव्य में समाहित रहती है। अतएव समाज के बीच रहने वाले कवि और लेखक गार्हस्थिक जीवन व्यतीत करते हुए करुण भाव की उद्-भावना सहज रूप में करते हैं।

एक ओर जहां सांसारिक सुख की उपलब्धि और उसके उपायों की प्रधानता है तो दूसरी ओर विरक्ति एवं जन-कल्याण के लिये आत्म-समर्पण का लक्ष्य भी सर्वोपरि स्थापित है।

निश्चय ही बुधजन के साहित्य में अहिंसा सिद्धान्त की अभिव्यक्ति हुई है उसमें लोक-जीवन के स्वाभाविक चित्र अंकित हैं। उसमें सुन्दर आत्म-पीयूष रस छल छलाता है। धर्म विशेष का साहित्य होते हुए भी उदारता की कमी नहीं है। मानव स्वावलंबी कैसे बने, इसका रहस्योद्घाटन किया गया है। तत्व-चिंतन और जीवन शोधन ये कवि की रचनाओं के मूलाधार हैं।

आत्म शोधन में सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का महत्वपूर्ण स्थान है। सम्यक् चारित्र, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की संपूर्णता है, जो वीतराग भाव में निहित है। प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है। प्रत्येक

आत्मा राग द्वेष एवं कर्ममल से अशुद्ध है, वह पुरुषार्थ से शुद्ध हो सकती है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता है। 'जैन दर्शन निवृत्ति प्रधान है। रत्नत्रय ही निवृत्ति मार्ग है। सात तत्वों की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। विचारों को अहिंसक बनाने के लिये अनेकान्त का आश्रय आवश्यक है।' कवि की आध्यात्मिक रचनाओं का आधार ही आत्मा है। अतः आत्म-स्वरूप की यथार्थ जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों ने गहन-चिंतन किये हैं और अपनी-अपनी स्वतंत्र मान्यताएं स्थिर की हैं, परन्तु वे सब एकान्त दर्शन पर आधारित हैं और यही कारण है कि वे अनन्त गुणात्मक आत्म-स्वरूप का स्पर्श नहीं कर पातीं। जैन-दर्शन में आत्म-स्वरूप का अनेकान्त दृष्टि से किया गया सर्वांगपूर्ण विवेचन उपलब्ध होता है[1]। कहा भी है कि—

'जीव उपयोगमय है, अमूर्त्त है, कर्त्ता है, स्वदेह प्रमाण है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगामी है[2]।'

जीव उपयोगमय है :—

जीव आत्मा का नामांतर है, उपयोग जीव का स्वरूप है। ज्ञान और दर्शन की उपयुक्त अवस्था को उपयोग कहते हैं। ज्ञान और दर्शन का अर्थ है—जानना और देखना। जीव को जानने की और देखने की क्रिया निरंतर बनी रहती है। एक क्षण के लिये भी उपयोगात्मक स्वभाव को नहीं छोड़ता है, इसलिये जीव उपयोग मय कहा जाता है।

जीव अमूर्त्त है :—

जीव का दूसरा स्वरूप अमूर्त्त है। मूर्त्त का अर्थ है—जिसमें रूप, रस, ग्रन्थ और स्पर्श ये चार गुण प्राप्त होते हैं। इस व्याख्या के अनुसार पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक ठहरता है। जीव मूर्तिक नहीं है, क्योंकि उसमें रूप, रस गंध और स्पर्श नहीं पाये जाते हैं।

जीव कर्त्ता है :—

जैन दर्शन में जीव को कर्त्ता माना गया है। इसका अर्थ यह है कि जीव अपनी संसार और मुक्त दोनों दशाओं का स्वयं कर्त्ता है। सांख्य दर्शन आत्मा को कर्त्ता स्वीकार नहीं करता। उसकी मान्यता में वह सर्वथा अविकारी-कूटस्थनित्य एवं सर्वव्यापक है। निष्क्रिय है और अकर्त्ता है। क्रियाशीलता केवल प्रकृति का धर्म

---

१. जीवो उवओगमओ अमुत्तिकर्त्ता सदेह परिमाणो।
भोक्ता संसारत्थो सिद्धोसो विस्ससोड्ढगई॥
जैनाचार्य नेमिचन्द्र: द्रव्य संग्रह गाथा नं० २, पृ० ४, जबलपुर प्रकाशन

है। इस दर्शन में आत्मा को पुरुष नाम से अभिहित किया गया है। सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष का निम्न लिखित लक्षण पाया जाता है[1]।

जो त्रिगुणमय, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी है वह प्रकृति है और इससे विपरीत जो त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, विशेष, चेतन तथा अप्रसवधर्मी है, वह पुरुष है।

जीव स्वदेह प्रमाण है :

वेदान्त दर्शन में आत्मा को व्यापक और एक माना गया है। उसकी मान्यता है कि अखिल ब्रह्माण्ड में एक आत्मा का ही प्रसार है। आत्मा के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। सांख्य, योग और मीमांसा दर्शन भी आत्मा को व्यापक मानते हैं। एक अन्य मान्यता आत्मा को अणुपरिमाण स्वीकार करती है, परन्तु जैन दर्शन उसे स्वदेह प्रमाण मानता है। लघु और महत् शरीर के आधार पर एक आत्म-द्रव्य के प्रदेशों में भी संकोच-विस्तार होता है। इस प्रकार प्रत्येक दशा में वह शरीर प्रमाण ही रहता है।

जीव भोक्ता है :

जैन दर्शन में जहां प्रत्येक द्रव्य को अपने-अपने गुण-पर्यायों का कर्त्ता माना गया है वहां भोक्तृत्व योग्यता जीव में ही मानी गई है। जीव के सिवाय अन्य द्रव्य जड़ है, उनमें भोग करने की योग्यता नहीं है। जीव में यह भोक्तृत्व योग्यता भी स्वद्रव्य के भोग पर ही आधारित है। वह किसी भी स्थिति में पर पदार्थों का भोग नहीं करता। जहां भी पर पदार्थों में जीव के भोक्तृत्व की कल्पना की जाती है, वह मिथ्यात्व-विलास के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

जीव सिद्ध है :

अन्य द्रव्यों की भाँति जीव भी एक स्वतंत्र द्रव्य है। अनादि कालीन कर्म शरीर से बद्ध होने के कारण ही वह संसार दशा का भोग करता है, परन्तु ज्योंही कर्म-बन्धन से मुक्त होता है अपने शाश्वत सिद्धत्व को प्राप्त कर लेता है और सदा के लिये अपने इस विशुद्ध स्वभाव में रहता है। सिद्धत्व भी जीव का स्वभाव है।

जीव ऊर्ध्व गति है :

यह एक गंभीर प्रश्न है कि कर्म-बन्धन से मुक्त होते ही जब यह जीव अपने विशुद्ध स्वभाव को प्राप्त कर लेता है तब यह जाता कहां है? समाधान यह है कि ज्यों ही यह जीव कर्म बन्धन से मुक्त होता है लोक के अन्त तक ऊपर चला जाता है[2]। नीचे तिरछे इसलिये नहीं जाता है कि वह स्वभावतः ऊर्ध्वगामी है। ऊर्ध्वगमन

---

१. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्य मचेतनं प्रसवधर्मं।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीत स्तथा पुमान्॥ सांख्य कारिका, ११।

२. 'तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छन्त्यालोकान्तात्। उमास्वामी तत्वार्थसूत्र, अ० १०, सूत्र ५।

करता हुआ लोक के अन्त में इसलिये ठहर जाता है कि लोक के बाहर गमन-निमित्तक धर्मद्रव्य का अभाव है [1]।

आत्म-स्वरूप की यथार्थ जानकारी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवम् सम्यग्-चारित्र द्वारा बतलाई गई है।

सम्यग्दर्शन-आत्म विकास की दृष्टि से किया गया, जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष स्वरूप तत्वों का यथार्थ दर्शन सम्यग्दर्शन है[2]।

इसकी दूसरी व्याख्या है—सच्चे देव, शास्त्र, गुरू का तीन मूढ़ताओं और आठ मदों से रहित और आठ अंग सहित यथार्थ श्रदान करना सम्यग्दर्शन है[3]।

इसकी तीसरी व्याख्या के अनुसार स्वानुभूतिमयी श्रदा को सम्यग्दर्शन कहा है[4]।

सम्यग्दर्शन की उक्त तीनों व्याख्याओं में शाब्दिक अन्तर होते हुए भी अर्थतः कोई अन्तर नहीं है। आत्म-जागरण की बेला में साधक अपने आत्मा से सम्बद्ध अजीव तत्व की जानकारी करता है और इसके बाद उसके बन्ध के कारण तथा बन्धन मुक्ति के कारणों को हृदयंगम कर अन्त में विशुद्ध आत्मानुभूति को ही उपादेय मानकर अपनी रुचि आत्म-स्वभाव में ही केन्द्रित कर लेता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की तत्वार्थ श्रद्धान रूप प्रथम व्याख्या स्वानुभूतिमयी श्रद्धा से बाह्य नहीं ठहरती[5]।

संपूर्ण जैन साहित्य अध्यात्म प्रधान साहित्य है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्रान्तीय भाषाएं और हिन्दी में जो कुछ भी जैन साहित्य आज प्राप्त है उस सबका मूल स्वर अध्यात्म है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर ही हम जैन साहित्यकारों की परंपरा का अध्ययन संपूर्ण रूपेण कर सकेंगे।

---

१. धर्मास्तिकाया भावात्' उमास्वामी : तत्वार्थसूत्रः १०।८

२. तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् उमास्वामी : तत्वार्थसूत्र १–२

३. श्रद्धानं परमार्थानामाप्तानमतपो भृताम्।
त्रिमूढ़ापोढ़मष्टांगं, सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥
आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरंड श्रावकाचार, १–३, सरल जैन ग्रंथ भंडार, जबलपुर।

४. तस्माच्छ्द्धादयः सर्वे, सम्यक्तवंस्वानुभूति मत्।
ततो स्ति यौगिकी रूढ़ि :, श्रद्धासम्यक्त्व लक्षणम्॥
अर्थादप्यविरुद्धस्यात् सूक्त स्वात्मानुभूति मत्॥
पंडित राजमल्ल : पंचाध्यायी २, ४१६–४२३।

५. डॉ० राजकुमार : अध्यात्म पदावली, पृ० ५६, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

संपूर्ण जैन साहित्य विषय की दृष्टि से चार भागों में विभक्त है—प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग में—महापुरुषों के जीवन-चरित्र और उन्हीं की लोकोपकारी घटनाएं।

चरणानुयोग में आचार और चरित्र सम्बन्धी चर्चाएं। करणानुयोग में लोक और नरक आदि गतियों का वर्णन।

द्रव्यानुयोग में—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इस षट् द्रव्यों का वर्णन।

जैन कवियों या लेखकों का दृष्टिकोण धार्मिक होते हुए भी काव्य कौशल प्रदर्शित करने में वे किसी से पीछे नहीं हैं। ऐसे अनेक स्थल हैं जहां हमें एक अत्यन्त उच्चकोटि के सरल और सरस काव्य के दर्शन होते हैं। इनके काव्य में लोक रुचि के अनुकूल पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। सरलता और सरसता को एक साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

कविवर बुधजन ने श्रावक धर्म का विशद वर्णन किया है। उन्होंने श्रावक धर्म के ग्रहण की पात्रता बतलाकर ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षा व्रत तथा सल्लेखना के आचरण को संपूर्ण सागार धर्म बतलाया है। उक्त १२ प्रकार के धर्म को पाक्षिक श्रावक अभ्यास रूप से, नैष्ठिक आचरण रूप से और साधक आत्मलीन होकर पालता है। आठ मूलगुणों का धारण, सप्त व्यसनों का त्याग, देव पूजा, गुरू उपासना, पात्रदान आदि क्रियाओं का आचरण करना पाक्षिक आचार है। धर्म का मूल अहिंसा और पाप का मूल हिंसा है। अहिंसा का पालन करने के लिये मद्य, मांस, मधु और अभक्ष्य का त्याग अपेक्षित है। रात्रि भोजन त्याग भी अहिंसा के अन्तर्गत है। गृह-विरत श्रावक आरंभी हिंसा का त्याग करता है और गृहरत श्रावक संकल्पी हिंसा का। सत्याणुव्रत आदि का धारण करना भी आवश्यक है। श्रावक गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का पालन करता हुआ अपनी दिनचर्या को भी परिमार्जित करता है। वह एकादश प्रतिमाओं का पालन करता हुआ अन्त में सल्लेखना द्वारा प्राणों का विसर्जन कर सद्गति लाभ करता है। इस प्रकार कवि ने अपनी रचनाओं में श्रावक की चर्याओं का वर्णन किया है।

कवि ने आत्मा के अस्तित्व आदि का कथन करते हुए आत्म देव दर्शन निर्ग्रन्थ गुरू सेवा, जिनवाणी का स्वाध्याय इन्द्रिय-दमन आदि क्रियाओं को आत्म-स्वरूप की प्राप्ति का साधन बताया है। सम्यग्दृष्टि ही आस्तिक होता है और आस्तिक ही पूर्णज्ञानी और परमपद का स्वामी होता है। नास्तिक को संसार में ही भ्रमण करना पड़ता है। उन्होंने भगवान महावीर के उस उपदेश का प्रतिपादन

किया जिसके लिये जाति, पद, भाषा, देश या धर्म की रेखाएं बाधक नहीं थीं सब उनके उपदेश से लाभ उठाते थे ।

प्रत्येक धर्म की आचार और विचार ये दो शाखाएं होती हैं । इन दोनों ही शाखाओं में जब तक रहता है, तभी तक धर्म की धारा अविच्छिन्न रूप से चलती है । आचार-चारित्र की दृढ़ता लाता है जिससे शिथिलाचार नहीं आ पाता और दर्शन की परिपक्वता (विचार पक्ष) उसे आडंबर नहीं बनने देती ।

कविवर बुधजन ने इन दोनों पक्षों का अपनी रचनाओं में प्रतिपादन किया है । उन्होंने दोनों के सन्तुलन का पूर्ण ध्यान रखा है । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण या अपरिग्रह इन पांच अणुव्रतों को धर्म का आचार पक्ष कहा है । कवि में भावानुभूति भी है और अभिव्यक्ति भी । धर्म में आचार का महत्व है—(व्रत, उपवास, पूजन, तप आदि) परन्तु इस आचार में हमारी निष्ठा होना चाहिये । इस आचार का सम्बन्ध हृदय से होना चाहिये, प्रदर्शन के लिये नहीं ।

धर्म में वैराग्य एवं अनासक्ति का विशेष महत्व है । अनासक्ति के अभाव में चित्त में निर्मलता नहीं आ सकती । चित्त की निर्मलता के बिना जीवन में सादगी, पवित्र-चिंतन एवं तप में तल्लीनता असंभव है ।

बुधजन की सैद्धान्तिक रचनाओं में विषय-प्रधान वर्णन शैली है । कवि ने सभी सिद्धान्तों का समावेश सरल शैली में किया है । हिन्दी में इनके द्वारा लिखित ११ रचनाएं विषय-प्रधान शैली में लिखी गई है । "बुधजन सतसई" नीति परक रचना है ।

(३) प्रकृति—चित्रण :

भारतीय साहित्य में प्रकृति-चित्रण की परंपरा प्राचीन काल से है । इसका कारण यह है कि भारतीय जीवन और संस्कृति मुख्यतः प्रकृति के प्रांगण में ही विकसित हुई है । अतः प्रकृति के प्रति भारतीय जनता का प्रेम स्वाभाविक ही है । रामायण और महाभारत की रचना तपोवनवासी ऋषियों द्वारा हुई अतः उनकी रचनाओं में प्रकृति के अनेक चित्र दृष्टिगोचर होते हैं । अनेकों जैन कवियों ने त्यागी बनकर वन का मार्ग ग्रहण किया वहां वे आश्रम में रहे । उन्होंने प्रकृति के खुले वातावरण में रहकर प्रकृति का अवलोकन किया था ।

वाल्मीकि रामायण का एक चित्र देखिये—

राम पुष्पक विमान में सीता को ले जा रहे हैं । प्रकृति का रम्य रूप उनके सामने है अतः वे सीता जी से कहते हैं—हे सीते ! इस रमणीय तटवाली विचित्र मंदाकिनी को देखो । जिसके तट पर हंस और सारस कल्लोल करते हैं और जो पुष्पित वृक्षों से घिरे हैं । पवन से प्रताड़ित शिखरों से जो नृत्य सा करता है, ऐसा पर्वत वृक्षों से नदी पर चारों ओर पुष्प और पत्र विकीर्ण करता है । हे भद्रे ! पवन के झोकों से नदी के तट पर बिखरे हुए पुष्पों के ढेर को देखो और इन दूसरे पुष्पो, को देखो जो उड़कर जल में जा गिरे हैं । जैन मुनी प्रायः नदी, सरोवर के किनारें, पर्वतों के ऊपर या गुफाओं में तप करते थे । प्रकृति अपना रोष दिखलाती

थी, किन्तु वे विचलित नहीं होते थे। सावन का महीना है और नेमीश्वर गिरनार पर्वत पर तप करने चले गये हैं इस पर राजमती कहती है—

पिया सावन में व्रत लीजे नहीं, घनघोर घटा जुर आवेगी।
चहु ओर तें मोर जु शोर करें, वन कोकिल कुहल सुनावेगी॥
पिय रेन अंधेरी में सूझे नहीं, कछु दामिनि दमक डरावेगी॥

उक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट है कि भारतीय कवियों ने प्रकृति को अपनी खुली आंखों से देखा है और उसके प्रति उनका सहज अनुराग है। प्रकृति के किसी दृश्य को चमत्कार पूर्ण ढंग से कहने की प्रवृत्ति उनमें नहीं है। हिन्दी साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भक्तिकाल में प्रकृति चित्रण तो हुआ है पर उस काल के संतों और भक्तों की वाणी उपदेश परक थी। उन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभवों को व्यक्त करने के लिये प्रकृति के प्रतीकों का सहारा लिया है अन्योक्ति के माध्यम से प्रकृति का आलंबन लेकर उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त किया है। तुलसी जैसे भक्त कवियों ने वर्षा और शरद् का वर्णन किया है, परन्तु प्रकृति के विभिन्न क्रियाकलापों के माध्यम से उन्होंने उपदेश ही दिया है। उन्होंने प्रकृति का वर्णन आलंबन के रूप में ही किया है।

रीतिकालीन कवियों ने इसके विपरीत प्रकृति का वर्णन उद्दीपन रूप में अधिक किया है। जायसी का बारहमासा वर्णन, बदलती हुई ऋतुओं में नागमती की विरह व्यथा को उद्दीप्त करता है। षड् ऋतुओं का उपयोग भी उन्होंने उद्दीपन रूप में ही किया है। परन्तु जैन कवियों ने प्रकृति का वर्णन नीति व शिक्षा के रूप में किया है। कविवर बुधजन द्वारा जैन साहित्य में, बाह्य प्रकृति के नाना रूपों की अपेक्षा मानव-प्रकृति (स्वभाव) का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। कविता करने की प्रेरणा उन्हें जीवन की नश्वरता और अपूर्णता के अनुभव से ही प्राप्त हुई है। उनकी सौंदर्य ग्राहिणी दृष्टि प्रकृति के बाह्य रूपों की ओर भी गई और उन्होंने प्रकृति के सुन्दर चित्र भी अंकित किये पर शान्त रस के उद्दीपन के रूप में ही।

प्रकृति के विभिन्न रूपों में सुन्दरी नर्तकी के दर्शन भी अनेक जैन कवियों ने किये हैं, किन्तु वह नर्तकी कुछ ही क्षणों में कुरूपा और वीभत्स सी प्रतीत होने लगती है। रमणी के केश-कलाप, सलज्ज कपोल की लालिमा और साज-सज्जा के विभिन्न रूपों में विरक्ति की भावना का दर्शन करना जैन कवियों की अपनी विशेषता है। कविवर बुधजन ने होली का वर्णन किया है। वे लिखते हैं—

निजपुर में आज मची होली निजपुर में।
उमंगि चिदानन्द जी इतआये, उत आई सुमती गोरी॥ निज०॥
लोकलाज कुलकाणि गमाई, ज्ञान गुलाल भरी झोरी॥ निज०॥

समकित केसर रंग बनायो, चारित पिचकारी छोरी ।। निज० ।।
गावत अजपा गान मनोहर, अनहद झरसो बरस्योरी ।। निज० ।।
देखन आये बुधजन भीगे, निरख्यो ख्याल अनखोरी ।। निज० ।।

चेतन आत्मा अपने में ही होरी का खेल मचा रहा है। एक ओर उमंग में भरे चिदानंद जी हैं तो दूसरी ओर सुमति रूप गौरी है। इन दोनों ने लोक लाज का ख्याल न रखते हुए ज्ञान रूपी गुलाल से अपनी झोरी भर ली है। उसने सम्यक्त्व रूपी केशर का रंग बना लिया है और अब चिदानंद जी चारित्र रूपी पिचकारी छोड़ेंगे। इस प्रसंग पर मनोहर अजपा गान होने लगा और अनहद नाद होने लगा। इस प्रकार की होली को, बुधजन को भी देखने का अवसर मिला तो वे भी सुमति रानी के साथ होली खेलने लगे। इस प्रकार संपूर्ण वातावरण आनंद से भर गया।

जैन धर्म व जीवन, जीव को परम निःश्रेयस की ओर बढ़ाने का एक प्रयत्न है अतः यहां होली का मादक उन्माद भी समता–श्री बुद्धि का सहायक होता है। कवि की उपर्युक्त भावधारा में मौलिक होली अध्यात्म प्रगति की होली बन गई है। आत्मा के घट में बसन्त फूट पड़ा है और फिर मुमुक्षुओं के लिये शाश्वत सुख केलि का कोई अन्त ही नहीं रहा है।

१८वीं शताब्दी के श्री 'वर्धमान पुराण" काव्य के प्रणेता श्री नवलराम ने अनेक होली पद लिखे हैं। यहां एक संक्षिप्त पद पर विचार किया जा रहा है। कवि का विमर्श है कि अश्लील भंड रूप से होली खेलना उचित नहीं है। उसके अनुसार महाठग कुमति-रमणियों का साथ एकदम छोड़, सुज्ञानरूप रूपसियों का प्रसंग करना इष्ट है। होली का खेल तो कुछ इस प्रकार ही होना चाहिये। यथा—

ऐसे खेलि होरी को खेल रे।
कुमति ठगोरी को अब तजि करिके, साथ करो सुमती गोरी को ।।

कवि कह रहा है कि व्रत रूपी बन्दन लीजिये, तपरूपी सात्विक अरगजा (सुरभित लेपन) लेकर संयम रूपी जल छिड़किये, फिर देखिये क्या बहार आती है ? ऐसा होली का खेल खेलिये।

कवि बुधजन अपनी 'बुधजन-विलास' रचना में चेतन राजा को सावधान करते हुए कहते हैं कि 'हे चेतनराजा ! यदि तुम्हें होली खेलना ही हो तो तुम सुमति-रानी के साथ ही होली खेलना। अन्य स्त्रियों की प्रीति तोड़कर सुमति रानी से संग जोड़ने से चेतन और सुमति की अच्छी जोड़ी बन गई है। यह डगर-डगर डोलती थी। परन्तु इस प्रकार डगर-डगर डोलना उचित नहीं है। हे चेतन ! अपना आत्मानुभव रूपी रंग क्यों नहीं छिड़कते ? तुम ने सुमति रानी का साथ किया है,

अतः उसके सहयोग से अपने मिथ्यात्व आदि पापों का त्याग कर आत्मानुभव रूपी गुलाल से अपनी झोरी भर ले, आत्मा को निर्मल बना ले। सुमति का संग न रहने से तू ने पहले अनेकानेक योनियों में भ्रमण किया और अनेक कष्ट उठाये। कवि बुधजन कहते हैं कि अपने वेश को सुधारो अर्थात् सम्यग्दृष्टि बनकर चारित्र धारण करो, जिससे मुक्तिरमा के संग आनंद की प्राप्ति हो सके[1]।

इसी प्रकार की होली खेलने के लिये कवि ने चेतनराजा को प्रोत्साहित किया है तथा अन्य प्रकार की होली खेलने का निषेध किया है। उन्हीं का एक और पद द्रष्टव्य है :—

'सुमति रूप नारी श्री जिनवर के दरबार में होली खेलना चाहती है। इसके लिये वह विभाव-भावों का परित्याग कर शुद्ध स्वरूप बनाना चाहती है। वह प्रतिज्ञा करती है कि मैं कभी भी कुमति नारी का संग नहीं करना चाहती। मैं मिथ्यात्व रूप रंग की अपेक्षा सम्यक्त्व रूपी रंग में डूबना उचित समझती हूँ। कवि बुधजन भी अपनी आत्मा के आनन्द रूपी रस में (रंग) खूब छक गया है और अब उसे आनंद ही आनंद की प्राप्ति हो रही है। निरानन्द का कोई कारण ही नहीं रहा।' कविवर बुधजन ने लोक मंगल की कामना से प्रेरित होकर प्रकृति का चित्रण किया है यह कोई नई बात नहीं है। तुलसी, गिरधर आदि कवियों ने भी इस प्रकार लोक मंगल की कामना से प्रेरित होकर प्रकृति का चित्रण किया है।

'अनादि काल से प्रकृति मानव को सौंदर्य प्रदान करती आ रही है। वन, पर्वत, नदी, नाले, उषा, संध्या, रजनी, ऋतु आदि सदा से अन्वेषण के विषय रहे हैं। हिन्दी के जैन कवियों को कविता करने की प्रेरणा जीवन की नश्वरता और अपूर्णता के अनुभव से ही प्राप्त हुई है[2]।

मुख्य बात यह है कि भारतीय साहित्य में प्रायः सभी कवियों ने किसी न

---

१. बुधजन, बुधजन विलास, पाना संख्या ३१, पद्य सं० ३३, हस्त लिखित प्रति।
चेतन खेलि सुमति संग होरी ।। टेक ।।
तोरी आनकी प्रीति सयानी भली बनी या जोरी ।।१।।
डगर-डगर डोले है यो ही, आव पावनी पोरी।
निज रस फगुआ क्यों नहीं बांटो, नातर सुवारी तोरी ।।२।।
क्षार कषाय त्याग या गहिले, समकित केसर थोरी।
मिथ्यापाथर डारि धारिले, निज गुलाल की डोरी ।।३।।
खोटे भेष धरे डोलत हैं, दुख पावै बुधि मोरी।
"बुधजन" अपना भेष सुधारो, ज्यो विलसो सिव गोरी ।।४।।

२. डॉ० नेमिचन्द शास्त्री : संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृष्ठ संख्या ५८५, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

किसी रूप में प्रकृति का आलंबन, उद्दीपन रूप में चित्रण किया है। यह चित्रण जहां सौंदर्य को अभिव्यक्त करता है वहीं मानवीय पक्षों के चित्रण में भी सहायक माना जाता है किन्तु मानव की मूल प्रकृति का यथा तथ्य वर्णन करना विशिष्ट कवियों की प्रतिभा का ही कार्य प्रतीत होता है। प्रकृति के बाह्य रूपों का वर्णन करना सरल है, किन्तु बाह्य प्रकृति का आलंबन लिये बिना प्रत्यक्ष रूप से मानव-प्रकृति का वर्णन करना असंभव नहीं तो क्लिष्ट अवश्य है। 'बुधजन' जैसे कवि ही इस प्रकार के प्रकृति चित्रण करने में समर्थ हैं। इतना ही नहीं 'अनेक जैन कवि प्रकृति के प्रांगण में पले और वह ही उनका साधना क्षेत्र बना अतः वे प्रकृति-चित्रण भी स्वाभाविक ढंग से कर सके[1]।

उन्होंने प्रकृति के माध्यम से अनेक प्रकार की शिक्षा दी है। यथा–रात्रि का दीपक चन्द्रमा है। दिन का दीपक सूर्य है। सारे संसार का दीपक धर्म है और कुल का दीपक शूरवीर पुत्र है[2]।

शिक्षा देने पर भी जो श्रद्धा नहीं करता। रातदिन झगड़ा और फिसाद करता रहता है। ऐसा पूत पूत नहीं, भूत है। वह तो अपने घोर पापों का फल है[3]।

कवि ने बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में भी प्रकृति का चित्रण किया है। यथा—

संपत्ति के सबही हितु, विपदा में सब दूर।
सूखोसर पंखी तजे, सेवें जलतें पूर[4] ॥१६८॥

यहां पंखी–सरोवर का बिम्ब
संपत्ति–पानी से भरा सरोवर
विपत्ति–सूखा सरोवर

---

१. डॉ० प्रेमसागर जैन : जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृ० २० ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला, ग्रन्थान्क १८६ प्र० संस्करण, १९६४
२. बुधजन : बुधजन सतसई: पृ० सं० १८१, पृष्ठ सं० ३७
३. बुधजन : बुधजन सतसई, पृ० सं० १८२, पृष्ठ संख्या ३८
४. बुधजन : बुधजन सतसई, पद्य संख्या १६८, पृष्ठ संख्या ३५/सनावद

द्वितीय–अध्याय

१. भाव पक्षीय विश्लेषण —

कविवर बुधजन की रचनाओं में एक ओर भारतीय लोक-नीति–रीतिपरक भावाभिव्यंजना प्रतिफलित हुई है, वहीं दूसरी ओर आत्मा को केन्द्र बिन्दु मानकर उसके अस्तित्व, रुचि व श्रद्धा, ज्ञान एवं ध्यान से सम्बन्धित भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है। भावों में विकल्पात्मक चिंतन तथा साहित्यिक अभिव्यंजना मानवीय संवेदनाओं को सहेजे हुए स्पष्टतः लक्षित होती है। भावों में भले ही कथात्मक सहजता तथा मार्मिक प्रसंगों की योजना न मिलती हो, पर सरसता का गुण सर्वत्र है। मनुष्य का मानवीय पक्ष क्या है ? जगत् और जीवन के साथ उसका क्या सम्बन्ध है ? इन्हीं बातों का विचार करते हुए लेखक ने चिन्तनपूर्ण विवेचन किया है। उनकी रागात्मिका अनुभूति भावों के उद्रेक में उतनी अधिक रमी नहीं है, जितनी कि भावों के विश्लेषण में संलीन लक्षित होती है।

भावों के होने में चित्त की सहजवृत्ति तथा संस्कारों का प्रभाव विशेष रूप से क्रियाशील रहता है। इसलिये यदि कवि का झुकाव अनात्मीय पदार्थों से हट कर आत्मा-परमात्मा की ओर विशेष रूप से रहा है, तो यह सहज व स्वाभाविक है क्योंकि संसार की विषय वासनाओं से प्रसूत होने वाले राग–रंग के भाव एक ओर हैं और वीतरागता को प्रकट करने वाले भाव दूसरी ओर हैं। यह समझना उचित प्रतीत नहीं होता कि साहित्य में शृंगारमूलक भाव ही मुख्य होते हैं। यदि ऐसा ही हो तो फिर शान्त रस के उज्जवल प्रकाशन में महाकवियों की वाणी को क्यों मौन-भंग करना पड़ा। क्या शान्ति व वैराग्य प्राणी मात्र को इष्ट नहीं है ? संसार का स्वभाव बताता हुआ कवि कहता है—मिथ्या विकल्पों (राग द्वेष के भाव) की रचना करके संसारी जीव चित्त को चिंता के समान रच रहा है। इस तरह के भाव तो सदा उत्पन्न होते ही रहते हैं। एक भाव के उत्पन्न होते ही तत्क्षण दूसरा भाव उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार भावों का प्रवाह शाश्वत रूप से अनादि काल से प्रवहमान है। अतः प्राणी को सुख व शान्ति प्राप्त नहीं होती है।

कविवर ने लोक जीवन व लोक रीति की शिक्षा पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। वास्तव में प्राणी ने जैसे जैसे भाव किये हैं, कर रहा है व करेगा, वैसे-वैसे फल प्राप्त कर चुका है, कर रहा है व करेगा। कोई किसी का भाग्य नहीं बदल सकता

है। जो अपना भाग्य बनाता है, वही बदल सकता है। इसलिये अशुभ-भावों से हटकर शुभभाव करते रहना चाहिए और शुद्ध भावों की भावना भानी चाहिये। कविवर के भाव पक्षीय विश्लेषण में यही वृत्ति मुख्य रूप से लक्षित होती है। वे भूत, भविष्यत् की चिंता छोड़कर वर्तमान को सम्भालने का भाव करने की ही सीख देते हैं। उनकी दृष्टि में वर्तमान सबसे महत्त्वपूर्ण है। यदि इस समय हमारी रुचि सम्यक् नहीं बन पाई, भाव भी वैसे न हुए, तो हमारे जीवन से क्या लाभ ?

मूल भाव की दृष्टि से कविवर की रचनाओं में रहस्यानुभूति के दर्शन होते हैं। विविध रूपकों के द्वारा उन्होंने आत्मा-परमात्मा की रहस व सुरति को चित्रित किया है। एक सन्त कवि व नीति-उपदेशक के रूप में उनके भाव स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुए हैं।[1]

मोह मदिरा :—

मोह मदिरा के नशे में विव्हल मनुष्य की दशा मद्य-पान करने वाले व्यक्ति के सदृश हो जाती है। यही दशा मोही जीवों की जानना चाहिये।

स्वार्थी संसार :—

जीव एकाकी मां के गर्भ में आता है और नव मास पर्यंत अधोमुख होकर बिताता है, वहां से जब निर्गत होता है, उन दुःखों को तो वही जानता है, अन्य कोई तो जान ही क्या सकेगा ? जो माता उसे उदर में धारण करती है, उसे भी उस बालक के दुःखों का पता नहीं। जब निर्गत हुआ तब बाल्यावस्था में शक्ति व्यक्त न होने से, इच्छा के अनुकूल कार्य न होने से जो कष्ट उसे होते हैं, उनके वर्णन करने में अन्य किसी की सामर्थ्य नहीं। उसे तो भूख लगी है, दुग्धपान करना चाहता है, परन्तु मां अफीम पान कराकर सुलाने की चेष्टा करती है। वह सोना चाहता है, मां कहती है बेटा दुग्धपान कर लो। कहने का तात्पर्य यह कि सब तरह से प्रतिकूल कार्यों में ही बाल्यकाल को पूर्ण करना पड़ता है। जहां पांच वर्ष का हुआ, माता-पिता, बालक को पढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी विद्या का अर्जन कराते हैं, जिससे लौकिक उन्नति हो। यद्यपि लौकिक उन्नति में शान्ति नहीं मिलती तथापि माता-पिता को जैसी परंपरा से पद्धति चली आ रही है, तदनुकूल ही उनका, बालक के प्रति भाव रहेगा। जिस शिक्षा से आत्मा को शान्ति मिले, उस ओर लक्ष्य ही नहीं।

---

१. झूठे विकलप रचि करे, चिंता चित्त के मांहि।
एक मिटै दूजी उठै, साता पावै नांहि॥
बुधजन : बुधजन विलास, वैराग्य, दोहा संख्या १३, पाना सं. २७।

पालक गुरु से कहते हैं—जिसमें बालक खान-पान के योग्य द्रव्यार्जन कर सके—अर्थकरी विद्या की ही शिक्षा देना। जहां बालक २०–२२ वर्ष का हो गया माता-पिता ने दृष्टि बदली और यह संकल्प करने लगे कि कब बालक का विवाह हो जाय ? इसी चिन्ता में मग्न रहने लगे। अन्ततोगत्वा अपने तुल्य ही बालक को बनाकर, संसार वृद्धि का ही प्रयत्न करते हैं। इस तरह यह संसार चक्र चल रहा है। इसमें कोई विरला ही महानुभाव होगा जो अपने बालक को ब्रह्मचारी बनाकर स्व-पर के उपकार में आयु पूर्ण करे।

आज से २००० वर्ष पूर्व श्रमण-संस्कृति थी। तब बालक गण मुनियों के पास रहकर विद्याध्ययन करते थे। कोई तो मुनिवेश में अध्ययन करते थे। कोई ब्रह्मचारी वेश में ही अध्ययन करते थे। कोई साधारण वेश में विद्या अध्ययन करते थे। स्नातक होने के अनन्तर कोई तो गृहस्थावस्था को त्यागकर मुनि हो जाते थे, कोई आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे, कोई गृहस्थ बनकर ही अपना जीवन-निर्वाह करते थे, परन्तु अब तो गृहस्थावस्था छोड़कर कोई भी त्याग करना नहीं चाहता। सतत् गृहस्थ धर्म में रहकर जन्म गंवाते हैं।[1] कुछ लोग ज्ञान के क्षेत्र में विभिन्न मतों की सृष्टि करते हैं। आत्मा और ब्रह्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन उपनिषदों में तथा अद्वैत वेदान्त के रूप में उपलब्ध होता है। वास्तव में आत्मवाद और ब्रह्मवाद ये दोनों ही स्वतंत्र सिद्धान्त हैं। किसी एक से दूसरे का विकास नहीं हो सकता। प्रथम सिद्धान्त के अनुसार अगणित आत्मा संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं, और अगणित ही परमात्मा बन गये हैं। ये परमात्मा संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय में कोई भाग नहीं लेते। इसके विपरीत, ब्रह्मवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है और उसी में लय हो जाती है। विभिन्न आत्माएं एक परब्रह्म के ही अंश हैं। जैन और सांख्य मुख्यतया आत्मवाद के सिद्धान्त को मानते हैं, जबकि वैदिक परंपरानुयायी ब्रह्मवाद को। परन्तु उपनिषद् इन दोनों सिद्धान्तों को मिला देते हैं और आत्मा तथा ब्रह्म की एकता का समर्थन करते हैं।[2]

वस्तुतः बुधजन जैसे जैन कवि काव्य के माध्यम से दर्शन, ज्ञान, चारित्र की अभिव्यंजना करते रहे हैं। वे आत्मा का अमरत्व एवं जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों की अपरिहार्यता दिखलाने के पूर्व पूर्वजन्म के आख्यानों का भी संयोजन करते रहे हैं। प्रसंगवश, चार्वाक, तत्वोप्लववाद प्रभृति नास्तिक वादों का निरसन कर आत्मा का

---

१. वर्णीवाणी, ३/२५४/२६०

२. डॉ० आ० ने० उपाध्ये: परमात्म प्रकाश तथा योगसार की प्रस्तावना, रायचंद्र शास्त्रमाला बम्बई, सन् १९७४।

अमरत्व और कर्म संस्कार का वैशिष्ट्य प्रतिपादन करते रहे।[1]

कविवर बुधजन की समस्त रचनाओं का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने अनादि कर्मबन्धनबद्ध जीवों को सन्मार्ग में प्रवृत्त कराने का प्रयत्न किया है। उन्होंने संसार भ्रमण की विभीषिका का बड़े ही मार्मिक शब्दों में वर्णन किया है। वे लिखते हैं :

जगत् के प्राणी आत्म हित की खोज में उद्यमशील दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु सदुपदेश के अभाव से मृगतृष्णा में जल-संकल्प-भ्रान्त मृगों की तरह इतस्ततः भटकते हुए अभीष्ट फल से वंचित ही रहते हैं। उन्हें जीव का वास्तविक हित क्या है और उस हित साधन की साक्षात् तथा परम्परा प्रणाली क्या है ? इसका ज्ञान न होने से खेद खिन्न होना पड़ता है।

जीव के आनन्द रूप गुण विशेष को सुख कहते हैं। यह सुख गुण अनादि काल से ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों के निमित्त से वैभाविक परिणति रूप हो रहा है। सुख गुण की इस वैभाविक परिणति को ही दुःख कहते हैं।[2] इस आकुलता रूप दुःख के दो भेद हैं—एक साता और दूसरा असाता। संसार में अनेक प्रकार के पदार्थ हैं, जो प्रति समय यथायोग्य निमित्त मिलने पर स्वाभाविक तथा वैभाविक पर्याय रूप परिणमन करते हैं। यदि परमार्थ दृष्टि से देखा जाय तो कोई भी पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट है। यदि पदार्थों में ही इष्टानिष्टता होती तो एक पदार्थ जो एक मनुष्य को इष्ट है वह सबही को इष्ट होता और जो एक को अनिष्ट है वह सबही को अनिष्ट होता। परन्तु संसार में इससे विपरीत देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थों में इष्टानिष्टता नहीं है। किन्तु जीवों ने भ्रमवश किसी पदार्थ को इष्ट और किसी को अनिष्ट मान रखा है।

मोहनीय कर्म के उदय से दुरभिनिवेश पूर्वक इष्टानिष्ट पदार्थों में यह जीव राग-द्वेष को प्राप्त होता है, जिससे निरंतर ज्ञानावरणादिक कर्मों का बन्ध करके इस संसार में भ्रमण करता हुआ इष्टानिष्ट, संयोग-वियोग में अपने को सुखी-दुःखी मानता है। भ्रमवश इस जीव ने जिसको सुख मान रखा है वह वास्तव में आकुलतात्मक होने से दुःख ही है। ये सांसारिक आकुलतात्मक सुख-दुःख आत्मा के स्वाभाविक सुख गुण का कर्मजन्य विकृत परिणाम है। कर्मों से मुक्त होने पर गुण की स्वाभाविक पर्याय को ही यथार्थ सुख अथवा वास्तविक आत्महित कहते हैं।

---

१. जैन डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य : भगवान महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, भाग–४, पृष्ठ–२।

२. दौलतराम : छहढाला, तृतीय ढाल, तेरहवां संस्करण, पद्य सं० १ पृष्ठ सं १७ सरल जैन ग्रन्थ भंडार ४०७, जवाहरगंज, जबलपुर।

कवि ने आत्म हित के दो साधन बतलाये हैं। पहला मुनिधर्म और दूसरा गृहस्थ धर्म। उन्होंने मुनिधर्म को आत्महित का साक्षात् साधन कहा तथा गृहस्थ धर्म को परंपरा मोक्ष का या आत्म-हित का साधन कहा। साक्षात् सुख के साधन को स्पष्ट करते हुए कवि ने लिखा है कि, आत्मा के सुख गुण को तिरोहित करने वाले ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म हैं। जब तक ये कर्म आत्मा से जुदे न होंगे तब तक इस जीव को यथार्थ सुख नहीं मिल सकता। न्याय का सिद्धान्त है कि जिस कारण से जिस कार्य की उत्पत्ति होती है उस कारण के अभाव से उक्त कार्य की उत्पत्ति का भी अभाव हो जाता है। उक्त न्याय के अनुसार यह बात सिद्ध होती है कि जिन कारणों से कर्म का सम्बन्ध होता है उन कारणों के अभाव से कर्म का वियोग अवश्य हो जायगा। मिथ्या ज्ञान पूर्वक राग-द्वेष से कर्म का बन्ध होता है, अतः सम्यग्ज्ञान पूर्वक राग-द्वेष की निवृत्ति से यह जीव कर्मों से मुक्त हो सकता है। एक देश ज्ञान की प्राप्ति तथा राग द्वेष की निवृत्ति यद्यपि गृहस्थाश्रम में भी हो सकती है परन्तु पूर्णतया ज्ञान की प्राप्ति तथा राग-द्वेष की निवृत्ति मुनि अवस्था में ही होती है। इसलिये आत्म-हित का साक्षात् साधन मुनिधर्म ही है। यह मुनिधर्म बारह भावनाओं के चितवन करने से ही प्रगट होता है।[1]

अध्यात्म राग :

कविवर अध्यात्म शास्त्रों के कोरे पंडित ही न थे किन्तु उन्होंने उन अध्यात्म शास्त्रों के अध्ययन-मनन एवं चिंतन से जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त किया था, वे उसे दृढ़ श्रद्धा में परिणत करने के साथ-साथ आंशिक रूप से अपने जीवन में तदनुकूल वर्तन करने का भी प्रयत्न करते थे। उनका जीवन अध्यात्म रस से सिंचित था तथापि वे इष्ट वस्तु का वियोग होने पर भी कायरों की भांति दुःखी नहीं होते थे, किन्तु वस्तु स्थिति का बराबर चिंतन करते हुए कमजोरी से जो कुछ भी थोड़े से समय के लिये दुख अथवा कष्ट का अनुभव होता था वे उसे अपनी कमजोरी समझते थे और उसे दूर करने के लिये वस्तु स्वरूप का चिंतन कर उससे मुक्त होने का प्रयत्न करते थे। इन्हीं सब विचारों से उनकी गुणज्ञता और विवेक का परिचय मिलता है। वे आत्म ध्यान में इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हें बाहर की क्रियाओं का कुछ भी पता नहीं चलता था। किसी की निंदा और प्रशंसा में वे कभी भाग नहीं लेते थे। यदि देवयोग से ऐसा अवसर आ भी जाता तो बुद्धि पूर्वक उसमें प्रवृत्त नहीं होते थे और न अपनी शान्ति भंग करने का कोई उपक्रम ही करते थे। वे कर्मोदय

---

१. मुनि सकल व्रती बड़ भागी, भव भोगन तें वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिंते अनुप्रेक्षा भाई॥
दौलतराम: छहढाला, पांचवीं ढाल, पद्य सं० १ पृष्ठ संख्या ३७, सरल जैन ग्रन्थ भंडार, जबलपुर।

जन्म क्रियाओं द्वारा होने वाले इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के वियोग : संयोग को कर्मोदय का विपाक समझते थे। उसमें अपनी कर्तृत्व बुद्धि और अहं क्रिया रूप मिथ्या वासना को किसी प्रकार का कोई स्थान नहीं देते थे। इसी कारण वे व्यर्थ की अशान्ति से बच जाते थे। साथ ही अतत्व-परिणति और मोह ममता से अपने को बचाये रखने में सदा सावधान रहते थे—कभी असावधान अथवा प्रमादी नहीं होते थे। वे स्वयं सोचते और विचारते वे कि हे आत्मन् ! जब तेरी अन्तर्दृष्टि जागृत हो जायगी उस समय काललब्धि, सत्संग, निर्विकल्पता और गुरु उपदेश सभी सुलभ हो जायेंगे। विषय-कषायों की ललक मुरझा जायगी, वह फिर तुझे अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थन हो सकेगी, मन की गति स्थिर हो जाने से परिणामों की स्थिरता हो जायगी। फिर विवेक रूपी अग्नि प्रज्वलित होगी और उसमें विभाव-भाव रूप ईधन नष्ट हो जायगा। तेरे अन्तर्घट में विवेक जागृत होते ही मन पर परणति में रागी नहीं होगा और तू सब तरह से समर्थ होकर अनुभव रूपी रंग में रंग जायगा। तभी तू स्वानुभव रूप आत्म-रस का अनुभव करने लगेगा जो सहज, स्वाभाविक सार पदार्थ है।

जिनेन्द्र भक्ति-कवि का जीवन जहां अध्यात्म शास्त्रों के अध्ययन में प्रवृत्त होता था, वहां वह भक्ति रस रूप वाग्गंगा की निष्काम विमल धारा के प्रवाह में डुबकियां लगाता रहता था। वे जिनेन्द्र भगवान के गुणों का चिन्तन एवं भक्ति करते हुए इतने तन्मय अथवा आत्म-विभोर हो जाते थे कि उन्हें उस समय बाहर की प्रवृत्ति का कुछ भी ध्यान नही रहता था— भक्ति—रस के अपूर्व उद्रेक में वे अपना सब कुछ भूल जाते थे—भगवद् भक्ति करते हुए उनकी कोई भी भावना उसके द्वारा धनादि की प्राप्ति अथवा ऐहिक भोगोपभोगों की पूर्ति रूप मनोकामना को पूर्ण करने की नहीं होती थी, इसी से उनकी भक्ति निष्काम कही जाती थी। कवि की भक्ति का एक मात्र लक्ष्य सांसारिक विकल्पों को मिटाने और आत्मगुणों की प्राप्ति का था। उनकी यह दृढ़ श्रद्धा थी कि उस वीतरागी जिनेन्द्र की दिव्य मूर्ति का दर्शन करने से जन्म-जन्मान्तरों के अशुभ कर्मों का ऋण शीघ्र चुक जाता है—वह विनष्ट हो जाता है—और चित्त परम आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है।

यद्यपि जिनेन्द्र का गुणानुवाद अत्यन्त गंभीर है, वह वचनों से नहीं कहा जा सकता और जिसके सुनने अवधारण करने अथवा श्रद्धा करने से यह जीवात्मा कर्मों के फन्द से छूट जाता है। वे स्वयं कहते हैं—हे प्रभो ! मैंने आज तक आपकी पहिचान नहीं की, यत्र तत्र भटकता रहा न जाने कौन कौन से रागी-द्वेषी देवों की उपासना करता रहा। यही कारण है कि भ्रमवश आत्मा के लिये अहितकारी पदार्थों को अपना हितकारी मानता रहा। मिथ्या मान्यता के कारण मैंने जो कर्मोपार्जन किये, उन्होंने मेरे संपूर्ण ज्ञान-धन को लूट लिया। ज्ञान-धन के लुट जाने से अपने कर्त्तव्य को भूलकर सन्मार्ग से भ्रष्ट हो अनेक प्रकार की खोटी गतियों में भटकता रहा। हे प्रभो ! आज की घड़ी धन्य है, आज का दिवस धन्य है, और आज मेरा

यह मानव जीवन भी धन्य हो गया। आज मेरे सौभाग्य का उदय हुआ है, जो मैंने आपके दर्शन प्राप्त किये। आपकी विकार वर्जित नासाग्र दृष्टि, अष्ट प्रांति हार्य, नग्न मुद्रा, अनंतगुण युक्त आपकी छवि को निरखकर आज मेरा जन्म-जन्मांतर से लगा मिथ्यात्वभाव या अज्ञान भाव नष्ट हो गया। आज मेरे आत्म स्वरूप की पहिचान कराने वाला सम्यकत्व रूपी सूर्य का उदय हुआ है। हे प्रभो! आपके शुभ दर्शन प्राप्त कर मुझे अपार हर्ष हो रहा है। ऐसा हर्ष हो रहा है, जैसा किसी रंक को मणि आदि रत्नों के प्राप्त होने पर होता है। हे प्रभो! मैं हाथ जोड़कर आपके पवित्र चरणों में नत मस्तक होता हूं। हे प्रभो! आपके शुभ दर्शन कर मुझे किसी भी सांसारिक पदार्थ की अभिलाषा नहीं है। मैं आपकी भक्ति के प्रताप से न स्वर्ग चाहता हूं, न राजा बनना चाहता हूं और न कुटुम्बियों का साथ चाहता हूं। केवल एक ही प्रार्थना है कि मुझे जन्म-जन्मान्तर में आपकी पुनीत भक्ति प्राप्त होती रहे। कवि के निम्न पद इसी भावना के द्योतक हैं[1] :—

सरस्वती (जिनवाणी) की स्तुति जिनेन्द्रभक्ति के समान ही कवि द्वारा की गई है। जिनवाणी के प्रति कवि की आस्था अद्वितीय है। वे लिखते हैं—जिनेन्द्र के मुख रूपी कुंड से वाणी रूपी गंगा निकलती है, उसने संसार के विषम संताप एवं

---

१. प्रभु पतित पावन मैं अपावन, चरण आयो शरण जी।
यो विरद आप निहार स्वामी, मेटि जामन मरण जी॥
तुम ना पिछान्यो अन्य मान्यो देव विविध प्रकार जी।
या बुद्धि सेती निज न जान्यो, भ्रम गिन्यो हितकार जी॥
भव-विकट वन में कर्म वेरी, ज्ञानधन मेरो हर्‌यो।
तब इष्ट भूल्यो भ्रष्ट होय, अनिष्ट गति धरतो फिर्‌यो।
धन घड़ी यो धन-दिवस यो ही, धन जनम मेरो भो।
अब भाग्य मेरो उदय आयो, दरश प्रभुजी को लख्यि लयो॥
छवि वीतरागी नगन मुद्रा, दृष्टि नाशा पै धरे।
वसु प्रातिहार्य अनंत गुण युत कोटि रवि छवि को हरे॥
मिट गयो तिमिर मिथ्यात्व मेरो उदय रवि आतम भयो।
मो उर हरष ऐसो भयो, मनों रंक चिंतामणि लयो॥
मैं हाथ जोड़ नवाऊं मस्तक, वीनऊं तुम चरण जी।
सर्वोत्कृष्ट त्रिलोक पति जिन सुनहु तारण-तरण जी॥
याचूं नहीं सुरवास पुनि नरराज परिजन साथ जी।
बुध याचहूं तुम भक्ति भव-भव दीजिये शिव नाथ जी॥

कवि बुधजन: देवदर्शन स्तुति, ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, पृ० ५३४–३५ भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रकाशन।

भ्रम को दूर कर दिया है। जो प्राणी जिनेन्द्र के वचन रूप जहाज में बैठ जाता है वह भव समुद्र से तिर जाता है। इसके सिवाय संसार समुद्र से पार होने का अन्य कोई इलाज नहीं है।[1]

जिनवाणी के प्रति कवि के अन्तःकरण में कैसी अटूट श्रद्धा है—अनन्य भावना है, यह देखते ही बनता है। यह रचना कवि की कवित्व-शक्ति की परिचायक है। कवि ने सरस्वती माता की अष्टद्रव्य से पूजा की है। वे लिखते हैं—हे माता! मैं जो आपके पुनीत चरणों में जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप धूप और फल रूप अष्ट विध सामग्री चढ़ाता हूं वह तो आलंबन मात्र है, वस्तुतः मैं तो अपने भावों की शुद्धि चाहता हूं और वही मेरा लक्ष्य है। वे आगे कहते हैं—मैं अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा हूं। मिथ्याबुद्धि के कारण मैं आज तक आत्म-ज्ञान से सर्वथा अपरिचित रहा। मैं विषय-कषाय रूप अंध-कूप में डूबा रहा। आज मैं भाग्य-शाली हूं, जो मैंने आपका शरण प्राप्त किया। आप जिनेन्द्रदेव के मुख से प्रगट हुई हो, अनेकान्त स्वरूप हो। मुनिजन आपकी सदैव सेवा करते हैं। आप भ्रमरूप विष को दूर करने के लिये अमृत-तुल्य हो। संसार के विषम-संताप को दूर करने के लिये गंगा की धारा के समान हो। हे माता! आप दया की कंद हो, परोपकार करने में सदा तत्पर हो। आप चार अनुयोग रूप चार वेदों में विभक्त हो।[2]

प्रथमानुयोग रूप प्रथम वेद द्वारा प्राणी पुण्य-पाप के फल का विचार करते हैं। करणानुयोग रूप द्वितीय वेद के द्वारा प्राणी तीनों-लोकों की रचना का ज्ञान करते हैं। चरणानुयोग रूप तृतीय-वेद के द्वारा मुनि और श्रावक के आचरण की प्रेरणा प्राप्त करते हैं और द्रव्यानुयोग रूप चतुर्थ वेद के द्वारा प्राणी जीवादि षट् द्रव्यों के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार चार वेद रूप चारों अनुयोगों का संक्षेप में वर्णन करते हुए कवि ने अंतिम पद्य में अपनी लघुता प्रकट करते हुए अपने नाम का भी उल्लेख किया है। वे लिखते हैं :—

हे जिनवाणी। आप अत्यन्त उदार हो, गुण रूप जल की धारा आप में

---

१. श्री जिन बेन जहाज, गहते ही भवि तरि गये।
या बिन नाहिं इलाज, जनम जलधि के तिरन को॥
बुधजन: सरस्वती पूजा, शास्त्र-भंडार दि० जैन मंदिर पाटोदी, जयपुर हस्तलिखित प्रति।

२. तुम दयाकंद उपगार धारि, जन-जन कहते, हो वेद चार।
बुधजन: सरस्वती पूजा, शास्त्र भंडार दि० जैन मंदिर पाटोदी, जयपुर हस्तलिखित प्रति।

प्रभावित होती है। आपके गुणों का कोई पार नहीं पा सकता। मैं केवल अपने मुख से आपका गुणानुवाद गाता हुआ आपके चरणों में मस्तक झुकाकर प्रार्थना करता हूं कि आप मेरे (बुधजन के) संपूर्ण दोषों को दूर करें।[1]

इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती आचार्यों एवं कवियों की भांति बुधजन ने भी बारह भावनाओं का सुन्दर वर्णन किया है। बारह भावनाओं के वर्णन की जैन साहित्य में एक लम्बी परंपरा प्राप्त होती है। प्रस्तुत प्रकरण में बारह भावनाओं के रचयिता आचार्यों एवं कवियों के नाम मात्र दे रहा हूं। इन विद्वानों ने विभिन्न शताब्दियों में विभिन्न भाषाओं में इस प्रकार की सरल रचनाएं की है :—

सर्वप्रथम जैनाचार्य कुंदकुंद ने प्राकृत भाषा में 'बारस अणुवेक्खा' नाम से रचना की थी उनके पश्चात् स्वामी कार्तिकेय, जल्हसिंह रइधू, भट्टारक सकल कीर्ति, पं. योगदेव, भट्टारक गुणचन्द्र, दीपचन्द शाह, बुधजन, मंगतराय, पं० लक्ष्मीचन्द, पं० ब्रह्म साधारण, भूधरदास, जगसी, हेमराज, जयचन्द, दीपचन्द, दौलतराम, भैया भगवतीदास, शिवलाल, गिरधर शर्मा, ब्र० चुन्नीलाल देसाई, युगलजी कोटा, नथमल बिलाला, क्षु० मनोहर वर्णी, नैनसुखदास, डॉ० ज्योतिप्रसाद बारेलाल आदि ने बारह भावनाएं लिखीं।

कविवर बुधजन ने 12 भावनाओं में सांसारिक जीवन की असारता को सरसता के साथ कहा है। इस संसार में राजा और रंक सबको मरना है। मरने से उन्हें कोई रोक नहीं सकता। लोक में जन्म, जरा और मरण से आक्रान्त जीव की अशरण स्थिति का विचार करना अशरण भावना है। संसार के स्वरूप और उसके दुःखों का विचार करना संसार अनुप्रेक्षा है। आत्मा अकेला जन्मता है और अकेला मरता है तथा अकेला ही अपने कर्मफल का अनुभव करता है। कोई किसी के सुख-दुःख में साझी नहीं हो सकता। इस प्रकार चिंतन करना एकत्व भावना है। जीव का शरीर आदि से प्रथक् चिंतन करना अन्यत्व भावना है। शरीर की अपरिहार्य अशुचिता का विचार करते हुए उससे विरक्त होना अशुचि भावना है। कर्मों के आश्रव की प्रक्रिया का चिंतन करना और उसे अनन्त संसार बंध का कारण समझना आश्रव भावना है। संवर के स्वरूप का चिंतन करना संवर अनुप्रेक्षा है। कर्म की निर्जरा और उसके कारणों के सम्बन्ध में विचार करना निर्जरा भावना है। लोक के स्वभाव और आकार आदि का चिंतन करना लोक भावना है। सम्यक् दर्शन,

---

१. तुम परम उदारा हो गुन धारा, पाराबारा पारकरो।
मुखतें गुनगाऊं, सीस नमाऊं, 'बुधजन' के सब दोष हरो॥
कवि बुधजन: सरस्वती पूजा, शास्त्र भंडार दि० जैन मंदिर, पाटोदी, जयपुर, हस्त-लिखित प्रति।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप बोधि की दुर्लभता का विचार करना बोधि दुर्लभ भावना है। धर्म के स्वरूप का विचार कर आत्मा को धर्ममय बनाने का विचार करना धर्म भावना है।[1]

कविवर बुधजन का कहना है कि इन बारह भावनाओं का चिंतवन करने से भावों में वैराग्य की जागृति होती है। इस विश्व के एवं देह के वास्तविक स्वरूप का विचार करते-करते आत्मा विषय-भोगों से विरक्त हो, विलक्षण प्रकाश युक्त दिव्य-जीवन की ओर झुकता है। जैन कवि मंगतराय कितने उद्बोधक शब्दों में मानव आकृति धारी इस लोक और उसके द्रव्यों का विचार करता हुआ आत्मोन्मुख होने की प्रेरणा करता है।[2]

प्रत्येक संसारी जीव अपने-अपने भावों के अनुसार किस प्रकार और कौन-कौन से कर्मों का बंध करता है। बुधजन कवि के अनुसार उक्त सारणी में दृष्टव्य है।

गुणस्थान अपेक्षा प्रकृतियों के बंध

१. मिथ्यात्व	तीर्थंकर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग का बंध छूट जाता है।	१२०–६–११७
२. सासादन	मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसक वेद, नरकगति नरकगत्यानुपूर्व, नरकायु, असंप्राप्तासृपाटिका-संहनन, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, स्थावर, आताप, सूक्ष्म, अपर्याप्त साधारण का बंध छूट जाता है।	११७–१६–१०१
३. मिश्र	अनंतानुबंधी जन्म २५ प्रकृतियां और मनुष्यायु देवायु का बंध नहीं होता है।	१०१–२७–७४
४. अविरत सम्यग्दृष्टि	तीर्थंकर, मनुष्यायु, देवायु का बंध होता है।	७३–३–७७
५. देश विरति	अप्रत्याख्यान–४, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी मनुष्यायु, देवायु, औदारिक	

---

१. जैन डॉ० राजकुमार : अध्यात्मपदावली, पृ० ५५, भा० ज्ञानपीठ प्रकाशन १९६४

२. लोक अलोक आकाश मांहि थिर, निराधार जाना।
पुरुष रूप करकटी भये, षट् द्रव्यनिसों मानो॥
जैन कवि मंगतराय : बारह भावना (लोक भावना), जिनवाणी संग्रह भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रकाशन।

	शरीर अंगोपांग वज्रवृषभनाराचसंहनन का बंध छूट जाता है।	७७–१०–६७
६. प्रमत्त	प्रत्याख्यान–४ का बंध छूट जाता है।	६७–४–६३
७. अप्रमत्त	अस्थिर, अशुभ, असातावेदनीय, अयश-कीर्ति अरति, शोक आदि ६ का बंध छूट जाता है। आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग का बंन्ध होता है।	६३–६२–५९
८. अपूर्वकरण	देवायु का बंध छूट जाता है।	५९–१–५८
९. अनिवृत्तिकरण	निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, ५ इन्द्रिय, तेजसशरीर, कार्मणशरीर, आहारक शरीर और अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियक शरीर और अंगोपांग, देवगति, देव-गत्यानुपूर्वी, देवायु स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, हास्य, आदेय, रति, जुगुप्सा भय।	५८–३६–२८
१०. सूक्ष्मसांपराय	संज्वलन-क्रोध, मान, माया, लोभ, पुरुष वेद ये पांच प्रकृतियां छूट जाती हैं।	२२–५–१७
११. उपशान्तमोह	ज्ञानावरणीय ५, दर्शनावरणीय ४, अंतराय ५, यशः कीर्ति, उच्चगोत्र का बंध छूट जाता है।	१७–१६–१
१२. क्षीणमोह	उपरोक्त अनुसार एक ही प्रकृति का बंध होता है।	– – १
१३. संयोगकेवली	सातावेदनीय का बन्ध उपचार से होता है।	– – १
१४. अयोगकेवली	एक भी प्रकृति का बंध नहीं होता है निर्वाण का किनारा है।[1]	

---

१. बुधजन: तत्वार्थबोध, पृष्ठ १६१–१७७, पद संख्या ९६–११५, प्रकाशक कन्हैयालाल गंगवाल, लश्कर।

'कविवर बुधजन के औषधिविज्ञान से सम्बन्धित उदाहरण'

(१) अधिक खाने से बीमारी होती है। अधिक बोलने से मान घट जाता है। अधिक सोने से धन का विनाश हो जाता है। अतः किसी भी बात को अति नहीं करना चाहिये।[1]

(२) वस्त्र, जूते, गाय का दूध, दवाई, बीज और भोजन इनसे जितना लाभ मिलता है, उतना लाभ अवश्य लेना चाहिये जिससे कि कष्टों का निवारण हो।[2]

(३) उलटी या कै करने से कफ का नाश होता है। मालिश करने से वायु-विकार मिटता है। स्नान करने से पित्त शमन होता है और लंघन करने से बुखार का नाश होता है।[3]

(४) कोढ़ी व्यक्ति को मांस, ज्वर के रोगी को घृत, शूल के रोगी को दो दालों वाला अन्न, नेत्र के रोगी को मैथुन सेवन नहीं करना चाहिये। अतीसार के रोगी को नया अन्न नहीं खाना चाहिये।[4]

(५) अपथ्य-सेवन से, स्वाद का ध्यान रखने से, रोग दूर नहीं हो सकता अतः यदि रोग दूर करना हो तो कुटकी का चिरायता (कड़वीदवा) पीने योग्य है और रूखा भोजन (सुपाच्य) करना योग्य है।[5]

(६) भूख से कम खाना अमृत तुल्य होता है और खूब अघाकर खा लेना विष के समान है। ऊनोदर भोजन शरीर को पुष्ट करता है और बल बढ़ाता

---

१. अतिखाने में रोग है, अति बोले क्या मान।
अतिसोयें धनहानि है, अति मतिकरो सुजान ॥१२६॥

२. पट पनही बहुखीर गो, औषधि बीज अहार।
ज्यों लाभै त्यों लीजिये, कीजे दुख परिहार ॥२३८॥

३. वमन करतें कफ मिटै, मरदन मेटें वात।
स्नान किये तें पित्त मिटै, लंघन तेंजुर जात ॥२७७॥

४. कोढ़ मांस घृत जुरविषैं, सूल द्विदल द्यो टार।
दृगरोगी मैथुन तजो, नवो धान अतिसार ॥२७८॥

५. स्वाद लखै रोग न मिटै, कीयें कुपथ अकाज।
तातें कुटकी पीजिये, खांजें लूखा नाज ॥३२३॥

कवि बुधजन सतसई, पद्य संख्या १२६,२३८,२७७,२७८।

है परन्तु अधिक खाने से रोगों की वृद्धि होती है।[1]

(७) भूख की दवा भोजन और ठंड की दवा वस्त्र है।[2]

(८) खाना, पीना, सोना, लघुशंका, दीर्घशंका ये असाध्य रोग हैं।[3]

(९) जीभ की लोलुपता वश अनेकों व्यक्तियों का बिगाड़ होता है। अतः जीभ की लोलुपता त्यागने पर ही सुख होता है। मछली, कबूतर, मगर, बन्दर ये जिव्हा के लोलुपी हैं अतः उन्हें हर कोई पकड़ लेता है। इनके प्राण संकटापन्न रहते हैं।[4]

(१०) सत्य कहने से दोष मिट जाते हैं, परन्तु अन्यथा (असत्य) कहने से दोष नहीं मिटते। अपने रोग की यथावत् जानकारी देने वाले व्यक्ति की ही योग्य चिकित्सा सम्भव है।[5]

(११) यदि किसी अनुचित कार्य को रोकने में हमारा वश नहीं चलता हो तो उसका समर्थन न करते हुए अबोल रहना ही ठीक है, क्योंकि बोलने से उपद्रव बढ़ता है, जैसे तूफानी समुद्र में हवा लगने से उपद्रव और बढ़ता है।[6]

बीच-बीच में लोक प्रचलित एवं रचनाओं में समागत लोकोक्तियों का यथास्थान प्रयोग किया गया है। इनसे विषय की स्पष्टता के साथ-साथ शैली में भी गतिशीलता आई है। कुछ इस प्रकार है :—

---

१. अमृत ऊनोदर असन, विषसम खान अधाम।
रहै पुष्ट तन बल करैं, यातें रोग बढ़ाय ॥३२४॥

२. भूख रोग मेटन असन, वसन हरनकों सीत ॥३२५॥

३. खानां पीनां सोवनां, फुनि लघु दीरघ व्याधि ॥३७६॥
रावरंक के एकसी, ऐसी क्रिया असाधि ॥

४. जे बिगरेते स्वादतें, तजै स्वाद सुख होय।
मीन परेवा मकर हरि, पकरिलेत हर कोय ॥३२२॥

५. सांच कहै दूषन मिटै, नातर दोष न जाय।
ज्यों की त्यों रोगी कहै, ताकौ बनै उपाय ॥३३२॥

६. अनुचित हो है वसिविना, तामै रहो अबोल।
बोले तैं ज्यों वारिलगि, सायर उठै कलोल ॥४१३॥

बुधजन सतसई, पद्य संख्या ३२४,३२५,३७३,३२२, तथा ४१३

बुधजन, सतसई, पद्य संख्या ११,१४,१५,३७,५४,६४,१२२,१२३,८४,११४,११५ तथा १६५।

(१) पीजै तृषा समान[2] ।
(२) हरषत है मनमोर[3] ।
(३) रतन चितामणिपायके गहै कांच को हाथ[4] ।
(४) तारो गहकरि हाथ[5] ।
(५) जैसा बनिनिरखेतिसा सीसामें दरसाय[6] ।
(६) महाराज की सेव तजि सेवै कौन कंगाल[7] ।
(७) अछूती ग्रास विचारिकै छतीदंत छिटकाय[8] ।
(८) सरधा तें संसय सब जाय[9] ।
(९) सीख दई सरधै नहीं, करै रैन दिन सोर[10] ।
(१०) पूत नहीं वह भूत है, महापापफल घोर ।।
(११) कर्म ठिगारे ठिगत हैं[11] ।
(१२) अवसरतें बोलो इसो ज्यों आटे में नौन[12] ।
(१३) मालनिढाके टोकरा, छूटे लखिके छैल[13] ।
(१४) अधिक सरलता सुखद नहिं, देखो विपिन निहार[14] ।
सीधे बिरवा काटि गये, बाके खड़े हजार[15] ।।

जैन शास्त्रों का एक वर्गीकरण चार अनुपयोगों के रूप में भी कवि द्वारा किया गया है[1] :—

(१) प्रथमानुयोग
(२) करणानुयोग
(३) चरणानुयोग
(४) द्रव्यानुयोग

अनुयोगों की कथन-शैली आदि का सामान्य वर्णन तो पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में मिलता है पर वह अति संक्षेप में है। कविवर बुधजन ने चारों अनुयोगों का सुन्दर एवं सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

अब हम प्रत्येक अनुयोग के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप में अनुशीलन प्रस्तुत करेंगे।

प्रथमानुयोग

जिन ग्रन्थों में चारों पुरुषार्थों, किसी एक महापुरुष के चरित्र और त्रेसठ शलाका पुरुषार्थों के चरित्र का वर्णन होता है उन कथा, चरित्र, और पुराण कहे जाने वाले ग्रंथों को प्रथमानुयोग कहते हैं।

प्रथमानुयोग के अध्ययन से श्रद्धा की वृद्धि होती है। प्रथमानुयोग के

---

१. आचार्य समन्तभद्रः रत्नकरण्डश्रावकाचार, अध्याय-२, श्लोक ४२-४६ सरल जैन ग्रन्थ भंडार, जबलपुर।

अध्ययन से पुण्यमय परिणाम होते हैं। प्रथमानुयोग के अध्ययन से एक गरीब ब्राह्मण को वैराग्य हो गया। प्रथमानुयोग के अध्ययन के पश्चात् अन्य अनुयोगों के अध्ययन से आत्मा का कल्याण हो जाता है। प्रथमानुयोग के अध्ययन से महापुरुषों के जीवन में कैसे उत्थान पतन होता है। संसार की दशा क्या है इस बात को स्पष्ट करते हुए बुधजन कहते हैं— इस संसार के सब नाते कच्चे धागे के समान हैं। सच्चा साथी एक मात्र धर्माचरण ही है।[1]

सामान्य श्रेणी में अव्युत्पन्न व्यक्ति अथवा मिथ्यादृष्टि के लिये प्रथमानुयोग का अभ्यास आरम्भ से आवश्यक है। प्रथमानुयोग की शब्दशः व्युत्पत्ति गोम्मटसार जीवकांड में इस प्रकार प्राप्त होती है :—

प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि, अव्रती अथवा अव्युत्पन्न विशेष ज्ञान रहित व्यक्ति का आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ जो अनुयोग अर्थात् अधिकार है वह प्रथमानुयोग है[2]। उसके अभ्यास से दुर्बल अन्तःकरण को अपार बल एवं प्रेरणा प्राप्त होती है। राष्ट्र के जीवन-निर्माण में उसके सत्पुरुषों का इतिहास जिस प्रकार उत्साह को जगाता हुआ नव चेतना प्रदान करता है, उसी प्रकार तीर्थंकर, चक्रवर्ती, कामदेव, आदि महापुरुषों की जीवन गाथा में अभ्यास से शीघ्र ही मन की मलिनता दूर होती है। हृदय का संताप दूर होता है। भावों में संक्लेष वृत्ति के स्थान में विशुद्ध परिणति का आविर्भाव होता है। उससे यह तत्व प्रकाश में आता है कि महान् पतित परिणाम तथा अवस्था वाला जीव किस प्रकार धर्म की शरण ग्रहण कर क्रमशः उन्नति करता हुआ श्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त करता है। प्रथमानुयोग में प्राप्त एक दृष्टान्त इस प्रकार है :—

सुभग नाम के ग्वाले ने भयंकर शीतऋतु में देखा कि एक मुनि रात्रि भर जंगल में ध्यान करते रहे। उनकी यह तपस्या देखकर उसका मन बारंबार उनका स्मरण करता रहा। प्रातःकाल सूर्योदय के होने पर 'णमो अरहंताणम्' शब्द का उच्चारण कर वे मुनिराज चारण ऋद्धि के प्रताप से आकाश में गमन करते हुए अन्यत्र चले गये। उन मुनिराज के जीवन से गोपालक को बड़ी प्रेरणा मिली। उसने सदा 'णमो अरहंताणम्' शब्द का उच्चारण करना–स्मरण करना अपना कर्त्तव्य बना लिया। मृत्यु के पश्चात् वह सुदर्शन सेठ हुआ और रत्नत्रय की आराधना के फलस्वरूप वह मोक्ष पदवी का स्वामी बन गया। प्रथमानुयोग में भगवान महावीर के पूर्व भवों का वर्णन अत्यन्त रोचक ढंग से कथा के रूप में वर्णित है जो प्राणी मात्र को प्रेरणादायक है।

---

१. बुधजनः बुधजन विलास, पद संख्या ४४, पृष्ठ संख्या २३, प्रका० जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, १६१।१ हरीसन रोड़, कलकत्ता।

जनसाधारण की हितकारी सामग्री प्रथमानुयोग में प्राप्त होती है। इसमें जीवन को निर्मलता प्रदान करने वाली विपुल सामग्री प्राप्त होती है। इससे बालक, स्त्री, ग्रामीण, जन साधारण का अकथनीय कल्याण होता है। संकट के समय धैर्य धारण, धर्म पालन में तत्पर आत्माओं का वर्णन पढ़कर दुःखी हृदय को सान्त्वना प्राप्त होती है। उस विपत्ति की दिशा में सत्पुरुषों की जीवनवार्ता चन्द्रिका के समान प्रकाश तथा शान्ति प्रदान करती है। महापुराण में लिखा है कि नरकायु का बंध होने पर व्यथित मन वाले श्रेणिक महाराज ने गौतम स्वामी से पुण्य कथा निरूपणार्थ प्रार्थना की थी उसने कहा था—

'भगवान ! कृपा कर प्रारम्भ से शलाका पुरुषों की जीवन कथा कहिये। मेरे दुष्ट कार्यों का निवारण पुण्यकथा-श्रवण द्वारा सम्पन्न होगा।[1]

विपत्ति की बेला में तत्वज्ञान का शुष्क उपदेश मन पर उतना असर नहीं करता है जितना उन महापुरुषों का आख्यान, जिनने हंसते-हंसते विपत्ति के सागर को तिरा है। तत्वज्ञानी उपदेश देता है कि शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं परन्तु उसका कथन शीघ्र समझ में नहीं आता। परन्तु जब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आत्म ध्यान में निमग्न साधुराज सुकुमाल स्वामी के शरीर का भक्षण स्यालिनी ने किया परन्तु साधुराज सुकुमाल ध्यानस्थ रहे उनके इस चरित्र द्वारा उपरोक्त कथन कितना स्पष्ट होता है। इसीलिये स्वामी समन्तभद्र ने प्रथमानुयोग को बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति का कारण कहा है तथा उसे समाधि का भंडार बताया है।[2]

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा के अनुसार कविवर बुधजन ने भी चारों अनुयोगों को आगम कहा है और आगम प्रमाण माना है। प्रथमानुयोग का ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है क्योंकि वह आगम है।

इन पुराणों (प्रथमानुयोग के ग्रन्थों) के पढ़ने से तत्काल महान् पुण्य का संचय होता है और अशुभ कर्मों की निर्जरा हो जाती है। चूंकि ये भी जिनवचन

---

१. तत्प्रसीद विभो वक्तुमामूलात्पावनां कथाम्।
निष्क्रियो दुष्कृतस्यास्तु ममपुण्य कथा श्रुतिः॥

आचार्य जिनसेनः महापुराण, पर्व-२, श्लोक-२५, प्रथम भाग, १९४४, प्रथम संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

२. प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमति पुण्यम्।
बोधि समाधि निधानं बोधति बोधः समीचीनः॥

आचार्य समन्तभद्रः रत्नकरण्ड श्रावकाचार, द्वितीय परिच्छेद, श्लोक संख्या ४३ सरल जैन ग्रन्थ भंडार, जबलपुर।

है, बारहवें अंग के पांच भेदों (परिकर्म, सूत्रों, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका) में से यह प्रथमानुयोग तृतीय भेद रूप है, इसलिये द्वादशांग के अन्तर्गत ही है।[1]

करणानुयोग

जो श्रुतज्ञान लोक-अलोक के विभाग को, युग के परिवर्तन को और चारों गतियों के परिवर्तन को दर्पण के समान जानता है उसे करणानुयोग कहते हैं।[2]

पं. टोडरमल लिखते हैं:—जिसमें गुणस्थान मार्गणास्थान आदि रूप जीव का तथा कर्मों का और तीन लोक सम्बन्धी भूगोल का वर्णन होता है उसे करणानुयोग कहते हैं।[3] करण शब्द के दो अर्थ हैं परिणाम और गणित के सूत्र अतः खगोल और भूगोल का वर्णन करने वाला तथा जीव और कर्म के सम्बन्ध आदि के निरूपक कर्म सिद्धान्त विषयक ग्रंथ करणानुयोग में लिये जाते हैं।

इसके अन्तर्गत द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदियां, क्षेत्र एवं नगरादि के साथ सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि का भी वर्णन आता है। यह ऐसा लोक साहित्य है, जिसमें आधुनिक ज्योतिष, निमित्त, ग्रह-गणित और भूगोल का समावेश हो जाता है। इसमें अधोलोक, मध्यलोक, उर्ध्वलोक इन तीन लोकों का वर्णन रहता है। अधोलोक में ७ नरकों तथा उनके ४९ पटलों का वर्णन रहता है। मध्यलोक में जंबूद्वीप तथा लवण-समुद्र आदि असंख्यात द्वीप समुद्रों का वर्णन रहता है। ऊर्ध्वलोक में कल्प और कल्पातीत विमानों को बतलाकर सोलह स्वर्गों में विमानों की संख्या: इन्द्रक विमानों का प्रमाणादि, श्रेणिबद्ध विमानों का अवस्थान, दक्षिणेन्द्रों और उत्तरेन्द्रों का निवास, सामानिक आदि देवों की संख्या कल्पों में स्त्रियों के उत्पत्ति स्थान, प्रवीचार, विक्रिया अवधिज्ञान का विषय, जन्म मरण का अन्तरकाल, इन्द्रादिका उत्कृष्ट विरहकाल, आयु, लोकान्तिक देवों का स्वरूप, देवांगनाओं की आयु, उच्छासव आहार ग्रहण का काल, गति अगति आदि का कथन है।

संस्थान विचय धर्मध्यान करणानुयोग के ग्रन्थों के अध्ययन से ही किया जाता है। कर्म प्रकृतियों के उदय आदि के समय विपाक विचय धर्मध्यान होता है अतः यह स्पष्ट है कि यह करणानुयोग सम्यकत्व व संयम का कारण है।

---

१. लोकालोक विभक्तेर्युग परिवृत्तेश्चतुर्गतीनां।
आदर्शमिव तथा मतिरवैति करणानुयोग च।
आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरंड श्रावकाचार, पद्य सं० ४४ पृ० सं० ३३ सरल जैन ग्रन्थ भंडार जबलपुर।

२. आर्यिका ज्ञानमती: प्रवचननिर्देशिका, पृ० सं० १४३–४४ प्रका० दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ) १९७७।

३. पं. टोडरमल मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० सं० ३९३, किशनगढ

चरणानुयोग

जो सम्यग्ज्ञान श्रावक और अनगार (मुनि) के चारित्र की उत्पत्ति वृद्धि और रक्षा का साधन है ऐसे शास्त्रों को आचार्य चरणानुयोग आगम कहते हैं।[1]

गृहस्थ और मुनियों के आचरण नियमों का वर्णन चरणानुयोग के शास्त्रों में होता है।[2]

द्वादशांग में भी आचारांग नामक अंग सबसे प्रथम अंग है जिसमें मुनियों के चारित्र का सांगोपांग वर्णन है। भगवान के समवशरण में भी बारह सभाओं में से भगवान के सन्मुख पहली सभा में मुनिगण ही विराजते हैं चूंकि भगवान के उपदेश को साक्षात् ग्रहण करके मोक्ष की सिद्धि करने वाले मुनि ही हैं। चारित्र सभी के द्वारा और सदा पूज्य है। अतः चरणानुयोग से चारित्र का लक्षण जानकर उसे धारण करना चाहिये।

द्रव्यानुयोग

जो शास्त्र, जीव-अजीव तत्वों को, पुण्य-पाप को, बंध-मोक्ष को भाव श्रुत के अनुसार जानता है उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं।[3]

करणानुयोग विषयक साहित्य की तरह द्रव्यानुयोग विषयक जैन साहित्य भी बहुत महत्वपूर्ण है। भगवान महावीर उक्त तत्त्वों के प्रधान ज्ञाता एवं प्रवक्ता थे। द्रव्यानुयोग विषयक साहित्य का मूलस्रोत श्रुत का दृष्टिवाद अंग है। भगवान महावीर के पश्चात् आचार्य कुन्द कुन्द ने द्रव्यानुयोग सम्बन्धी साहित्य की रचना की। द्रव्यानुयोग के विषय को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये सबल युक्तियों का प्रयोग आचार्य कुन्द कुन्द ने किया है। क्योंकि वे इस अनुयोग के विषयभूत पदार्थों का सच्चा श्रद्धान कराना चाहते थे। उन्होंने जीवादि छह द्रव्य व सात तत्वों की व्याख्या इतने सुन्दर ढंग से की है कि मध्यस्थ भाव धारण करने वाला व्यक्ति इसके अध्ययन से वीतरागता की प्रेरणा प्राप्त कर लेता है। वीतरागता की प्राप्ति करना ही उनका प्रयोजन था। भगवान महावीर एवं गौतम गणधर के पश्चात् कुंदकुंदाचार्य का स्मरण इस बात का प्रमाण है कि वे जैन सिद्धान्तों के प्रभावक प्रवक्ता एवं ज्ञाता रहे हैं।[4]

इस द्रव्यानुयोग विषयक साहित्य को दो भागों में विभक्त किया गया है—

---

१. गृहमेध्यनगाराणां, चारित्रोत्पत्ति वृद्धिरक्षागंम्।
चरणानुयोग समयं, सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥
आचार्य समन्तभद्रः रत्नकरंड श्रावकाचार, श्लोक सं० ४५, पृ. सं. ३३

२. पं. टोडरमल : मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ० सं० ३९३, किशनगढ़।

३. जीवाजीवसुतत्वे, पुण्यापुण्ये च बंध मोक्षौ च।
द्रव्यानुयोग दीपः श्रुतविद्या लोकमातनुते॥
आचार्य समन्तभद्रः रत्नकरंड श्रावकाचार, श्लोक संख्या ४६, पृ० सं० ३४

४. मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलम्॥ मंगलाचरण।

विषयक शास्त्रों के प्रणेता एवं प्रवक्ता हैं। इनके द्वारा रचित प्रमुख ग्रन्थ हैं— समयसार, अष्ट पाहुड़, इष्टोपदेश, परमात्म प्रकाश आदि जिनमें तत्वों का निर्णय विविध युक्तियों व प्रबल प्रमाणों द्वारा किया जाता है, वह तत्व ज्ञान विषयक शास्त्र है। पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, तत्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि तत्वार्थवार्तिक, द्रव्यसंग्रह, तत्वार्थसार, वृहद्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थ तत्वज्ञान का प्रतिपादन करते हैं अतः इन्हें तत्वज्ञान विषयक शास्त्र कहा जाता है। दोनों ही प्रकार के द्रव्यानुयोग विषयक साहित्य का मुख्य प्रयोजन स्व-पर का भेद विज्ञान कराना है।

चारों ही अनुयोग वीतराग भावों की वृद्धि करने वाले हैं। अतः कोई एक अनुयोग विशेष अच्छा है ऐसा कहना ठीक नहीं।

अनुयोगों का अध्ययन क्रम

अनुयोगों के अध्ययन क्रम का कोई निश्चित नियम निर्धारित करना संभव नहीं, क्योंकि पात्र की योग्यता और रुचि भिन्न भिन्न प्रकार की होती है तथापि कतिपय ग्रन्थों में अनुयोगों के अध्ययन क्रम का वर्णन मिलता है। पूजन के बाद जो शांति पाठ जैन मंदिरों में पढ़ने की परंपरा है उसमें क्रम इस प्रकार है। प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग को नमस्कार है।

संपूर्ण श्रुतज्ञान या द्वादशांग वाणी को ११ अंग व चौदह पूर्व में गूंथा गया है। उनमें सर्वप्रथम आचारांग का उल्लेख है क्योंकि आचारशास्त्र आबाल वृद्ध सभी के जीवन को सुखी बनाने वाले नियमों का निर्धारण कर वैयक्तिक और सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन को व्यवस्थित बनाता है। अशुभ परिणामों या अशुभ कार्यों से निवृत्त होना और शुभ परिणामों में या सत कार्यों में प्रवृत्त होना ही आचारशास्त्र का विधान है। आचारशास्त्र जीव को सचेत करता है तथा विषय-सुखों में रत होने वाले जीव को विषय सुख से विरक्त करता है। विषय सुख को हेय बताकर उससे ग्लानि उत्पन्न कराता है। विषय सम्बन्धी मोह और तृष्णा को दूर करता है। मोह और तृष्णा के दूर होने से विषय विष के समान मालूम होने लगते हैं। सांसारिक दुखों का मूल-कारण विषय वासना है। उसका परित्याग आचारांग बताता है। आचारांग यह भी बताता है कि हे जीव! यदि तुझे अलौकिक आत्म-रस का पान करना है तो विषय-वासनाओं का परित्याग कर आत्म सुख का विकास करो और मनुष्य पर्याय को सफल करो। जो आनन्द ज्ञान की चर्चा में है उससे अनन्त गुणा इस चारित्र में है। तेंतीस सागर तक ज्ञान चर्चा का अनुभव करके जो आनन्द प्राप्त नहीं हुआ उससे अनन्तगुणा आनन्द मुनिपद धारण करने में हुआ। इसलिये मानव-मात्र का कर्त्तव्य है कि वह अपनी अग्नि की शिखा के समान प्रज्वलित विषय-वासनाओं का त्याग करने के लिये प्रथम आचारांग का आश्रय ले। अध्यात्म विषयक और तत्वज्ञान विषयक। अभेद रत्नत्रय का जिसमें वर्णन हो वह अध्यात्म शास्त्र है। कुंदकुंद, अमृतचन्द्रसूरि, जयसेन आदि आचार्य अध्यात्म

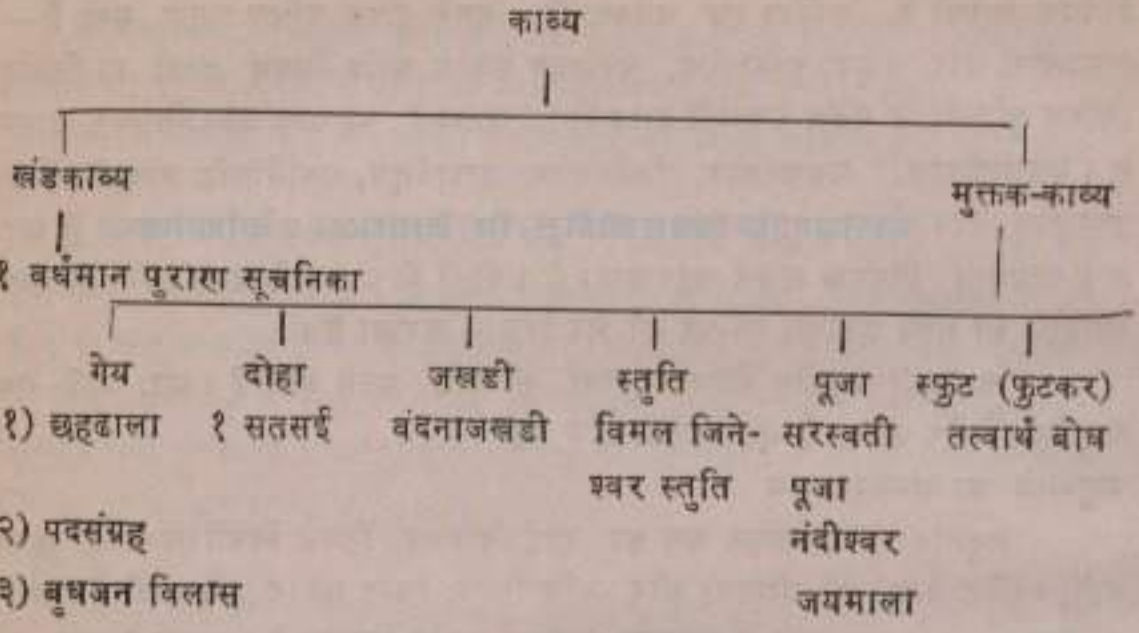

बुधजन विलास के विषय

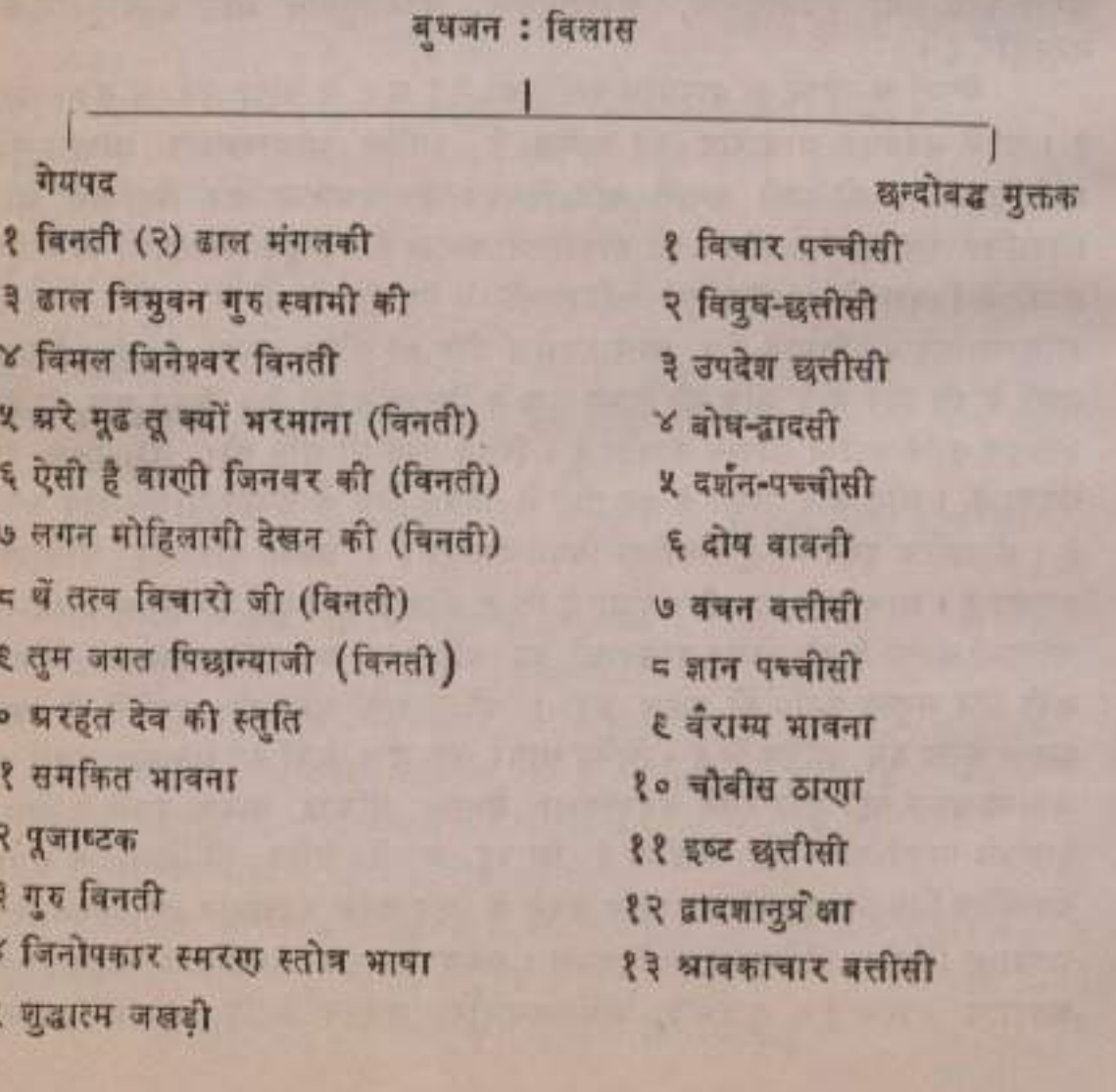

१६ शारदाष्टक

१७ नंदीश्वर जय माला

१८ जिनवाणी जय माला

१९ दर्शनाष्टक

कविवर बुधजन ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'तत्वार्थ बोध' में विभिन्न विषयों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। उन्होने चित्त की एकाग्रता के लिये ध्यान को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। उनके द्वारा प्रतिपादित ध्यान के प्रकार निम्न चार्ट द्वारा समझे जा सकते हैं।

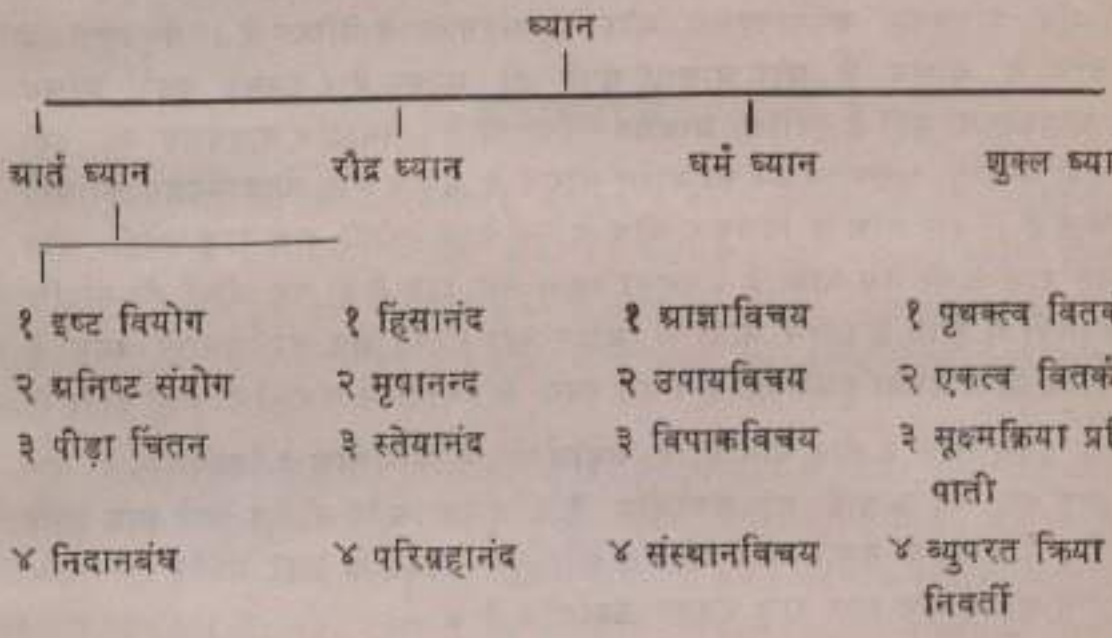

ध्यान की परिभाषा कविवर बुधजन के शब्दों में :—

चित्त को एकाग्र करना अर्थात् आत्म गुणों की ओर लगाना तथा अन्य संसार सम्बन्धी संपूर्ण विकल्पों को हटाना या उनसे दूर रहना, उन्हें चित्त में न आने देना इसी का नाम ध्यान है। वह ध्यान चार प्रकार का है।[1] आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें से प्रथम दो प्रकार का ध्यान (आर्त और रौद्र ध्यान) अशुभ ध्यान हैं। दूसरे दो ध्यान

---

१. चित्त एकाग्ररोकना, विकल्प आन निवार।
ध्यान कहत है तासका, भेद चार परकार ॥१२॥
आरत रुद्र कुध्यान दो, अशुभ कुगति दातार।
धर्म शुक्ल शुभ ध्यान जो सुरशिव सुख दातार ॥१३॥
क—विबुधजनः तत्वार्थबोध पृ० २५८ ध्यानरचना प्ररूपण, श्लो० १२-१३, पृ०सं० २५८

(धर्म और शुक्ल) ये शुभ ध्यान हैं। ये दोनों ध्यान स्वर्ग व मोक्ष के साधक हैं। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि प्रारंभ के दो ध्यान नरक व तिर्यंच गति के साधक हैं।

लोक की व्यवस्था के सम्बन्ध में कवि के विचार—

लोक

जो समस्त द्रव्यों को अपने में अवकाश देता है उसे आकाश द्रव्य कहते हैं। आकाश द्रव्य के दो भेद हैं। १.लोकाकाश, २. अलोकाकाश। आकाश द्रव्य के जितने भाग में धर्मादिक द्रव्य निवास पाते हैं उतने भाग को लोकाकाश और जहां अन्य कोई द्रव्य नहीं केवल आकाश ही आकाश है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। यह संपूर्ण लोक घनोदधि वातवलय घनवातवलय और तनुवातवलय से वेष्टित है। तनुवातवलय आकाश के आश्रय है और आकाश अपने ही आश्रय है। उसको दूसरे आश्रय की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आकाश सर्वव्यापी है। घनोदधि वातवलय का वर्ण मूंग के समान, घनवातवलय का वर्णन गोमूत्र के समान और तनुवातवलय का वर्ण अव्यक्त है।[1] इस लोक के बिलकुल बीच में एक राजू चौड़ी, एक राजू लम्बी और चौदह राजू ऊंची त्रस नाड़ी है। इसका व्यास एक राजू है। त्रस जीवों की उत्पत्ति त्रस नाड़ी में होती है। त्रस नाड़ी के बाहर नहीं। यह क्षेत्र का प्रमाण स्वतः है किसी के द्वारा किया हुआ नहीं है। इस स्वतः के प्रमाण में कमी-बेशी नहीं होती।[2]

इस लोक के तीन भाग हैं, १. अधोलोक २. मध्यलोक ३. उर्ध्वलोक। मूल से सात राजू की ऊंचाई तक अधोलोक है। सुमेरू पर्वत की ऊंचाई (एक लाख चालीस योजन) के समान मध्य लोक है और सुमेरू पर्वत के ऊपर अर्थात् एक लाख चालीस योजन कम सात राजू प्रमाण ऊर्ध्वलोक है।

अधोलोक

नीचे से लगाकर मेरू की जड़ पर्यन्त सात राजू ऊंचा अधोलोक है। जिस पृथ्वी पर अस्मदादिक निवास करते हैं उस पृथ्वी का नाम चित्रा पृथ्वी है। इसकी मोटाई एक हजार योजन है और यह पृथ्वी मध्यलोक में गिनी जाती है।

सुमेरू पर्वत की जड़ एक हजार योजन चित्रा पृथ्वी के भीतर है तथा निन्यानवे हजार योजन चित्रा पृथ्वी के भीतर है तथा निन्यानवे हजार योजन चित्रा पृथ्वी के ऊपर है और चालीस योजन की चूलिका है। सब मिलाकर एक लाख चालीस योजन ऊंचा मध्यलोक है। मेरू की जड़ के नीचे से अधोलोक का प्रारंभ है।

---

१. बुधजन : तत्वार्थ बोध, पद्य सं० २५, पृ० ४३

२. बुधजन : तत्वार्थ बोध पद्य सं० २९–३०, पृ० ४४

सबसे पहले मेरु पर्वत की आधारभूत रत्नप्रभा पृथ्वी है। इस पृथ्वी का पूर्व पश्चिम और उत्तर-दक्षिण दिशा में लोक के अन्त पर्यन्त विस्तार है। इस ही प्रकार शेष छह पृथ्वियों का भी पूर्व, पश्चिम और उत्तर दक्षिण दिशाओं में लोक के अन्त पर्यन्त विस्तार है। मोटाई का प्रमाण सबका भिन्न-भिन्न है।

पाप के उदय से यह जीव नरक गति में उपजता है, जहां कि नाना प्रकार के भयानक तीव्र दुखों को भोगता है। पहली बार पृथ्वी तथा पांचवी के तृतीयांश नरकों में उष्णता की तीव्र वेदना है तथा नीचे के नरकों में शीत की तीव्र वेदना है। अन्य स्वकृत-परकृत नाना प्रकार के दुख हैं जिनका वर्णन असंभव है। इसलिए जो महाशय इन नरकों के घोर दुःखों से भयभीत हुए हों, वे जुआ, चोरी, मद्य, मांस, वेश्या, पर स्त्री तथा शिकार आदिक महापापों को दूर ही से छोड़ देवें।

मध्यलोक

मध्यलोक का वर्णन कविवर बुधजन ने काफी विस्तार के साथ किया है। उन्होंने मध्यलोक पंचासिका शीर्षक द्वारा ५० पद्यों में मध्यलोक का वर्णन किया है। प्रारंभ करते हुए कवि लिखते हैं— मैं सर्वज्ञ को मस्तक झुकाकर तथा आगम (जिनवाणी) का सार समझकर मध्यलोक पंचासिका का वर्णन बहुत सोच विचार कर करता हूं।

भूमि में जड़ है तथा निन्यानवे हजार योजन भूमि के ऊपर ऊंचाई है और चालीस योजन की चूलिका है। यह सुमेरु पर्वत गोलाकार भूमि पर दश हजार योजन चौड़ा है तथा ऊपर एक हजार योजन चौड़ा है। सुमेरु पर्वत के चारों तरफ भूमि पर भद्रशाल वन है। यह भद्रशाल वन पूर्व और पश्चिम दिशा में बाबीस २ हजार योजन और उत्तर दक्षिण दिशा में ढाई-ढाई सौ योजन चौड़ा है। पृथ्वी से पांच सौ योजन ऊंचा चलकर सुमेरु केचारों तरफ द्वितीय कटनी पर पांच सौ योजन चौड़ा सोमनस वन है। सौमनस से छत्तीस हजार योजन ऊंचा चलकर सुमेरु के चारों तरफ तीसरी कटनी पर चार सौ चोरानवे योजन चौड़ा पाण्डुक वन है। मेरु की चारों विदिशाओं में चार गजदन्त पर्वत हैं। दक्षिण और उत्तर भद्रसाल तथा निषध और नील पर्वत के बीच में देवकुरु और उत्तरकुरु हैं। मेरु की पूर्व दिशा में पूर्व विदेह और पश्चिम दिशा में पश्चिम विदेह है। जम्बूदीप से दूनी रचना धात की खंड और पुष्करार्ध द्वीप में है। मनुष्य लोक के भीतर पन्द्रह कर्मभूमि और तीस भोग भूमि हैं।

---

१. सरवग कूं सिरनायकै, लखिजिन आगम सार।
मध्यलोक पंचासिका, वरनूं विविध विचार॥
बुधजनः तत्वार्थ बोध, पद्य संख्या ४४, पृ०४५ लश्कर।

आठवें नंदीश्वर द्वीप में अकृत्रिम जिन मंदिर तथा अकृत्रिम जिन प्रतिमाएं है। "मानुषोत्तर पर्वत के बाहर जो जिन मंदिर है वहां की प्रतिमाओं के दर्शन देवगण ही कर सकते हैं तथा मानुषोत्तर पर्वत के अन्दर अर्थात् ढाई द्वीप में जो अकृत्रिम जिन मंदिरों में अकृत्रिम जिन प्रतिमाएं हैं उनके दर्शन देव तथा विद्याधर कर सकते हैं। ढाई द्वीप के बाहर मुनि गोचरी लेने नहीं पहुंच सकते, केवल ऋद्धिधारी ही पहुंच सकते हैं। यह समस्त रचना अनादि अनिधन है। यहां कभी कोई परिवर्तन नहीं होता।[1]"

ऊर्ध्वलोक

मेरु से ऊर्ध्वलोक के अन्त तक के क्षेत्र को ऊर्ध्वलोक कहते हैं। इस ऊर्ध्वलोक के दो भेद हैं, एक कल्प और दूसरा कल्पातीत। जहां इन्द्रादिक की ?

अधोलोक के ऊपर एक राजू लम्बा एक राजू चौड़ा और एक लाख चालीस योजन ऊंचा मध्यलोक है। इस मध्यलोक के बिल्कुल बीच में गोलाकार एक लक्ष योजन व्यास वाला जम्बूद्वीप को खाई की भांति घेरे हुए गोलाकार लवण समुद्र है। इस लवण समुद्र की चौड़ाई सर्वत्र दो लक्ष योजन है। पुनः लवण समुद्र को चारों ओर से घेरे हुए गोलाकार धातकी खंड द्वीप है जिसकी चौड़ाई सर्वत्र चार लक्ष योजन है। धातकी खंड को चारों तरफ से घेरे हुए आठ लक्ष योजन चौड़ा कालोदधि समुद्र है तथा कालोदधि समुद्र को चारों तरफ से घेरे हुए सोलह लक्ष योजन चौड़ा पुष्कर द्वीप है। इस ही प्रकार से दूने दूने विस्तार को लिए परस्पर एक दूसरे को घेरे हुए असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। अंत में स्वयंभू रमण समुद्र है। चारों कोनों में पृथ्वी है। पुष्कर द्वीप के बीचों बीच मानुषोत्तर पर्वत है जिससे पुष्कर द्वीप के दो भाग हो गये हैं। जम्बू द्वीप धातकी खंड द्वीप पुष्करार्ध द्वीप इस प्रकार ढाई द्वीप में मनुष्य रहते हैं। ढाई द्वीप से बाहर मनुष्य नहीं है तथा तिर्यंच समस्त मध्यलोक में निवास करते हैं। स्थावर जीव समस्त लोक में भरे हुए हैं। जलचर जीव लवणोदधि, कालोदधि और स्वयंभू रमण इन तीन समुद्रों में ही होते हैं अन्य समुद्रों में नहीं।

जम्बूद्वीप एक लक्ष योजन चौड़ा गोलाकार है। इस जम्बूद्वीप में पूर्व और पश्चिम दिशा में लम्बायमान दोनों तरफ पूर्व और पश्चिम समुद्र को स्पर्श करते हुए हिमवन्, महाहिमवन निषध, नील रुक्मि और शिखरी इस प्रकार छह कुलाचल (पर्वत) हैं। इन कुलाचलों के कारण सात भाग हो गये हैं। दक्षिण दिशा के प्रथम

---

१ मानुषोत्र बाहर जिनधाम, तहां देव ही करें प्रणाम।
ढाईद्वीप भीतर जिनगेह, सुर विद्याधर बंदें तेह॥
बुधजनः तत्वार्थ बोध, पद्य संख्या ४५–४६, पृष्ठ संख्या ४६ लश्कर।

भाग का नाम भरत क्षेत्र, द्वितीय भाग का नाम हेमवत और तृतीय भाग का नाम हरिक्षेत्र मे। इस ही प्रकार उत्तरदिशा के प्रथम भाग का नाम ऐरावत, द्वितीय भाग का नाम हैरण्यवत और तृतीय भाग का नाम रम्यक क्षेत्र है। मध्यभाग का नाम विदेह क्षेत्र है।' भरतक्षेत्र की चौड़ाई ५२६ $\frac{6}{19}$ योजन है[1]। विदेह क्षेत्र के बीचों बीच सुमेरु पर्वत है। सुमेरु पर्वत की एक हजार योजन कल्पना होती है, उनको कल्प कहते है और जहां यह कल्पना नहीं है उसे कल्पातीत कहते हैं। कल्प में १६ स्वर्ग हैं—१ सौधर्म, २ ईशान, ३ सनत्कुमार, ४ माहेन्द्र, ५ ब्रह्म, ६ ब्रह्मोत्तर ७ लांवत, ८ कापिष्ठ, ९ शुक्र, १० महाशुक्र, ११ सतार, १२ सहसार, १३ आनत १४ प्राणत, १५ आरण, १६ अच्युत। इन सोलह स्वर्गों में से दो-दो स्वर्गों में संयुक्त राज्य है। इस कारण सौधर्म ईशान, सानत कुमार-माहेन्द्र इत्यादि दो-दो स्वर्गों का एक-एक युगल है। उपरोक्त १६ स्वर्गों में १२ इन्द्र है। सोलह स्वर्गों के ऊपर कल्पातीत में तो अधो ग्रेवेयक, तीन मध्यम ग्रेवेयक और तीन उपरिम ग्रेवेयक इस प्रकार नव ग्रेवेयक है। नव ग्रेवेयक के ऊपर नव अनुदिश विमान तथा उनके ऊपर पंच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार इस उर्ध्वलोक में वैमानिक देवों का निवास है।

मेरू की चूलिका से एक बाल के (केश के) अन्तर पर ऋजु विमान है। यहां से सौधर्म स्वर्ग का आरंभ है। मेरू तल से लगाकर डेढ़ राजू की ऊंचाई पर सौधर्म-ईशान युगल का अन्त है। उसके ऊपर डेढ़ राजू में सानत्कुमार-माहेन्द्र युगल है। उससे ऊपर आधे-आधे राजू में छह युगल हैं। इस प्रकार छह राजू में आठ युगल हैं।

लोक के अन्त में एक राजू चौड़ी, सात राजू लम्बी और आठ योजन मोटी ईशत् प्राग्भार नामक आठवीं पृथ्वी है। उस आठवीं पृथ्वी के बीच में रूप्यमयी छत्राकार मनुष्यक्षेत्र समान गोल ४५ लक्ष योजन चौड़ी मध्य में आठ योजन मोटी (अंत तक मोटाई क्रम से घटती हुई है।) सिद्ध शिला है। उस सिद्ध शिला के ऊपर तनुवाद में मुक्तजीव विराजमान हैं। उस शिवालय धाम (मोक्ष) में अनन्त सिद्धजीव हैं वे अनंत ज्ञान अव्याबाध सुत आदि अनंत गुणों से शोभायमानहैं कविवर बुधजन उनको सदा प्रणाम करते हैं[1]।

---

१ सिद्ध अनंतानंतको, तहां शिवालयधाम।
राजे अव्याबाधसुख, तिनको सदा प्रणाम॥
बुधजनः तत्वार्थबोध, पद्य संख्या ४२ पृष्ठ ४६ प्रका० कन्हैयालाल गंगवाल, लश्कर

तृतीय अध्याय

(भाषा वैज्ञानिक अध्ययन)

१. भाषा शिल्पसम्बन्धी विश्लेषण

कविवर बुधजन ने जिस भाषा का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है, उसके सम्बन्ध में गंभीरता से विचार करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उनकी मौलिक तथा अनुदित रचनाओं की भाषा में--न्युनाधिक अन्तर अवश्य रहा है। अतः यह कहा जा सकता है कि उनकी भाषा के दो रूप रहे हैं। कविवर बुधजन ने संस्कृत, प्राकृत भाषाओं में लिखे ग्रन्थों का देशी भाषा में रूपान्तरण किया। उन्होंने अनेक दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक ग्रन्थों का हिन्दी में मूल-स्पर्शी अनुवाद किया। अनुवाद में मौलिकता की पूर्ण सुरक्षा है। उन्होंने देशी भाषा में दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन कर जन-जन तक अध्यात्म धारा प्रवाहित करने का महान कार्य किया।

प्राचीन काल में मगधी और अर्द्धमागधी भाषा में ग्रन्थ लिखे जाते थे। कालान्तर में जब उस भाषा में समझना कठिन हो गया, तब संस्कृत में शास्त्र रचना होने लगी। और जब संस्कृत भाषा व्याकरण के नियमों से अत्यधिक जकड़ दी गयी, तब उसमें भी समझना कठिन हो गया और तभी देशी भाषाओं में रचनाएं होने लगीं। जन-साधारण को समझाने के निमित्त ही ऐसी रचनाओं का प्रणयन हुआ। कहा भी है—इस निकृष्ट समयविषें हम सारिख मंद बुद्धीन तें भी हीन बुद्धि के धनी घनेजन अवलोकिये हैं। तिनकों तिनपदनि का अर्थ ज्ञान होने के अर्थिधर्मानुराग के वशतें देश भाषामय ग्रन्थ करने की हमारे इच्छा भई, ताकारी हम यह ग्रन्थ बनावें हैं। सो इन विषें भी अर्थ सहित तिन ही पदनि का प्रकाशन ही है। इतना तो विशेष है जैसे प्राकृत, संस्कृत पद लिखिये है, परन्तु अर्थविषें व्यभिचार किछू नाहीं[1]।

जैनाचार्यों एवं विद्वानों ने प्राकृत के समान ही संस्कृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं में समान रूप से अपने विचारों की अभिव्यंजना कर वाङमय की वृद्धि की है। कविवर बुधजन ने भी उक्त पद्धति का अनुसरण कर वाङ्मय की वृद्धि की।

---

१. पं० टोडरमल : मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ० संख्या-२६, अनन्त कीर्ति ग्रन्थमाला, बंबई

ब्रज मिश्रित ढूंढारी (राजस्थानी) भाषा कवि की कृतियों में स्पष्ट रूप से दृष्टि गोचर होती है। कविवर की रचनाओं में सामान्यतः यही भाषा प्रयुक्त है। राजस्थान प्रदेश की भाषा राजस्थानी है। यह राजपूताना, मध्यभारत के पश्चिमी भाग, मध्यप्रदेश, सिंध तथा पंजाब के निकटवर्ती क्षेत्रों में बोली जाती है। मुख्य रूप से यह मरुभूमि की भाषा है। डा. ग्रियर्सन ने इसे चार भागों में विभक्त किया है :—

(१) मारवाड़ी (२) मध्यपूर्वीय समुदाय (जिसकी विशिष्ट बोली जयपुरी है) (३) पश्चिमोत्तरी समुदाय (जिसकी विशिष्ट बोली मेवाती है) और (४) मालवी। इन्हीं चारों को राजस्थानी की चार मुख्य-विभाषाओं के रूप में स्वीकार किया गया है। डॉ० चटर्जी ने राजस्थानी बोलियों को पश्चिमी और पूर्वी इन दो वर्गों में समाहित किया है, किन्तु डॉ० तिवारी इनके चार वर्ग मानते हैं। यथा— (१) पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी) (२) पूर्वी राजस्थानी (जयपुरी, किशनगढ़ी, अजमेरी, हाडौती) (३) दक्षिण पूर्वी राजस्थानी (मालवी) (४) दक्षिणी राजस्थानी (भीली-सौराष्ट्री) इनके अन्तर्गत प्रसिद्ध उप बोलियां भी हैं। साहित्यिक दृष्टि से मारवाड़ी भाषा समृद्ध है।

वास्तव में राजस्थानी का उद्गम शौरसेनी अपभ्रंश से खोजा जाता है। उसका एक पर्वतीय रूप मध्य पहाड़ी का स्रोत भी है। दूसरी बात यह है कि हूण, शक, गूर्जर आदि लोगों के सहवास और प्रसार के इन क्षेत्रों को कुछ समानता प्रदान की है। राजस्थानी में अनेक द्वारों से शब्द-प्रवेश हुआ है। यह व्यवस्था केवल राजस्थानी भाषा पर ही लागू नहीं होती, अपितु प्रायः सभी बोलियों और भाषाओं पर लागू होती है। राजस्थान एक प्रदेश है, जहां प्राचीन काल में अनेक जातियों का आवागमन होता रहा है। उनके संपर्क से अनेक शब्द राजस्थानी में प्रविष्ट हुए। राजस्थानी का शब्द समूह अधोलिखित स्रोतों से सम्बन्धित है और उसका विभाजन इस प्रकार है।[1]

१ तत्सम शब्द
२ तद्भव शब्द
३ अनार्य भाषाओं के शब्द
४ आधुनिक बोलियों से उधार लिये शब्द
५ देशज शब्द
३ विदेशी-शब्द

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त इन शब्दों को राजस्थानी बोली से ध्वनि और रूपतत्व के अनुरूप इस प्रकार पचा लिया है कि वे अब उसी के बन गये हैं। संस्कृत अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी शब्द इस प्रकार राजस्थानी की प्रकृति में ढले

मिलते हैं कि वे विदेशी प्रतीत ही नहीं होते। यहां तक कि कई संस्कृत शब्दों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन ही नहीं हुए वरन् उनमें अर्थ-परिवर्तन के भी मनोरंजक दृष्टान्त मिलते हैं। इसमें तत्सम शब्द की अपेक्षा तद्भव शब्द अधिक हैं। उन सबका विवरण प्रस्तुत करना संभव नहीं है। यहां कतिपय विशिष्ट शब्दों को ही लिया जा रहा है, जो इस प्रकार है :—

तत्सम शब्द—सुरपति (६) आनंदघन (१४) आताप (१४) भानुप्रताप (१८) वचनामृत (२२) दीनानाथ (४२) प्रतिबिम्बित (८१) पाषाण (१०८) साम्राज्य (८७) क्षुधा (१२८) अतिथिदान (१७६) सुगुरू (२३५) रिपुघात (२८७) वृथा (३५६) अन्याय (३६०) हितमित (४१०) उज्जवल (४६८) कोविद (५१४) ज्ञानामृत (५४४) अपवर्ग (५८६) **तद्भव शब्द**—पदार्थ (पदारथ) प०सं० ८, तृषा (तस) ११, अर्गला (आगल) ग्राहक (गाहक) लवण (लोंण) तत्वार्थ (तत्वारथ) त्रिया (तिया) ७८, ज्वर (जुर) ६१, सर्वस्व (सरवस) ४७०, रत्न (रतन) १५, प्रगट (परगट) मार्ग (मारग) ४६, अल्प (अलप) ३०७, निर्वाह (निरनाह) ६३, दर्शक (दरसक) ५२, इत्यादि।

देश शब्द—नातरि (२२१) आछी (२२१) बुगला (२२१) हुकमी (२५८) परेवा (३१५) मौत ४०५) इत्यादि।

विदेशी शब्द—

विदेशी शब्द—मुसलमानों और अंग्रेजों के प्रभाव से आये हैं। राजस्थान पर मुसलमानों का शासन नहीं रहा, पर दिल्ली दरबार से उनका संपर्क रहा है, जिसके फलस्वरूप अनेक अरबी, फारसी के शब्द राजस्थानी में प्रविष्ट हुए। इन्हें बोलने वाला ग्रामीण व्यक्ति यह अनुभव नहीं करता कि ये राजस्थानी के शब्द नहीं हैं। ये शब्द हिन्दी, उर्दू के माध्यम से, कुछ जनसंपर्क से और कुछ कचहरियों के माध्यम से राजस्थानी भाषा में घुलमिल गये हैं। यथा—

दर्द (४६१) वकत (५८) मतलब (६२) मगरूर (११४) गाफिल (३८५) जल्दी (५१३) करार (इकरार) (उस्ताद) दरगा (दरगाह) जायदाद, तजुर्बा, दस्तखत, दुरूस्त, परवस, मतलब (६२) इत्यादि।

अंग्रेजी शब्द—टाइम, पेंसिल, फोटू, पेंसन, अफसर, साइंस मिडिल, पुलिस मास्टर, मिनिट, अस्पताल, मीटिंग इत्यादि।

राजस्थानी शब्द—बनरी (५) बरजोरी (५) चंडार (३६) अबार (१२) दुखां की खान (६६) खोसिलेय (२३५) कलाबिनां, पायसी (६३६) इत्यादि

ढूंढारी का क्षेत्र विभाजन—

शेखावटी के अतिरिक्त पूरा जयपुर, किशनगढ़ तथा अलवर का अधिकांश भाग, अजमेर-मेरवाड़ा का उत्तर पूर्वी भाग।

कविवर बुधजन ने अपनी रचनाओं में प्रचलित लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग भी यथा स्थान किये हैं, जो अन्यत्र दृष्टव्य हैं। यथा—

(१) जिसो अन्न खावे, तिसी मन्न हुवे।

(२) कदै घी घणां, कदै मुटठी चणां ॥ इत्यादि

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' में शौर-सेनी अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का विकास माना है। वास्तव में राजस्थानी भाषा में 'ड' वर्ण की बहुलता है। बहु वचन के अन्त में आ जाता है। यथा

तारां (तारों) रातां (रातों) बातां (बातों)। को के स्थान पर ने न इं, हम के लिये म्हें, चलसूं (चलूंगा) जासूं (जाऊंगा) चलसी (चलेगा) इत्यादि।[1]

भाषाओं के सम्बन्ध में निम्न लिखित चार्ट से यह स्पष्ट हो जायेगा कि हिन्दी प्रदेश की भाषाएं किस प्रकार एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

हिन्दी प्रदेश की भाषाएं (मध्यदेश)

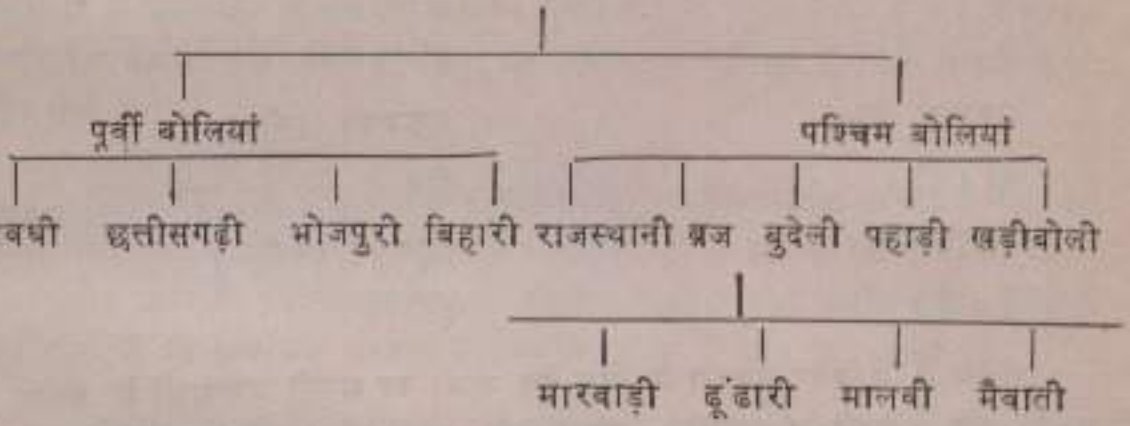

राजस्थानी पद-रचनात्मक संगठन में भी कुछ समानताएं देखी जा सकती है कर्त्ता में न, कर्म में कू, करण में से, संप्रदान में तांई, कू, अपादान में से, ते सम्बन्ध में को, का, की, रो, रा, री, अधिकरण में मां। पूर्वी राजस्थानी में तो 'न' (हिन्दी ने) कर्त्ता कर्म तथा संप्रदान तीनों में पाया जाता है इसमें सहायक क्रिया 'छे' पाई जाती है। भूतकालिक कृदन्त वाले रूप, राजस्थान में थो (ब०व०या) प्रत्यय वाले पाये जाते हैं। यथा-चल्यो, गयो।

बुधजन की रचनाओं में ब्रज भाषा व राजस्थानी का सम्मिश्र समावेश देखा जा सकता है। ब्रज भाषा का संक्षिप्त व्याकरण निम्न प्रकार दृष्टव्य है—

---

१. डॉ. जगदीश प्रसाद हिन्दी उद्भव विकास और रूप, पृ० सं० ६३, प्रथम संस्करण, किताब महल, इलाहाबाद।

कर्त्ता कारक—नें, में ।

कर्मकारक—क–व संप्रदान कारक–कुं, कूं, कों, कें, कें ।

करण व अपादान—सों, सूं, तें, ते ।

सम्बन्ध कारक—को, के (पुल्लिंग), स्त्रीलिंग की ।

अधिकरण कारक—में, मैं, पे, लौं ।

विशेषण प्रायः खड़ी बोली की भांति ही होते हैं, किन्तु पुल्लिग अकारान्त शब्द यहां औकारान्त हो जाते हैं । इनके तिर्यक रूप एक वचन के रूप से अथवा ए और पुल्लिंग बहुवचन के रूप ए, ऐ या एं प्रत्यान्त होते हैं ।

क्रिया रूप—

वर्तमान—मैं, हूं । भूत–में था या हतौ ।

एकवचन		बहुवचन
हौं	–	है
है	–	है
है	–	हूं

एकवचन (पु०)	एकवचन (स्त्री०)
हो । हौ ।	ही
बहुवचन (पु०)	बहुवचन (स्त्री०)
है । हैं	हीं

संक्षेप में, कविवर बुधजन ने जिस देश भाषा का अपनी रचनाओं में प्रयोग किया है, वह ढूंढारी (जयपुरी) भाषा कही जाती है । यही उस प्रदेश की तत्कालीन लोक प्रचलित भाषा थी । इसमें व्याकरण के विशेष बन्धन नहीं थे । अतः जो लोग व्याकरणादि से अपरिचित थे, वे भी भली भांति समझ सकते थे । कवि के साहित्य में तत्सम, और देशी भाषा के शब्द मिलते हैं । इतना ही नहीं, अन्य भाषाओं के देशी-विदेशी लोक-परंपरा के माध्यम से आवगत शब्द भी कविवर बुधजन की रचनाओं में भली-भांति परिलक्षित होते हैं ।

जहां तक भाषा-शिल्प का प्रश्न है, कवि ने विभिन्न-धाराओं से समागत बोलचाल की शब्द सम्पत्ति से भरपूर सहज, स्वाभाविक-पदग्रामों की रचनाकर भाषा को एक विशिष्ट कलेवर प्रदान किया है ।

(२) ध्वनि ग्रामीय प्रक्रिया—

ध्वनि भाषा का मूल रूप है । हम जो भी उच्चारण करते है, वह सब

ध्वनिमय है। इसलिये भाषा की रचना वर्णों से नहीं ध्वनियों से होती है। मानव के लिये ध्वनि की शक्ति अपरिमित है। मंत्र, तंत्र, यंत्र, संगीत, साहित्य तथा विज्ञान में ध्वनि की विशिष्ट शक्तियों का उल्लेख निहित है। संपूर्ण वायुमंडल में ध्वनि अव्यक्त रूप मे व्याप्त रहती है। अतः सामान्यतः ध्वनि शरीर व्यापार की वह क्रिया है जिसे स्वासोच्छ्वास लेने की क्रिया कहा जाता है। संसार की लगभग सभी भाषाओं में फेफड़े से निःसृत होने वाली वायुध्वनि का निर्माण करती है।

ध्वनि की कोई निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकती क्योंकि ध्वनि विभिन्न प्रकरणों के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थ की वाचक होती है। घंटा या किसी वाद्य के ध्वनित होने के पूर्व उस पर ठोका या आघात किया जाना आवश्यक है। जिस स्थान से ध्वनि उत्पन्न होती है, यदि उसका स्पर्श किया जाए तो हम उसकी गति का अनुभव कर सकते हैं जिसे कंपन कहते हैं। अतः कंपनशील गति का नाम ही ध्वनि है। ध्वनियां कई प्रकार की हो सकती हैं, किन्तु हमारा यहां अभिप्राय भाषण-ध्वनि (Speach sound or plen) से है। यथार्थ में भाषण में परिलक्षित होने वाली कई ध्वनियां भाषा में नहीं मिलतीं। अतः ध्वनियां वे कंपन हैं जो क्षिप्रता, तीव्रता तथा समय परिमाण से कर्णेन्द्रिय से टकराकर अपने गुणों के साथ श्रोत्र-ग्राह्य होते है। भाषण ध्वनि एक ध्वन्यात्मक इकाई है, किन्तु ध्वनिग्राम एक परिवार है जिसे वाग्ध्वनि भी कहा गया है।

पहले कहा जा चुका है कि भाषण-ध्वनि एक ध्वन्यात्मक इकाई है। इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। वैयाकरणों के मत में ध्वनि स्फोट मूलक है। 'स्फोट' शब्द है, क्योंकि उससे अर्थ स्फुटित होता है और ध्वनि शब्द का गुण है। दोनों में व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है। ध्वनि व्यंजक है और शब्द व्यंग्य।

'ध्वनिग्राम किसी भाषा की वह अर्थ भेदक ध्वन्यात्मक इकाई है जो भौतिक यथार्थ न होकर मानसिक यथार्थ होती है तथा जिसकी एकाधिक ऐसी संध्वनियां होती है, जो ध्वन्यात्मक दृष्टि से मिलती-जुलती अर्थ भेदकता में असमर्थ तथा आपस में या तो परि पूरक या मुक्त वितरण में होती है। भाषा विशेष के ध्वनिग्रामों में उस भाषा में अर्थ-भेद करने की क्षमता होती है। उदाहरण के लिये हिन्दी में काना और 'गाना' में अर्थ का अन्तर 'क' और 'ग' के कारण है अर्थात् 'क' 'ग' हिन्दी में अर्थ-भेदक हैं। ये ध्वनिग्राम है।[1]

जब तक ध्वनियों के विषय का सूक्ष्म-विवेचन नहीं किया जाता तब तक ध्वनि शब्द को तत्सम्बन्धी ध्वनि ग्राम कहते हैं, जैसे का, की, कू में मूल ध्वनि क है। वैज्ञानिक दृष्टि से इस 'क' को ध्वनिग्राम कहते हैं। ध्वनिग्राम दो प्रकार के होते हैं :—खंड्यध्वनि ग्राम तथा खंड्येतर ध्वनिग्राम।। प्रथम का उच्चारण स्वतंत्र रूप से हो सकता है। इसमें किसी भाषा के स्वर-ध्वनिग्राम तथा व्यंजन ध्वनिग्राम

आते हैं। खंड्येतर-ध्वनिग्राम जिनका उच्चारण स्वतंत्र रूप से न हो सके, जो अपने उच्चारण के लिये खंड्यध्वनि ग्राम पर ही आधारित हो। दीर्घता, अनुनासिकता, बलाघात, सुर, लहर, संगम या निवृत्ति खंड्येतर ध्वनिग्राम के अन्तर्गत आते हैं।

हिन्दी में ध्वनिग्राम दो प्रकार के हैं :—खंड्य और खंडेतर। खंड्यध्वनि ग्राम के दो भेद हैं—

(१) स्वर ध्वनिग्राम

(२) व्यंजन ध्वनिग्राम

खंड्येतर ध्वनिग्राम के ५ भेद हैं—दीर्घता, अनुनासिकता, बलाघात, अनुमान और संगम। यथा ऑफिस में आ-आँ। बाल-बाँल। काफी-कॉफी। हाल का हॉल।

हिन्दी में सभी स्वरों के अनुनासिक रूप मिलते हैं यथा—हंसना, दांत सिंघाड़ा, सींचना, सोंठ, भैंस इत्यादि।

इनके अतिरिक्त धातुओं के पीछे शब्द लगाकर अनेक कृदन्त रूप व धातुओं को छोड़कर शेष शब्दों के परे प्रत्यय लगाने से अनेक तद्धित शब्द बनते हैं। इसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

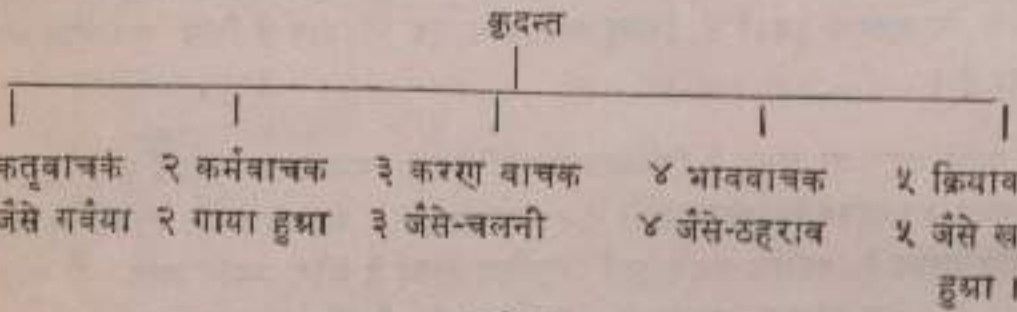

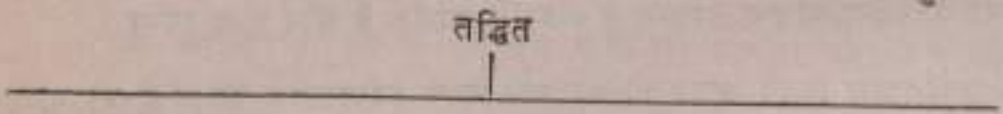

हिन्दी में मुख्य केन्द्रीय ध्वनिग्राम ३५ हैं। इनमें से मुख्य स्वर ध्वनि-ग्राम १० हैं यथा—अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ इनमें भी ए ऐ ओ औ संयुक्त हैं व्यंजनध्वनिग्राम-व्यंजन ध्वनियों का वर्गीकरण मुख्य रूप से तीन प्रकार से किया जा सकता है—

(१) घोषत्व की दृष्टि से।

(२) उच्चारण प्रयत्न की दृष्टि से।

(३) उच्चारण स्थान की दृष्टि से।

व्यंजनों में कुछ संयुक्त व्यंजन हैं। यथा-क्ष त्र ज्ञ। उदाहरण मित्र, विज्ञ, विद्यार्थी, बच्चा, क्षत्रिय इत्यादि। दो व्यंजन वाले शब्द फैक्ट्री, वक्तृत्व,

लक्ष्मी, व्यंग्यार्थ, तीक्ष्ण, सूक्ष्म । तीन व्यंजन वाले शब्द–स्वातन्त्र्य, वत्स्वं इत्यादि ।

बलाघात—त्याग, बुद्धि परजाय कूं ।
त्यागबुद्धि, परजाय कूं ।
त्याग बुद्धि परजाय, कूं ।
मे, मेरे गाढ़ी गढ़ी ।
ये 'मेरे', गाढ़ी गढ़ी ।
ये मेरे 'गाढ़ी, गढ़ी' ।

सुरलहर—करो नाहिं कछुराग ।
करो नाहिं कछु राग ?
करो नाहिं कछु राग ।

संगम— तोरी, मोरी लाज ।
तोरीमोरी, लाज ।
रोको, मत जाने दो ।
रोकोमत, जाने दो ।

यहां तोरी शब्द में चमत्कार है । हिन्दी की कुल ध्वनियां ५६ हैं । 'उ' और 'ल' स्वतंत्र ध्वनियां हैं । कवि की रचनाओं में भी 'उ' और 'ल' स्वतंत्र ध्वनियां हैं । यद्यपि ये केवल स्वर, मध्य, तथा पदान्त में ही पाई जाती हैं, पद के आदि में नहीं । ठीक यहीं बात 'ण' ध्वनि के विषय में भी कही जा सकती है । यह भी इन दोनों बोलियों में परिनिष्ठित खड़ीबोली की तरह 'न' का ध्वन्यंग नहीं है तथा यह ध्वनि कथ्य खड़ी बोली तक में पाई जाती है ।

ध्वनि के विषय में यह ध्यान देना आवश्यक है कि ध्वनि का अभिप्राय केवल भाषण-ध्वनि से है । यह भाषा की अत्यन्त सूक्ष्मधारा है । संवेदन-शील और अभ्यासगत है कि ध्वनि संयोगों के उच्चारों को सुनते ही उसका अर्थ होने लगता है । शब्द में अर्थ कहीं से आता नहीं है अपितु उसी में है ।

संक्षेप में इतना ही कहना है कि ध्वनियों के परिवार को ध्वनिग्राम कहा जाता है । ये ध्वनियां किसी परिधि या परवेश तक उच्चारगत अर्थ की दृष्टि से भिन्न प्रतीत नहीं होतीं । इसलिये सुनने वाला परिचित ध्वनि के रूप में ही उसे सुनता है । ध्वनिग्राम स्वन प्रकारों का समूह है जो ध्वन्यात्मक दृष्टि से समान तथा परिपूरक, वितरण या मुक्त परिवर्तन में होते हैं ।[1]

---

१. डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री : भाषा शास्त्र तथा हिन्दी भाषा की रूपरेखा पृ० १०३

अर्थतत्व

१ अर्थ परिवर्तन की दिशाएं
२ अर्थ-विस्तार
३ अर्थ संकोच
४ अर्थादेश
५ प्रत्यय
६ उपसर्ग
७ समास
८ पूर्व-सर्ग
९ परसर्ग
१० ध्वनि-अर्थ
११ मुहावरे, लोकोक्तियां तथा अन्य प्रयोग

१ अर्थपरिवर्तन की दशाएं—यथार्थ अर्थ परिवर्तन की दिशाएं पूर्ण रूप से नियत नहीं की जा सकतीं, क्योंकि अर्थ परिवर्तन का मुख्य कारण मानव-मस्तिष्क है। उच्चरित एक ही शब्द का मानव-मस्तिष्क विभिन्न अर्थ ग्रहण कर लेता है। इसका कारण यह है कि शब्द स्थूल होते हैं और अर्थ सूक्ष्म। अर्थ बौद्धिक होते हैं अत: उनमें सतत परिवर्तन होते रहते हैं। शब्दों की अपेक्षा अर्थ अधिक व्यापक होता है। कई बार शब्द-प्रयोग न होने पर भी संकेत मात्र ग्रहण किये जाते हैं।

'श्रील' महोदय के अनुसार अर्थ परिवर्तन की तीन दिशाएं मानी जाती हैं:—

१ अर्थ-विस्तार
२ अर्थ-संकोच
३ अर्थादेश

प्राय: प्रत्येक युग में शब्द और उनके अर्थ में कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रक्रिया में दरिया (नदी) शब्द गुजराती और हिन्दी में समुद्र का वाचक हो गया है। संस्कृत का 'आम्र' शब्द अपभ्रंश में आम अर्थ देने लगा और साहसिक (डाकू) शब्द, उर्दू-हिन्दी में साहसी (हिम्मती) अर्थ का वाचक हो गया अत्यन्त प्राचीन काल में संस्कृत में घृणा का अर्थ 'पिघलना था' बाद में दया हो गया और अब वह नफरत का अर्थ देने लगा। इसी प्रकार 'पाखंड' शब्द पहले एक संप्रदाय था, बाद में उस शब्द में कुछ परिवर्तन हुआ तो पाप का खंडन करने वाला अर्थ देने लगा और आज उसका अर्थ ढोंग या आडंबर है।[1]

(१) अर्थ परिवर्तन

अर्थ परिवर्तन की प्रक्रिया से यद्यपि शब्द और अर्थ सदा किसी संदर्भ में परिस्थिति वश बदल जाते हैं, किन्तु वे अपने मूल अर्थ को नहीं छोड़ते इसलिये हजारों वर्षों के बाद भी उनका मूल स्रोत खोज लिया जाता है और उनकी वास्तविक स्थिति का पता चल जाता है। इस प्रकार अर्थ परिवर्तन की पद्धति से शब्द के इतिहास की जानकारी मिलती है।

(२) अर्थ विस्तार

जब सामान्य शब्द विशेष अर्थ में और विशिष्ट शब्द सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब अर्थ विस्तार हो जाता है। अर्थ के विस्तार के कारण अर्थ अपने शाब्दिक अर्थ से अधिक बढ़ जाता है। "भर्तृहरि" ने बहुत विस्तार के साथ इसका विचार किया है। उनका कथन है कि विशेष की अविवक्षा और सामान्य की विवक्षा से प्रायः अर्थ विस्तार हो जाता है। जैसे—तेल 'शब्द' तिल के द्रवित सार को कहते थे, परन्तु अब—सरसों, मूंगफली, अलसी सोयाबीन यहां तक कि पामलेट को भी तेल कहने लगे। इसी प्रकार चाह अर्थ में चाय (४६८) जुआरी (४५५) चारि (४४६) स्याल (४३२) लगन (४२६) गार (४१७) परत (४०४) भाटा (३८३) इत्यादि शब्दों के प्रयोग होने लगे। इस प्रकार मनुष्य जब काम करके बहुत थक जाता है, तब कहता है—आज तो मेरा तेल ही निकल गया।

(३) अर्थ संकोच

'ब्रील' महोदय का कहना है कि जो राष्ट्र या जाति जितनी अधिक विकसित होगी, उसमें अर्थ-संकोच उतना ही अधिक होगा। यदि इस प्रकार से अर्थ का संकोच न हो तो सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हो जायेंगे। अर्थ के संकोच में सांस्कृतिक परिवर्तन विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है

(४) अर्थादेश

एक अर्थ के स्थान पर दूसरा अर्थ हो जाना ही अर्थादेश है। कभी-कभी, ज्ञात-अज्ञात, रूप से विचारों के सम्पर्क के कारण गौण अर्थ से सम्बन्ध हो जाता है और वह अर्थ ही मुख्यार्थ बन जाता है। इस प्रकार एक अर्थ के स्थान पर दूसरा अर्थ हो जाता है। जैसे—गंवार शब्द का मूल अर्थ ग्रामीण है, किन्तु आम जनता मूर्ख मनुष्य को गंवार कहती है। इसी प्रकार 'बुद्धू' शब्द का अर्थ बुद्धिमान है, किन्तु लोक में बुद्धि-हीन व्यक्ति को 'बुद्ध' कहा जाता है। इस प्रकार अर्थादेश में अर्थ अपने मूल से भिन्न हो जाता है। उपसर्ग के विविध प्रयोगों से भी अर्थ में परिवर्तन लक्षित होने लगता है। जैसे कि संस्कृत की 'ह' धातु से हर और हार शब्द निष्पन्न होते हैं। 'हार' के पहले 'प्र' उपसर्ग जोड़ देने से 'प्रहार' 'वि' जोड़ देने से 'विहार' 'आ' जोड़ देने से आहार 'सं' जोड़ देने से संहार, 'नी' जोड़ देने से नीहार' आदि विभिन्न अर्थ के वाचक शब्द बनते हैं।

इसी प्रकार विश्लेषण, लोक प्रसिद्धि, प्रत्ययों के प्रयोग से भी अर्थ परिवर्तन हो जाता है। चूंकि अर्थ-परिवर्तन की दिशा कभी अच्छे और कभी बुरे अर्थ की ओर प्रवाहित होती रहती है। अतः इन्हें अलग से अर्थ-परिवर्तन की दिशाएं मानना उचित नहीं है।

प्रत्यय

ऐसे अधिकारी शब्द या शब्दांश जो धातु या मूल शब्द के पश्चात् जुटकर उनका अर्थ परिवर्तन कर देते हैं, प्रत्य कहलाती हैं। जैसे मिठाई शब्द में वाला प्रत्यय जोड़ देने से 'मिठाई वाला' बन जाता है। इस प्रकार मिठाई और मिठाई वाला शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार पढ़ना से पढ़ाई शब्द में भी अर्थ बदल जाता है। प्रत्ययों का स्वतंत्र अर्थ और प्रयोग नहीं होता। केवल मूल शब्द से जुड़कर ही वे भिन्न अर्थ के प्रतिपादक होते हैं। प्रत्यय सभी प्रकार के शब्दों के साथ संयुक्त हो जाते हैं।

प्रत्ययों से निर्मित शब्दों के दो भेद होते हैं—कृदन्त और तद्धित। धातुओं के पीछे जो शब्द लगाये जाते हैं वे कृदन्त कहलाते हैं। जैसे—लिखना से लिखाई तथा धातुओं के अतिरिक्त संज्ञा, सर्वनाम, विश्लेषण शब्दों में जो प्रत्यय लगाये जाते हैं तथा उनके लगाने से जो शब्द बनते हैं उन्हें तद्धित कहते हैं। जैसे दशरथ से दाशरथि, प्यार से प्यारा इत्यादि।

हिन्दी प्रत्यय (कृदन्त)

अ—यह प्रत्यय अकारान्त धातुओं से जोड़ा जाता है, जिससे भाव-वाचक संज्ञाएं बनती हैं। जैसे लूटना से 'लूट' उछलना से 'उछलकूद' इत्यादि।

आ—इस प्रत्यय के योग से भाववाचक संज्ञाएं बनती हैं जैसे घेरना से घेरा इत्यादि। इसी प्रकार आई, आऊ, आव, आप, आव आवह, आवना, आवा, आस, आहट, इयल, ई, इया, ऊ, एरा, ऐया आदि अनेक प्रत्यय हैं, जिनके संयोग से अनेक शब्दों में अर्थ-परिवर्तन होता है।

हिन्दी प्रत्यय (तद्धित)

(१) भाववाचक (२) गुणवाचक (३) अपत्य वाचक (४) कर्तृवाचक (५) न्यूनवाचक इत्यादि अनेक प्रकार के तद्धित हैं, जिनके उदाहरण क्रमशः निम्न प्रकार हैं :—

(१) बुढ़ापा (२) रंगीला (३) वासुदेव (४) दूधवाला (५) खटिया

जिन शब्दों या शब्दांशों का धातु के पूर्व प्रयोग होता है, उन्हें उपसर्ग कहते हैं। तथा जिन शब्द या शब्दांशों का प्रयोग धातु के अंत में होता है, वे प्रत्यय कहे जाते हैं। संस्कृत और हिन्दी में शब्द के साथ-प्रत्यय का संयोग प्रायः अंत में होता है। प्रकृति और प्रत्यय के योग से ही शब्द का निर्माण होता है।

६ उपसर्ग

ऐसे अविकारी शब्द या शब्दांश जो मूलशब्द के आदि या पूर्व में जुड़कर उनका अर्थ परिवर्तन कर देते हैं, उपसर्ग कहलाते हैं। जैसे कर्म शब्द के आगे सु जोड़ देने से 'सुकर्म' शब्द उपसर्ग से बना है जो, 'कर्म' शब्द का अर्थ बदल देता है।

७. समास

भाषा रचना में शब्द तथा शब्दांशों का योग किसी न किसी रूप में देखने को मिलता है। दो या दो से अधिक शब्दों के योग को समास कहा जाता है। जिस प्रकार शब्द एक इकाई है, उसी प्रकार एक इकाई के रूप में जब समस्त पद का प्रयोग किया जाता है, तब वह समास कहलाता है। समास एक प्रकार से शब्दों का संक्षेपीकरण करने हेतु प्रयुक्त होता है। समास का अर्थ ही संक्षेप है। हिन्दी की समास रचना पूर्णतः संस्कृत का अनुसरण नहीं करती। यही कारण है कि हिन्दी में न तो लम्बे समास मिलते हैं और न बन सकते हैं।

८–९ पूर्वसर्ग-परसर्ग

हिन्दी में संज्ञा शब्दों के रूप मिलते हैं जो संघटना के अनुसार निश्चित होते हैं। परसर्ग के पूर्व । लड़के । तथा अन्य लगभग सभी स्थानों पर । लड़का । प्रयुक्त होता है। कुछ परसर्ग सीधे संज्ञा शब्दों के पश्चात् प्रयुक्त होते हैं। अधिकतर परसर्गों की स्थिति कारक की है। जहां पर वे भिन्न स्थिति में लक्षित होते हैं वहां वे व्याकरणात्मक शब्द हैं।

१०. ध्वनि-अर्थ

पहले कहा जा चुका है कि ध्वनियां सार्थक होती हैं। समाज में भाषा का महत्त्व केवल अर्थ के कारण है। ध्वनियों के माध्यम से ही प्राणीमात्र भाव-प्रेषण करता है। ध्वनियों का सीधा सम्बन्ध अर्थतत्व से है। यदि वक्ता भाषा के ध्वनि संयोगों के रूप और अर्थ सादृश्य पर अवलंबित न रहे तो एक क्षण से दूसरे क्षण में भाव-प्रेषण असंभव हो जायगा।[1]

इसलिये भाषा—जगत् में केवल श्रोत्र-ग्राह्य ध्वनियों का ही विचार किया जाता है, जो भाषण ध्वनियों के अनुक्रम में अर्थ से सम्बद्ध होती हैं। ध्वनि और अर्थ सदा संश्लिष्ट रूप में रहते हैं, इसलिये भाषा में परिवर्तन इन्हीं दो रूपों में होता है।[2]

---

१. राबर्ट ए० हाल० :—इंट्रोडक्टरी लिंग्विस्टिक्स, पृ० २२८।
२. डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री : भाषा शास्त्र तथा हिन्दी भाषा की रूपरेखा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ० १६७।

शब्द में अर्थ कहीं से आता नहीं है, बल्कि उसमें से ही उद्भावित होता है। यथार्थ में शब्द की सत्ता अर्थ बोध में निहित है। 'गुलाब' शब्द कहने से केवल गुलाब के फूल का ही नहीं वरन् गुलाबी रंग का भी बोध होता है। यह अर्थ बोध स्वयं शब्द में निहित है। वाक् और अर्थ दोनों ही संप्रक्त है—एक दूसरे से अभिन्न। संस्कृत विद्वान पाणिनि ने लिखा है—"सर्वेशब्दाः स्वेन भावेन भवंति, सः तेषामर्थः अर्थात् सभी शब्द अपने भाव में रहते हैं जो उनका अर्थ कहा जाता है। शब्द से, शब्द और अर्थ दोनों की प्रतीति होती है, परन्तु अर्थ पहले से ही सृष्टि में विद्यमान है। इसलिये शब्द अर्थ का उत्पादन न होकर ज्ञायक या प्रतीति कराने वाला है।

संक्षेप में—शब्द से अर्थ भिन्न नहीं है। जिस प्रकार शिव से शक्ति भिन्न नहीं है हमें अर्थ का पता शब्द से ही चलता है। शब्द से ही अर्थ समझ में आता है।[1]

११. मुहावरे और लोकोक्तियां

रचना को अधिक सजीव एवं प्राणवान् बनाने के लिये भाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग किया जाता है। साधारण वाक्यों की अपेक्षा मुहावरेदार वाक्यावली वाचकों को अत्यधिक प्रभावित करती है। कभी-कभी तो एक ही लोकोक्ति हमें लम्बी-चौड़ी व्याख्या के श्रम से बचा लेती है। अतः इस कथन में किसी भी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं है कि लोकोक्तियों और मुहावरों में भाव को श्रोताओं के हृदय तल तक पहुंचाकर उन्हें गुदगुदा देने तथा प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता होती है। अतः भाषा में अभिव्यंजना-कौशल, प्रगट करने के लिये अधिक से अधिक लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

मुहावरा तथा लोकोक्ति में अन्तर :—मुहावरा तथा लोकोक्ति दोनों में पर्याप्त अन्तर है। मुहावरा एक ऐसा वाक्यांश है, जिसके शब्दों का साधारण अर्थ (वाच्यार्थ) न लगाकर एक विशेष अर्थ (लक्ष्यार्थ) लगाया जाता है। जैसे—वह तो आस्तीन का सांप है'। यहां, 'आस्तीन का सांप' आस्तीन में सांप पालना नहीं है; किन्तु इस वाक्यांश का अर्थ है—एक ऐसा आदमी जो ऊपर से मित्र तथा भीतर से शत्रु हो। इस कथन में कितनी अधिक लाक्षणिकता है। यह लाक्षणिकता सीधे-सादे शब्दों से पैदा नहीं होती। यदि कथन में चमत्कार लाता है तो मुहावरों का प्रयोग अपेक्षित है, जो भाषा को सजीव बना देते हैं।

---

१. गिरा अरथ जल धोबि सम कहियत भिन्न न भिन्न। रामचरित मानस बालकांड, १८।
वागर्थाविव संपृक्तो, वागर्थं प्रतिपत्त्ये। जगत् कि तिरो वन्दे, पार्वती परमेश्वरौ। रघुवंश, १, १।
तुलसीदास रामचरित मानस, बालकांड, १८।

लोकोक्ति या कहावत एक पूरा वाक्य होता है और अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। इसका प्रयोग किसी कथन की पूर्ति में उदाहरण स्वरूप किया जाता है। जैसे बनावटी परहेज के लिये कहा जाय कि 'गुड़ खाए गुलगुलों से परहेज' तो इस कथन में अधिक-चमत्कार आ जाता है।

४. अलंकार योजना

अलंकार शब्द का अर्थ है शोभा बढ़ाने वाला। इसकी व्युत्पत्ति 'अलंकरोति इति अलंकारः' है, जो वस्तु को अलं अर्थात् पर्याप्त सुन्दर बना दे, वह अलंकार है। जिस प्रकार भांति-भांति के अलंकार (आभूषण) पहनने से नारी-शरीर की शोभा बहुत बढ़ जाती है, उसी प्रकार कविता में प्रयुक्त होने वाले विशेष शब्द या उक्तियां उसके भाव को अत्यन्त आकर्षक बना देते हैं। आचार्यों ने काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहा है—'काव्य शोभा करान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' हिन्दी के प्रसिद्ध कवि आचार्य केशवदास को तो भूषण के बिना कविता वनिता (नारी) दोनों ही अच्छी नहीं लगती थी, चाहे वे कितनी ही उच्च क्यों न हों। परन्तु,

"जैन कवियों की कविताओं से प्रमाणित है कि उनमें अलंकारों का प्रयोग तो हुआ है, किन्तु उनको प्रमुखता कभी नहीं दी गई। वे सदैव मूलभाव की अभिव्यक्ति में सहायक भर प्रमाणित हुए हैं। जैन कवियों का अनुप्रासों पर एकाधिकार था[1]।"

हिन्दी के जैन काव्यों में अनेक अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है। उनमें भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और श्लेष में सौंदर्य अधिक है। हिन्दी के जैन कवियों की रचनाओं में रूपक अलंकारों के सुन्दर प्रयोग हुए हैं। उन्होंने उपमेय में उपमान का आरोप कुशलता से किया है। देखिये—

'मन सुआ है, और भगवान जिनेन्द्र के पद पिंजड़ा। इस मन रूपी सुए ने संसार के अनेक वृक्षों के कड़वे फलों को तोड़-तोड़ कर चखा है किन्तु उनसे कुछ नहीं हुआ, फिर भी वह निश्चिन्त है। भगवान के चरण रूपी पिंजरे में नहीं बसता। काल रूपी बन—बिलाव उसको ताक रहा है। वह अवसर पाते ही दाव लेगा फिर कोई न बचा सकेगा[2]।'

---

१. जैन डॉ० प्रेम सागर : हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, प्रथम संस्करण १९६४, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन।

२. मेरे मन सुआ, जिनवर पींजरे बस, यार लाव न बार रे॥
संसार में बलवृक्ष सेवत, गयो काल अपार रे॥
विषयफल तिस तोड़ि बाखे, कहा देखो सार रे॥
डॉ० प्रेमसागर जैन : हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, प्रथम संस्करण १९६४, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन।

काव्य में अलंकार योजना का भी विशेष स्थान है। भावों की स्फुट अभिव्यक्ति और वस्तु के उत्कर्ष एवं प्रांतीय मानचित्र या बिम्ब को अभिव्यंजित करने के लिये अलंकार योजना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी प्रतीत होती है। यदि कल्पना भावों को जगाती है तो अलंकार उसे रूप प्रदान करता है। इसलिये प्राचीन आचार्यों ने काव्य में अलंकार विधान की अनिवार्यता का निर्देश किया है।

वास्तव में सीधी सादी बात में आकर्षण कम दिखाई पड़ता है। अलंकार योजना से उसका चमत्कार बढ़ जाता है। इसीलिए काव्य में उसका महत्व है। अलंकारों को सीमा में नहीं बांधा जा सकता है। बात कहने के जितने ढंग होते हैं उतने ही अलंकार हो सकते हैं। अलंकारों में उपमा सबसे प्रधान अलंकार है और कदाचित् अलंकारों के विकास के मूल में यही अलंकार रहा होगा। भारतीय साहित्य में ऐसा कोई काव्य न होगा जिसमें उपमा अलंकार का प्रयोग न हुआ हो।

अलंकार—विधान में कविवर बुधजन का पांडित्य स्पष्ट दृष्टि गोचर होता है। अलंकारों से तथा छन्दों की विविधता से समूचा काव्य भरा पड़ा है। उन्होंने तीनों ही प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है।

शब्दालंकारों में कविवर बुधजन ने छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, वीप्सा, लाटानुप्रास आदि का एवं अर्थालंकारों में उपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, रूपक, यथासंख्य, उल्लेख, तुल्योगिता आदि का एवं उभयालंकार में संसृष्टि का प्रयोग दृष्टिगत होता है।

इनके अतिरिक्त भी उनकी रचनाओं में अन्य अनेकों अलंकारों के सुन्दर प्रयोग पाये जाते हैं। इतने अधिक अलंकारों का प्रयोग होने पर भी उनके काव्य में रसात्मकता की कमी नहीं। कवि की यह आश्चर्य-जनक सफलता उनकी प्रौढ़ एवं असाधारण कला-कुशलता की परिचायक है। 'बुधजन', काव्य के स्वाभाविक स्वरूप के विकसित करने में विश्वास करते थे। काव्य को बाह्य उपकरणों द्वारा चमत्कृत करना कदाचित् वे अनावश्यक समझते थे।

'बुधजन', के काव्य में अलंकारों के प्रयोग देखिये :—

शब्दालंकार—

गिरिगिरि प्रति मानिक नहीं घन वन चंदन नाहिं[1] ।। वीप्सा

सुधरसभा में यों लसै, जैसे राजत भूप[2] ।। छेकानुप्रास

धनसम कुलसम धरमसम समवय मीत बनाय[3] ।। लाटानुप्रास

---

१. बुधजन सतसई : पृष्ठ २८। २६४।
२. बुधजन सतसई : पृष्ठ ३१। २८६।
३. बुधजन सतसई : पृष्ठ ४७। ४४२।

दुराचारितिय कलहिनी, किंकर क्रूर कठोर[1] ॥ वृत्यनुप्रास

अर्थालंकार

बकवत हित उद्यम करें, जे हैं चतुर विसेखि[2] ॥ उपमा
सत्यदीप बाती क्षमा, सील तेल संजोय[3] ॥ रूपक
भलाकिये करि है बुरा, दुर्जन सहज सुभाय ।
पय पाये विष देत है, फणी महा दुखदाय[4] ॥ दृष्टान्त
जैसी संगति कीजिये, तैसा हूँ परिनाम ।
तीर गहें ताकें तुरत, माला तें ले नाम[5] ॥ अर्थान्तरन्यास

उभयालंकार

नीतिवान नीति न तजे, सहैं भूख तिसत्रास ।
ज्यों हंसा मुक्ता बिना, वनसर करें निवास[6] ।

(लाटानुप्रास, छेकानुप्रास, दृष्टान्त की संसृष्टि)

५. छन्द-योजना

वि० संवत् १९०० से १२०० तक के हिन्दी-जैन कवियों ने वर्णिक एवम् मात्रिक दोनों ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है । अनूदित ग्रन्थों में वर्णिक का और मौलिक ग्रन्थों में मात्रिक छन्दों का प्रयोग है । दोहा, सवैया, चौपाई, कवित्त इन मात्रिक छन्दों का विशेष प्रयोग हुआ है । घनाक्षरी आदि का भी प्रयोग हुआ है ।

'बुधजन विलास' में कवि ने सर्वाधिक छन्दों का प्रयोग किया है, जिनका उल्लेख द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है ।

विधान, छन्द, शैली

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'बुधजन सतसई' में कवि ने मुक्तक दोहों का प्रयोग किया है । छन्दशास्त्र की दृष्टि से ये दोहे प्रायः निर्दोष हैं । सामान्यतः तथ्य-निरूपक शैली का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है । उपदेशात्मक तथा शब्दावर्तक शैलियां दिखाई तो देती हैं, परन्तु बहुत कम हैं[7] ॥

---

१. बुधजन सतसई : पृष्ठ ३४ । ३१६ ।
२. बुधजन सतसई : पृष्ठ २७ । २५१ ।
३. बुधजन सतसई : पृष्ठ २२ । २०० ।
४. बुधजन सतसई : पृष्ठ १२ । १०४ ।
५. बुधजन सतसई : पृष्ठ ३४ । ३१६ ।
६. बुधजन सतसई : पृष्ठ ३५ । ३२० ।
७. जैन डॉ० प्रेमसागर : हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृष्ठ ४३५, प्रथम संस्करण, १९६४, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन ।

जिस प्रकार संस्कृत में श्लोक को, प्राकृत भाषा में गाथा को, अपभ्रंश भाषा में दूहा को मुख्य छन्द माना गया है। उसी प्रकार हिन्दी में 'दोहा' छन्द को प्रमुखता दी गई है। जैन कवियों ने दोहा छन्द का प्रयोग अपनी आध्यात्मिक रचनाओं में किया है। १६वीं शताब्दी के पाण्डे रूपचन्द आदि ने, १७वीं शताब्दी के पाण्डे हेमराज आदि ने, १८ वीं शताब्दी के भगवतीदास आदि ने, १९वीं शताब्दी के बुधजन आदि कवियों ने इस छन्द का प्रयोग अपनी आध्यात्मिक एवं नीति—परक रचनाओं में किया है। आपने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'बुधजन सतसई' में इस छन्द का इतना सफल प्रयोग किया है कि उस काल का अन्य कोई कवि अपनी सफलता से उसका प्रयोग नहीं कर सका। उन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ ही दोहा छन्द में लिखा है। 'बुधजन सतसई' के अतिरिक्त अपनी अन्य रचनाओं में कवि ने चौपाई कवित्त, सवैया, दोहा, छप्पय, घनाक्षरी, फागु पद आदि अनेकों छन्दों का सफल प्रयोग किया है। रचनाओं की भाषा सरल और प्रवाह पूर्ण है। अनेक नये-नये छन्द, नयी-नयी राग-रागिनियों में प्रयुक्त किये गये हैं। इस दिशा में कवि की मौलिकता प्रशंसनीय है।

चतुर्थ खण्ड

तुलनात्मक अध्ययन

(१) हिन्दी साहित्य के विकास में कविवर बुधजन का योग

अपभ्रंश तथा लोक साहित्य की विभिन्न विधाओं से सामान्यतः हिन्दी साहित्य प्रभावित हुआ। जैन कवि ब्रज और राजस्थानी में प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्यों की रचना करने में संलग्न रहे। इतना ही नहीं वे मानव जीवन की विभिन्न समस्याओं का समाधान करते हुए काव्य रचना में प्रवृत्त रहे। जन-सामान्य के लिये यह साहित्य पूर्णतया उपयोगी है। इसमें सुन्दर आत्म-पीयूष-रस छल छलाता है और मानव की उन भावनाओं तथा अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है– जो समाज के लिये संबल हैं और जिनके आधार पर ही समाज का संघटन, संशोधन तथा संस्करण होता है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल का यदि पुनः सर्वेक्षण हो तो वह जैन कवियों की रचनाओं के आधार पर ही किया जा सकता है। क्योंकि जैन कवियों ने गौतम-रासा, सप्तक्षेत्र रासा, यशोधर रासा, धनपाल रासा, सम्यक्त्व रासा, नेमीश्वर रासा आदि अनेक रासा ग्रंथ उस काल में लिखे थे। भारतीय साहित्य के मध्यकाल पर यदि विचार करें, तो यह काल भी काव्य सृजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस युग में भी जैन कवियों ने जो भी लिखा, वह मात्र 'कला के लिये कला' का आयोजन नहीं था वरन् उसमें तात्कालिक जन-जीवन भी स्पंदित था।

इन कवियों ने कवि दृष्टि के साथ संस्कृति, नीति और धर्म को भी अपने काव्य की प्रमुख भूमि बनाया और साहित्य की रचना की जिसने जनजीवन को ऊंचा उठाया और श्रमण संस्कृति की निर्मलताओं को उजागर किया। लोक जीवन के जिस चारित्रिक धरातल पर जैन कवियों ने साहित्यिक रचनाएं कीं, उनसे न केवल जैन समाज उपकृत हुआ वरन् सम्पूर्ण भारतीय समाज उपकृत हुआ। इन कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा हमारे जीवन को उन्नत बनाया। मानव को पशुता से मनुष्यता की ओर ले जाना ही जैन कवियों का लक्ष्य रहा है। जैन कवियों ने साहित्य को कलाबाजी कभी नहीं माना। उनका साहित्य गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से महान है। संस्कृत, प्राकृत, बंगला, तमिल, गुजराती, मराठी,

राजस्थानी, ब्रजभाषा प्रभृति भारत की समस्त प्रादेशिक भाषाओं में जैनाचार्य और जैन कवियों ने साहित्य का सृजन किया। सम्पूर्ण जैन साहित्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। जितने ग्रंथ प्रकाश में आये हैं, उनसे कहीं अधिक संख्या में जैन भाण्डागारों में अद्यावधि अप्रकाशित दशा में हैं।

हिन्दी जैन साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'दि० जैन साहित्य में हिन्दी ग्रन्थों की संख्या भी बहुत अधिक है। विगत तीन सौ वर्षों में अधिकांश ग्रन्थ हिन्दी में ही रचे गये हैं। जैन-श्रावक के लिये स्वाध्याय करना आवश्यक है। अतः जन साधारण की भाषा में जिनवाणी को निबद्ध करने की चेष्टा प्रारम्भ से ही होती आई है। इसी से हिन्दी जैन साहित्य में गद्य-ग्रन्थ बहुतायत से पाये जाते हैं। लगभग सोलहवीं शताब्दी से लेकर हिन्दी गद्य-ग्रन्थ जैन साहित्य में उपलब्ध हैं और इसीलिए हिन्दी भाषा के क्रमिक विकास का अध्ययन करने वालों के लिये वे बड़े काम के हैं।[1]

आलोच्य काल में संस्कृत, और अपभ्रंश भाषा के ग्रंथों का हिन्दी गद्य में अनुवाद हुआ। अनुवाद का यह कार्य सर्व प्रथम जयपुर के विद्वानों ने ढूंढारी भाषा में प्रारम्भ किया था। आज भी उनके अनुवाद उसी रूप में पाये जाते हैं। जैन कवियों ने केवल अनुवाद ही नहीं किये, किन्तु स्वतन्त्र रूप से भी हिन्दी और पद्य दोनों में रचनाएं कीं। गद्य साहित्य में पंडित प्रवरमल का 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' पं० दौलतराम की पद्मपुराण की वचनिका आदि प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। पद्य-साहित्य में पं० दौलतराम छहढाला, कविवर बुधजन की छहढाला व बुधजन सतसई, आदि जैन साहित्य की अमूल्य-निधि है। इनके अतिरिक्त पं० सदासुख, द्यानतराय, भैया भगवतीदास, पं० जयचन्द छाबड़ा, भूधरदास आदि विद्वानों ने अपने समय की भाषा में गद्य एवं पद्य अथवा दोनों में पर्याप्त रचनाएं कीं।

'बुधजन साहित्य में यों तो सभी रस यथास्थान अभिव्यंजित हुए हैं, पर मुख्यता शान्त-रस की है। कवि की मूल भावना अध्यात्म-प्रधान है। वह संसार से विरक्ति और मुक्ति से अनुरक्ति की प्रेरणा देती है। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है। यही कारण है कि प्रत्येक काव्य का अन्त शान्त रसात्मक ही है। शृंगार रस सर्वथा नहीं है, ऐसी बात नहीं है'।[2]

---

१. पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री : जैन धर्म, पृ० सं० २५६, चतुर्थ संस्करण, १९६६, भा० दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा।

२. डॉ० नरेन्द्र भानावत : 'जिनवाणी' पत्रिका, वर्ष ३२, अंक ४-७, जयपुर।

गीतिकाव्य के क्षेत्र में भी बुधजन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके सम्पूर्ण पद गेय हैं, जिनमें हृदय का मार्मिक स्पंदन माधुर्य से अनुप्राणित है। उन्होंने भाषा को अपने प्रकृत रूप में ही प्रभावशाली बनाया। उनके साहित्य में आडंबरों के लिये आग्रह नहीं है। उनके साहित्य में मौलिक चेतना तरंगित होती है। गम्भीर-चिंतन, समुन्नत हार्दिक प्रसार, कवि की रचनाओं में उपलब्ध है।

वैसे तो हिन्दी साहित्य का निर्माण वि० सं० ६६० से प्रारम्भ हुआ। एक जैन कवि ने इसका प्रारम्भ किया था। वह सतत चलता रहा। जैन कवि लिखते रहे। उन्होंने जो कुछ लिखा उनमें थोड़ा या बहुत भक्ति का अंश अवश्य था। अतः मध्यकाल में वि० स० १००० से १६०० तक हिन्दी साहित्य में भी जैन भक्ति धारा चलती रही[1]। इस काल में बनारसीदास, भूधरदास, आनन्दघन, दौलतराम आदि के समान बुधजन ने भी भक्ति-रस-पूर्ण रचनाएं की हैं जो जैन जगत में अत्यधिक लोकप्रिय हैं। इस प्रकार की रचनाओं में "बुधजन" का एकमात्र लक्ष्य रहा है कि मनुष्य केवल लौकिक विषय-वासनाओं में आसक्त न रहे। किन्तु अपनी पहिचानकर, अपनी उन्नति का प्रयत्न करे। उन्होंने जितनी भी रचनाएं की हैं उनके पीछे उनका कोई स्वार्थ नहीं रहा। वे साधारण गृहस्थ थे उन्होंने जो कुछ लिखा स्वान्तः सुखाय ही लिखा। रीतिकाल के कवि होते हुए भी उन्होंने नायिकाओं के नख शिख का वर्णन रंचमात्र भी नहीं किया। यह उनकी बहुत बड़ी विशेषता कही जा सकती है।

'मध्ययुग के साहित्यिक कवियों ने हिन्दी भाषा में जिस भावधारा का ऐश्वर्य विस्तार किया है उसमें असाधारण विशेषता पाई जाती है। यह विशेषता यह है कि उनकी रचनाओं में उच्च कोटि के साधक एवं कवियों का एकत्र सम्मिश्रण हुआ है। इस प्रकार का सम्मिलन दुर्लभ है।'[2]

जीवन-व्यापिनी साधना तथा साहित्य-साधना को हम भिन्न-भिन्न रूपों में लक्षित नहीं कर सकते हैं। क्योंकि मध्य-युगीन हिन्दी कवियों में अधिकतर ऐसे ही सन्त कवि हुए हैं, जिनकी वैयक्तिक साधना ने ही उनके साहित्यिक जीवन का निर्माण किया और साधना की जीवन्त-धारा ही साहित्य-बनकर स्फुटित हुई। अध्यात्म की एक ओर पूर्ण झुकाव होने के कारण बुधजन भी सन्त कवि के समान थे। वे एक सन्त-साधक थे और उनकी साधना ही उनके साहित्य की पीयूष धारा है।

'इस प्रकार मध्ययुगीन साहित्य में स्वतः उद्भूत, बहुमुखी, साहित्यिक भावधाराएं प्रसारित हुई। जिनमें तात्कालिक जन-जीवन अत्यधिक प्रभावित हुआ। सांसारिक नश्वर सुख-दुख की परिधि से उसका हृदय ऊपर उठा, उसने बड़े शान्त-

---

१. अनेकान्त वर्ष १६ : किरण ६, फरवरी १६६७, पृ० सं० ३४६।
२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी: हिन्दी साहित्य, पृ० ८७।

भाव से परिस्थितियों से समन्वय किया तथा भक्तिपरक जीवन की ओर अग्रसर हुआ।[1]

कविवर बुधजन जयपुर के निवासी थे। अतः उनकी समस्त रचनाओं में ढूंढारी भाषा का प्राधान्य है। कवि की १४ रचनाएं अभी तक उपलब्ध हो सकी हैं। उनकी सभी रचनाएं भाव और भाषा की दृष्टि से उपादेय हैं। कवि बाह्य संसार से अनासक्त प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है साहित्य रचना करते समय कवि ने अन्तर्मन से अधिक प्रेरणा प्राप्त की है। चर्म-चक्षुओं की अपेक्षा कवि के मानस-चक्षु अधिक उद्बुद्ध प्रतीत होते हैं। आत्मानुभूति का परिचय ही विशेष रूप से दिखाई देता है। ऐसा लगता है कि कवि ने आत्म-शान्ति की प्राप्ति के लिये ही रचनाएं की हैं। कवि हिन्दी साहित्य में अध्यात्म स्रष्टा के रूप में प्रकट हुआ है। जहां हम अन्यान्य प्रकार की रचनाओं को महत्व देते हैं, वहां हमें इन अध्यात्म स्रष्टा कलाकारों की रचनाओं को भी महत्व प्रदान करना होगा।

हमें यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि बुधजन जैसे जैन कवियों के साहित्य के अध्ययन और स्वाध्याय से कुछ समय के लिये सांसारिक विषमताओं को भुलाया जा सकता है। पाठक के समक्ष आदर्श का ऐसा मनोरम चित्र उपस्थित होता है जिससे वह अपनी कुत्सित वृत्तियों से जीवन को परिष्कृत करने के लिये दृढ़ संकल्प कर लेता है। जीवन को परिष्कृत करने की जितनी क्षमता जैन साहित्य में है, उतनी लोकग्राही शक्ति भी विद्यमान है। साहित्य मानव मात्र की सौंदर्य पिपासा, चारित्रिक उत्थान एवं जीवन-निर्माण के करने में उपादेय है। जैन साहित्य स्रष्टाओं ने अखंड चैतन्य आनन्द रूप आत्मा का अपने अन्तस् में साक्षात्कार किया और साहित्य में उसी की अनुभूति को मूर्तरूप प्रदान कर सौंदर्य के शास्वत प्रकाश की रेखाओं द्वारा वाणी का चित्र अंकित किया है। जिस जैन समाज पर ऐसे कवियों के साहित्य को प्रकाश में लाने का उत्तर-दायित्व है। वे इस ओर सचेष्ट प्रतीत नहीं होते। इससे भी अधिक परिताप का विषय यह है कि हिन्दी साहित्य के विकास में जिनका पर्याप्त योगदान रहा है। ऐसे कविवर बनारसीदास, द्यानतराय, दौलतराम, भूधरदास, भागचन्द, बुधजन आदि के विषय में हिन्दी के साहित्यकार भी मौन हैं। इनमें से अधिकतर कवियों का हिन्दी साहित्य के इतिहास में नामोल्लेख तक नहीं है। बुधजन भी एक ऐसे कवि हैं, जिनका हिन्दी साहित्य के इतिहास में उल्लेख नहीं है। किन्तु इनकी "सतसई" एक अमर रचना है जो हिन्दी की दीर्घ परंपराओं को सहेजे हुए हैं। उसमें लोक की रीति-नीतियों का जो वर्णन किया गया है, वह अनुपम है। उसी को लक्ष्यकर संभवतः कहा गया है कि 'जैन साहित्य की विशेषता

---

१. सुखदेव मिश्र : हिन्दी साहित्य का प्रभाव, पृ० १६३-६४।

यह है कि विवेक उसका पथ-प्रदर्शन करता है और उसके भावों को अनुप्राणित करने वाली विश्वप्रेम पूरक अहिंसा है।[1] इनके ही समकालीन जैन कवियों में पं. दौलतराम, चैनसुखदास, पारसदास, जवाहरलाल, जयचन्द, महाचन्द के नाम तो उल्लेखनीय हैं ही। इनके अतिरिक्त कवि नथमल बिलाला, नयनसुखदास, रूपचंद पांडेय, जगजीवन, धर्मदास, कुंवरपाल, सालिवाहन, नंदकवि, हीरानंद, बुधकीर्तिदास और अगरराम आदि भी हैं। इन कवियों की संख्या डेढ़ सौ के लगभग कही जाती है। उन सबका उल्लेख करना यहां उचित नहीं।

(२) बुधजन साहित्य में प्रतिपादित आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तत्व

वस्तुतः जैनधर्म निवृत्ति-मूलक प्रवृत्ति मार्ग है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें प्रवृत्ति के लिये यत्किंचित् भी स्थान नहीं। वस्तुतः प्रवृत्ति कथंचित् निवृत्ति की पूरक है। अशुभ और शुभ से निवृत्ति होकर जीव की शुद्ध आत्म-स्वरूप में प्रवृत्ति हो, यह इसका अंतिम लक्ष्य है। इसका अपना दर्शन है जो आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करता है। आचार्य कुंदकुंद समयसार में पर से भिन्न आत्मा की पृथक् सत्ता का मनोरम चित्र उपस्थित करते हुए कहते हैं कि—

अहो आत्मन्! ज्ञानदर्शन स्वरूप तू अपने आपको स्वतंत्र और एकाकी अनुभव कर। विश्व में तेरे दायें-बायें, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे पुद्गल की जो अनंत राशि दिखलाई देती है, उसमें अणुमात्र भी तेरा नहीं है। वह सब जड़ है और तू चेतन है वह सब अविनाशी पद का धारी है। उसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर तूने खोया ही है, कुछ पाया नहीं। संसार खोने का मार्ग है। प्राप्त करने का मार्ग इससे भिन्न है, वह अध्यात्म का मार्ग है।

कविवर बुधजन ने अपने साहित्य में प्रतिपादित किया है कि जैन धर्म ने प्रत्येक आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करके व्यक्ति स्वातंत्र्य के आधार पर उसके बंधन से मुक्त होने का निर्देश किया है। उसने प्रत्येक आत्मा को स्वावलंबी बनने का उपाय बताया है। स्वावलंबी सुखी है और परावलंबी दुःखी है। स्वावलंबी बनने के लिये अपने शुद्ध स्वरूप को समझने की आवश्यकता है। आत्म-शक्तियों का परिचयज्ञान ही मनुष्य को स्वावलंबी बनाता है। अनादि काल से यह जीव पर का अवलंबन लेता रहा है। एक बार, स्वावलंबन की झलक भी इसने नहीं देखी। हां! यदि प्रयत्न करे, आत्म-शक्तियों को पहिचान ले तो स्वावलंबी हो सकता है। जब तक यह जीव भौतिकवाद में भटकता रहेगा तब तक उसे सुख-शान्ति और संतोष की प्राप्ति नहीं हो सकती। कवि बुधजन, ग्रन्थों में यही प्रतिपादित करते हैं, कि भोगवादी

---

१. बाबू कामता प्रसाद : हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, प्रथम संस्करण, १९७७ पृ०सं० १७, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

दृष्टिकोण संपन्न मानव तभी आकुलित रहता है और जब तक आकुलता है तब तक दुःख है। स्वावलंबी व्यक्ति केवल आत्म-गुणों का अवलंबन करता है। स्व का अवलंबन करना यानी आत्मगुणों का अवलंबन करना और इनसे भिन्न राग द्वेषादि, शरीरादि, धनादि का अवलंबन छोड़ना, यही सुखी होने की अव्यर्थ औषधी है। जैन संस्कृति का लक्ष्य ही जीव को स्वावलंबी बनाना है।

मानव स्वावलबी कैसे बने, इसका रहस्योद्घाटन इसमें किया गया है। तत्व-चिंतन और जीवन-शोधन ये दो जैन साहित्य के मूलाधार हैं। आत्म-शोधन में सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान के साथ सदाचार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन धर्म सदाचार, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप है। प्रत्येक आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है। प्रत्येक आत्मा-राग द्वेष एवं कर्ममल से अशुद्ध है पर वह पुरुषार्थ से शुद्ध हो सकता है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनने की क्षमता रखती है।

जैन दर्शन निवृत्ति प्रधान प्रवृत्ति मार्ग है। रत्नत्रय ही प्रवृत्ति मार्ग है। सात तत्वों की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। आत्मा की तीन अवस्थाएं होती हैं, (१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा[1]। जो शरीर और आत्मा को एक मानता है वह मिथ्यावादी, अज्ञानी बहिरात्मा है। जिसने शरीर आदि से भिन्न आत्मा को जाना है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अन्तरात्मा है। अन्तरात्मा के उत्तम, मध्यम, जघन्य ऐसे तीन भेद किये गये हैं। अरहंत एवं सिद्ध जीव परमात्मा कहलाते है। यह मानव जीवन बड़ा ही दुर्लभ है। मानव जीवन की दुर्लभता एवं उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में कवि का निम्न पद देखिये :—

नरभवपाय फेरि दुःख भरना, ऐसा काज न करना हो।
नाहक ममत ठानि पुद्गल सों, करम जाल क्यों परना हो ॥१॥
यह तो जड़ तू ज्ञान अरूपी, तिलतुषज्यों गुरु वरना हो।
रागद्वेष तजि, भज समता कों, कर्म साथ के हरना हो ॥२॥
यो भवपाय विषय सुख सेना, गजचढ़ि ईंधन ढोना हो।
बुधजन समुझि सेय जिनवर पद, जो भव सागर तरना हो ॥३॥
नर भव पाय फेरि दुःख भरना, ऐसा काज न करना हो ॥

---

१. जिनवरदेवसिद्ध परमातम। सम्यक्ती सो अन्तर आतम।
बहिरातम मिथ्या अज्ञानी। त्रिविध आत्मा कहे सुज्ञानी ॥८२॥
बुधजन: तत्वार्थबोध, पृ० संख्या २२, पद्य संख्या ८२, प्रकाशक: कन्हैयालाल गंगवाल, लश्कर।

मानव जीवन का चरम लक्ष्य निर्वाण की प्राप्ति है। उसकी प्राप्ति पूर्ण अहिंसक बनने पर ही हो सकती है।

कविवर बुधजन ने अपने साहित्य में अनेक आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का सरल भाषा में वर्णन किया है। वे प्रमाण, नय और निक्षेप का अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ तत्वार्थबोध एव पचास्तिकाय भाषा मे बड़ी ही सूक्ष्मता एवं स्पष्टता के साथ वर्णन करते हैं :—

नय—प्रमाण द्वारा जाने गये पदार्थ के एक अंश को जानने वाला ज्ञान नय है।

प्रमाण— वस्तु के समस्त अंशों को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है[1]।

नय को विशेष रूप से समझाते हुए कवि ने विविध दृष्टान्तों का प्रयोग किया है। वे नय के मुख्य दो भेद करते हैं–द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। द्रव्यार्थिक नय-द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक एवं पर्याय मात्र को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। द्रव्यार्थिक नय के १० भेद हैं—(१) पर उपाधि-निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे—संसारी जीव सिद्ध के समान शुद्ध है (२) सत्ता-ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे जीव नित्य है। (३) भेद कल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे—द्रव्य अपने गुण पर्याय स्वरूप होने से अभिन्न है। (४) पर उपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे—आत्मा कर्मोदय से क्रोध, मान आदि भाव रूप है। (५) उत्पाद व्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे—एक ही समय में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप है। (६) भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय, जैसे–आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं। (७) अन्वय द्रव्यार्थिक नय, जैसे–द्रव्य गुण-पर्याय-स्वभाव है। (८) स्वचतुष्टय ग्राहक द्रव्यार्थिक नय, जैसे–स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य है। (९) परचतुष्टय ग्राहक द्रव्यार्थिक नय, जैसे पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य नहीं है (१०) परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय, जैसे-आत्मा ज्ञान स्वरूप है।

इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय के ६ भेद बतलाये हैं १–अनादि नित्य पर्यायार्थिक। जैसे सुमेरुपर्वत आदि पुद्गल पर्याय नित्य है। २–सादि नित्य पर्यायार्थिक नय–जैसे सिद्ध पर्याय नित्य है। ३–उत्पादव्यय ग्राहक पर्यायार्थिक नय। जैसे पर्याय क्षण क्षण में नष्ट होती है। ४–सत्ता सापेक्ष पर्यायार्थिक नय। जैसे–पर्याय एक

---

१. सकलदेश परमाण है। नय एक देश प्रमान।
विन सापेक्षानय मिथ्या, सापेक्षा सत्तिमान।
बुधजनः तत्वार्थबोध, पद्य सं० २० पृ० सं. १५ प्रकाशक/कन्हैयालाल गंगवाल लश्कर, प्रकाशन।

ही समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है। ५–पर उपाधि निरपेक्ष शुद्ध पर्यायार्थिक नय–जैसे संसारी जीवों की पर्याय सिद्ध भगवान के समान शुद्ध है। ६–पर उपाधि सापेक्ष अशुद्ध पर्यायार्थिक नय। जैसे–संसारी जीवों के जन्म मरण होते हैं।

संकल्प मात्र से पदार्थ को जानने वाला नैगम नय है। उसके तीन भेद हैं— १–भूत, २–भावी, ३–वर्तमान।

भूतकाल में वर्तमान का आरोपण करना भूत नैगम नय है। जैसे दीपावली के दिन कहना कि–आज भगवान महावीर मुक्त हुए हैं। भविष्य का वर्तमान में आरोपण करना भावी नैगम नय है। जैसे अरहंत भगवान को सिद्ध कहना। प्रारंभ किये हुए कार्य को सम्पन्न हुआ कहना वर्तमान नैगम नय है। जैसे–चूल्हे में अग्नि जलाते समय यों कहना कि मैं चावल बना रहा हूं।

पदार्थों को संग्रहीत (इकट्ठे) रूप से जानने वाला संग्रहनय है। इसके दो भेद हैं–सामान्य संग्रह–जैसे समस्त पदार्थ द्रव्यत्व की अपेक्षा समान हैं। परस्पर अविरोधी हैं। २–विशेष संग्रह–जैसे समस्त जीव जीवत्व की अपेक्षा समान हैं। परस्पर अविरोधी हैं।

संग्रह नय के द्वारा जाने गये विषय को विधि पूर्वक भेद करके जानना व्यवहार नय है। इसके दो भेद हैं–सामान्य व्यवहार जैसे पदार्थ दो प्रकार के हैं १ जीव २ अजीव। विशेष व्यवहार नय–जैसे जीव दो प्रकार के हैं। १ संसारी, २ मुक्त।

वर्तमान काल को ग्रहण करने वाला ऋजुसूत्र नय है। इसके भी दो भेद हैं। १ सूक्ष्म ऋजु सूत्र। जैसे पर्याय एक समयवर्ती है। २ स्थूल ऋजु सूत्र। जैसे–मनुष्य आदि पर्याय को जन्म से मरण तक आयु भर जानना।

संख्या, लिंग आदि का व्यभिचार दूर करके शब्द के द्वारा पदार्थ को ग्रहण करना। जैसे–अभिन्न लिंग वाची दार (पु०) भार्या (स्त्री०) कलत्र (न०) शब्दों के द्वारा स्त्री का ग्रहण होना। एक शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी किसी प्रसिद्ध एक रूढ़ अर्थ को ही शब्द द्वारा ग्रहण करना। जैसे–गो शब्द के पृथ्वी वाणी, कटाक्ष, किरण, गाय आदि अनेक अर्थ हैं फिर भी गो शब्द को ही जानना।

शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार उसी क्रिया में परिणत पदार्थ को उस शब्द द्वारा ग्रहण करना एवंभूत नय है। जैसे गच्छति इति गो (जो चलती हो सो गाय है) इस व्युत्पत्ति के अनुसार चलते समय ही गाय को गो शब्द से जानना एवंभूत नय है।

नय की शाखा को उपनय कहते हैं। उपनय के ३ भेद हैं–१ सद्भूत व्यवहारनय २ असद्भूत व्यवहारनय ३ उपचरित असद्भूत व्यवहारनय।

सद्भूत व्यवहारनय के दो भेद हैं–१ शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय–जो शुद्ध गुण गुणी, शुद्ध पर्याय पर्यायी का भेद कथन करे जैसे सिद्धों के केवल ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं।

२-अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय जो अशुद्ध गुण गुणी तथा अशुद्ध पर्याय पर्यायी का भेद वर्णन करे—जैसे संसारी आत्मा की मनुष्य आदि पर्याय है।

असद्भूत व्यवहार नय के ३ भेद हैं—१ स्वजाति असद्भूत व्यवहारनय-परमाणु बहुप्रदेशी है। २ विजाति असद्भूत व्यवहारनय—जैसे घृत। यतिज्ञान मूर्तिक पदार्थ से उत्पन्न होता है ऐसा कहना। ३ स्वजाति विजाति असद्भूत व्यवहारनय जैसे ज्ञेय (ज्ञान के विषयभूत) जीव अजीव में ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञान का विषय है ऐसा कहना।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय के भी ३ भेद है। १ स्वजाति उपचरित असद्भूत व्यवहार—जैसे पुत्र, स्त्रीआदि मेरे हैं। २ विजाति उपचरित असद्भूत व्यवहारनय—जैसे मकान, वस्त्र आदि पदार्थ मेरे हैं। ३ स्वजाति विजाति उप-चरित असद्भूत व्यवहार—जैसे नगर-देश मेरा है। नगर में रहने वाले मनुष्य स्वजाति (चेतन) हैं। मकान वस्त्र आदि विजाति (अचेतन) हैं।

नय के दो भेद और भी किये गये हैं—१ निश्चय २ व्यवहार। जो अभेदोपचार से पदार्थ को जानता है वह निश्चयनय है—जैसे आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निरंजन है। जो भेदोपचार से पदार्थ को जानता है वह व्यवहारनय है जैसे जीव के ज्ञान आदि गुण हैं।

प्रकारान्तर से भी कवि ने इन दोनों नयों का स्वरूप बताया है।

जो पदार्थ के शुद्ध अंश का प्रतिपादन करता है वह निश्चय नय है, जैसे जो अपने चेतन प्राण से सदा जीवित रहता है वह जीव है। जो पदार्थ के मिश्रित रूप का प्रतिपादन करता है वह व्यवहारनय है। जैसे—जिसमें इन्द्रिय ५, बल ३, आयु और श्वासोच्छ्वास ये यथायोग्य १० प्राण पाये जाते हैं, या जो इन प्राणों से जीता है वह जीव है।

वस्तुतः नय आंशिक ज्ञान रूप है अतः वे सभी सत्य होते हैं जबकि वे अन्य नयों की अपेक्षा रखते हैं। यदि वे अन्य नयों की अपेक्षा न रखें तो वे मिथ्या कहलाते हैं। कहा भी है "सापेक्ष नय सत्य होते हैं और निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं।[1]

प्रयोजन-दोनों नयों का प्रयोजन आत्मा को जानने का है जैसे शरीर में आंख, नाक, कान दो-दो हैं पर जिव्हा जिससे स्वाद लेते हैं वह एक ही है। आत्मानुभव के समय तत्वों का स्वाद लेने में दोनों नयों की अपेक्षा नहीं है। एक नय वस्तु स्वरूप को नहीं बताता। निश्चयनय केवल एक नय है और व्यवहार नय भी एक नय है अतः किसी भी नय के प्रति पक्षपात नहीं करना चाहिए। नय छोड़ना नहीं पड़ते, छूट जाते हैं। अतः नयों के विषय में पक्षपात करना या उन्हें विवाद का विषय बनाना उचित नहीं।

सप्ततत्व-विवेचन में अन्य दार्शनिकों की भांति कविवर बुधजन ने भी इनका सूक्ष्म एवं विशद विवेचन किया है—कवि ने तत्वार्थबोध में पृष्ठ संख्या २६ से पृष्ठ संख्या ५२ तक उपरोक्त विषय का ही स्पष्टीकरण किया है।

'जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्व हैं। इनका श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि है।[1]'

इन तत्वों की यथार्थता के सम्बन्ध में डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री लिखते हैं :—'यह यथार्थ है कि जैन दर्शन का विकास मात्र तत्वज्ञान की भूमि पर न होकर आचार की भूमि पर हुआ है। जीवन शोधन की व्यक्तिगत मुक्ति प्रक्रिया और समाज तथा विश्व में शान्ति स्थापना की लोकेषणा का मूलमंत्र अहिंसा है अतः मुमुक्षु के दुःखों से निवृत्ति प्राप्त करने के लिये तत्वज्ञान की आवश्यकता है। प्रयोजनीभूत तत्व सात हैं :—(१) जीव (२) अजीव (३) आश्रव (४) बंध (५) संवर (६) निर्जरा (७) मोक्ष। पुण्य और पाप ये दोनों बन्धतत्व ही के अन्तर्गत होने के कारण प्रथक् तत्व रूप में परिगणित नहीं हैं। इनको अलग मानने से नो पदार्थ हो जाते हैं[2]।' जीव तत्व-जो भूतकाल में जीता था, वर्तमान में जीता है और भविष्य काल में जीता रहेगा, जिसका कभी नाश नहीं होता। जैसे अग्नि में उष्णता है उसी प्रकार जीव में चेतना गुण है। वह चेतना गुण कवि बुधजन के विचार से तीन प्रकार का होता है—१. ज्ञान चेतना, २ कर्म चेतना, ३ कर्मफल चेतना।

सिद्ध आत्माओं में एवं सम्यग्दृष्टि जीवों में ज्ञान चेतना पाई जाती है। राग द्वष की प्रधानता वाले त्रस जीव कर्म चेतना सम्बन्ध वाले हैं तथा स्थावर जीव कर्म-फल चेतना युक्त हैं। वह अमूर्तिक है। चेतनागुण संयुक्त है। कर्ता है, भोक्ता है, शरीर प्रमाण है, ऊर्ध्वगामी और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य युक्त है। आत्मा (जीव) में वीतरागता, चेतना, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण विद्यमान हैं। पर-संयोग से राग, द्वेष, तृष्णा, दुःख आदि विकार आत्मा में निहित हैं। अतः आत्मा के यथार्थ स्वरूप द्वारा ही विकारी और पर संयोगी प्रवृत्ति को दूरकर उसे शुद्ध और निर्मल बनाया जा सकता है।

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ने जीव तत्व का विश्लेषण करते हुए लिखा है:—'यह स्मरणीय है कि जैनों के अनुसार आत्मा (जीव) जिस शरीर में रहती है, उसे पूर्ण रूप से व्यापती है। परिणामतः मस्तक के बाल के अग्रभाग से पैर के नाखून

---

१. जीव अजीव आश्रवाबंध, संवर निर्जर मोक्ष समंध।
सातततत्व इनका सरधान, सो नर सम्यक् दर्शनवान॥
बुधजन: तत्वार्थबोध: पृ० संख्या २६ पद्य संख्या ११३

२. उमास्वामी : तत्वार्थसूत्र, प्र० अध्याय।

तक जहां कहीं भी इन्द्रियक ज्ञान का कारण होता है, वह (आत्मा) उसका तुरन्त अनुभव कर लेती है[1]।'

मुख्य बात यह है कि जैन दर्शन में बहुजीववाद स्वीकार किया गया है तथा प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गई है।

अजीव द्रव्य के पांच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों से युक्त है वह पुद्गल है। यह स्कंध अवस्था में पूरण-गलन क्रिया रूप होता रहता है। समस्त दृश्य जगत् इसी का विस्तार है। शब्द, बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, उद्योत, आतप से सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें (दशाएं) हैं[2]। पुद्गल परमाणु स्वभावतः क्रियाशील है। उसकी गति-तीव्र, मन्द, मध्यम, अनेक प्रकार की होती है। शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अपान, श्वासोच्छ्वास आदि पुद्गल से ही निर्मित हैं। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य-जीव और पुद्गल के समान धर्म और अधर्मद्रव्य भी दो स्वतंत्र द्रव्य हैं। इनका अर्थ पुण्य-पाप नहीं है। धर्मद्रव्य गतिरूप परिणमन करने वाले जीव और पुद्गलों को गमन में सहायक होता है और अधर्मद्रव्य ठहरते हुए पुद्गल और जीवों को ठहरने में सहायक हैं। ये दोनों द्रव्य लोकाकाश के बराबर हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से रहित होने के कारण अमूर्तिक और निष्क्रिय हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। लोक और अलोक का विभाग इन दोनों द्रव्यों के सद्भाव का फल है।

यह द्रव्य समस्त अजीवादि द्रव्यों को अवगाह स्थान देता है। अर्थात् जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म, कालादि समस्त पदार्थ युगपत जिसमें अवकाश प्राप्त करते हैं, वह आकाश है। यह निष्क्रिय और रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्दादि से रहित होने के कारण अमूर्तिक है। अवकाश दान ही इसका असाधारण गुण है। पुद्गल का एक परमाणु जितने आकाश को रोकता है, उसे प्रदेश कहते हैं। इस प्रमाण से

---

1. It is well remembrance that according to the Jain's the sound occupies the whole of the body in which it lives, so that from the tip of the hair to the nail of the foot, where ever there may be any cause of sensation, It can atonea feel it.
   A history of Indian Philosophy : Cambridge University press, 1938 P 189
2. सद्धोबंधो सुहमो, थूलो संठाण भेदतम छाया।
   उज्जोदादव सहिया, पुग्गल दव्वस्स पज्जाया॥
   आचार्य नेमिचन्द्र, द्रव्यसंग्रह, गाथा क्रमांक १६, पृ०सं० १२ वि०सं० २०३३ प्रका० हस्तिनापुर।

आकाश अनन्त प्रदेशी है। इसके दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। कुछ दार्शनिकों ने दिशा को स्वतंत्र द्रव्य माना है परन्तु जैन दार्शनिकों ने दिक् द्रव्य का अन्तर्भाव आकाश द्रव्य में ही कर लिया है।

काल द्रव्य

समस्त द्रव्यों के उत्पादादि रूप परिणमन में सहकारी कालद्रव्य होता है। इसका लक्षण वर्तना है। यह स्वयं परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी होता है और समस्त लोकाकाश में घड़ी, घंटा, पल, दिन, रात आदि व्यवहार में निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्यों के समान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है, अमूर्तिक है। 'प्रत्येक लोकाकाश के प्रदेश पर एक-एक कालाणु अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये हुए है। धर्म और अधर्म द्रव्य के समान यह लोकाकाश व्यापी एक द्रव्य नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेश पर एक एक कालाणु अवस्थित है। कालद्रव्य के दो भेद हैं—निश्चयकाल और व्यवहारकाल[1]।'

(३) आस्रव तत्व

'कर्मों के आने के द्वार को आश्रव कहते हैं[2]।' जिस प्रकार द्वार से हम गृह में प्रवेश करते हैं उसी प्रकार जिस मार्ग से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है उसे आश्रव कहते हैं। योग के निमित्त से (मन, वचन, काय) आत्मा में पुद्गलों का आगमन होता है। इसके दो भेद हैं। भावाश्रव और द्रव्याश्रव। जिन भावों से कर्मों का आश्रव होता है उन्हें भावाश्रव और कर्म का जाना द्रव्याश्रव कहलाता है।

(४) दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं। बन्ध दो प्रकार का है—एक भाव बन्ध और दूसरा द्रव्य बन्ध। जिन राग द्वेष और मोह आदि विकारी भावों से कर्मों का बन्धन होता है, उन भावों को भावबन्ध कहते हैं और कर्मपुद्गलों का आत्म-प्रदेशों से सम्बन्ध होना द्रव्य बंध कहलाता है। आत्मा और कर्म के प्रदेशों का परस्पर मिलकर एक क्षेत्रावगाह रूप होना बंधतत्व है[3]।

(५) संवरतत्व

जिन द्वारों से कर्मों का आश्रव होता था, उन द्वारों का निरोध करना संवर-तत्व है। आश्रव योग से (मन, वचन, काय की चंचलता) होता है, अतः योग को रोकना ही संवरतत्व है।

---

१. लोयायास पदेसे इक्केक्के जेठिया हु इक्केक्का
रयणाणं रासीमिव ते कालाणू असंख दव्वाणि।
नेमिचन्द्र आचार्य : द्रव्यसंग्रह, गाथा संख्या २२ पृ० संख्या १६,
हस्तिनापुर (मेरठ) प्रकाशन।

२. पूज्यपाद आचार्य : सर्वार्थसिद्धि, प्र० अ० सूत्र १।

३. पूज्यपाद आचार्य : सर्वार्थसिद्धि अ० १, सूत्र १।

(६) निर्जरातत्व

पूर्वबद्ध कर्मों को थोड़ा-थोड़ा नष्ट करना निर्जरा है। यह दो प्रकार की है– अविपाक और सविपाक। व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से अपने संचित कर्मों को उदयावस्था को प्राप्त हुए बिना ही नष्ट कर सकता है। यह संवर पूर्वक होती है और संवर पूर्वक सम्पन्न होने वाली निर्जरा ही मुक्ति का कारण है। इसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। कर्मों की स्थिति पूरी होने पर जब वे उदय में आते हैं और उनका फल भोग लिया जाता है तब वे निर्जीर्ण हो जाते हैं, वह सविपाक निर्जरा है। ये दोनों भेद भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा दोनों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं।

(७) मोक्षतत्व

"समस्त कर्म बन्धनों का आत्मा से पृथक् हो जाना मोक्षतत्व है[1]।" आत्मा का जो परिणाम सभी कर्मों के क्षय में हेतु है, वह परिणाम भावमोक्ष कहलाता है और आत्मा से सर्व कर्मों का क्षय हो जाना द्रव्य मोक्ष है। इस प्रकार मोक्षतत्व के भावाश्रव एवं द्रव्याश्रव ऐसे दो भेद हैं।

कर्म-सिद्धान्त

समस्त लोक में कर्मवर्गणा जाति के असंख्य सूक्ष्म परमाणु (Matter) भरे हुए हैं जिनमें फलदान करने की शक्ति है जीवात्मा का स्वभाव निश्चल और निष्कंप रहने का है किन्तु जिस समय वह मन वचन काय के द्वारा अपने स्वभाव के विपरीत कुछ भी क्रिया करता है तो उसके आत्म-प्रदेशों में हलन-चलन की क्रिया होती है। जीवात्मा में होने वाले इस अस्थायी कर्म से लोक में भरे हुए कर्म प्रदेश उसी प्रकार आकर्षित होते हैं जिस प्रकार आग में तपा हुआ लोहे का गोला पानी में पड़ जाने पर पानी को शीघ्र अपनी ओर खींचता है। इस प्रकार कर्म वर्गणाएं आत्मा में आती तो हैं किन्तु यदि आत्मा में क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय रूप गोंद विद्यमान होता है तब तो वे वहां आकर चिपक जाती है (एक क्षेत्रावगाही हो जाती है, अन्यथा वहां से निकलकर चली जाती है। कषाय तेज होगी तो कर्म-वर्गणाएं अधिक समय के लिये बंधेगी।

इस प्रकार पुद्गल कर्म-वर्गणाओं द्वारा फल का दिया जाना, ईश्वर या यमराज या धर्मराज जैसी किसी शक्ति का फल से सम्बन्ध न बतलाकर कर्म सिद्धान्त को वैज्ञानिक रूप में उपस्थित करना कविवर बुधजन की बहुत बड़ी विशेषता थी।

कवि ने आत्मा के साथ बंधने वाले कर्मों की स्थिति ४ प्रकार की बतलाई है। १ प्रकृतिबंध, २ प्रदेशबंध, ३ स्थितिबंध और ४ अनुभागबंध। बन्ध को प्राप्त

---

१. पूज्यपाद आचार्य : सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र ४।

होने वाले कर्म परमाणुओं में अनेक प्रकार का स्वभाव पड़ना प्रकृतिबंध है। उनकी संख्या का नियत होना प्रदेशबंध है। उनमें काल की मर्यादा का पड़ना कि अमुक समय तक जीव के साथ बंधे रहेंगे, स्थिति बंध है और फल देने की शक्ति का उत्पन्न होना अनुभाग बन्ध है। कर्मों में अनेक प्रकार के स्वभाव का पड़ना तथा उनकी संख्या का हीनाधिक होना योग पर निर्भर है। इस तरह "प्रकृतिबंध और प्रदेश बन्ध तो योग से होते हैं तथा स्थिति बन्ध अनुभाग बन्ध कषाय से[1]।"

"प्रकृतिबंध के आठ भेद हैं[2]।" ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञानगुण को घातता है। इसके कारण कोई अल्पज्ञानी और कोई विशेष ज्ञानी होता है। ज्ञानावरण के ५ भेद हैं मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनः पर्यय ज्ञानावरण और केवल ज्ञानावरण। दर्शनावरण कर्म जीव के दर्शन गुण को आच्छादित करता है। दर्शनावरण के नौ भेद हैं। चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण, केवल दर्शनावरण, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि।

जीव को सुख-दुख का वेदन-अनुभव [illegible] से होता है। वेदनीय कर्म के दो भेद हैं–सातावेदनीय और असातावेदनीय, "निजआत्मा में, पर आत्मा में या उभय आत्माओं में स्थित दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिवेदन ये असातावेदनीय कर्म के आश्रव हैं। प्राणि-अनुकंपा व्रति अनुकंपा दान, सराग-संयम आदि का उचित ध्यान रखना तथा शान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं[3]।" जीव को मोहित करने वाला कर्म मोहनीय कहलाता है। इसके दो भेद हैं–दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय जीव को सच्चे मार्ग पर चलने नहीं देता है। इसके २८ भेद हैं। कविवर बुधजन ने इन्हें अपने साहित्य में भली भांति विवेचित किया है जिन्हें "तत्वार्थबोध," "पंचास्तिकाय" भाषा आदि ग्रंथों से भली भांति जाना जा सकता है। "कषाय के उदय से होने वाला आत्म का तीव्र परिणाम-चारित्र मोहनीय कर्म का आश्रव है।[4]"

जो निश्चित समय तक जीव को नर नारकादि पर्यायों में रोके रखता है वह आयु कर्म है। इसके चार भेद हैं—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु बहु

---

१. जोगापयडिपदेशा ठिदि अभागाणु कषायदो होंति।
नेमिचन्द्र आचार्य : द्रव्य संग्रह : गाथा संख्या ३३, पृ० संख्या २२ प्रकाशक दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ)

२. कवि वीतनन्दि : चन्द्रप्रभ चरित्र : सर्ग १८, श्लोक ९८।

३. उमास्वामी : तत्वार्थसूत्र ; अध्याय ६, सूत्र सं० १२

४. उमास्वामी : तत्वार्थसूत्र ; अध्याय ६, सूत्र सं० १४

आरंभ और परिग्रह का भाव नरकायु के आश्रव, माया तिर्यंचायु के आश्रव, अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह का भाव मनुष्यायु के आश्रव, एवं सराग-संयम, संयमा-संयम, अकाम निर्जरा और बालतप देवायु के आश्रव के हेतु हैं। जिसके कारण शरीर और अंगोपांग आदि की रचना हो, वह नामकर्म है। नामकर्मके ४२ भेद हैं। जिसके निमित्त से जीव उच्च या नीच कुल में जन्म लेता है उसे गोत्र कर्म कहते हैं। इसके दो भेद हैं—उच्च गोत्र और नीच गोत्र। "परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा, दूसरों के अच्छे गुणों का आच्छादन और उनके दुर्गुणों का उद्भावन नीच गोत्र के आश्रव के हेतु हैं एवं पर प्रशंसा, आत्म-निन्दा, नम्रवृत्ति, और अभिमान का अभाव या कमी ये उच्च गोत्र के आश्रव के कारण हैं[1]।"

इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करने वाला कर्म अन्तराय है इसके पांच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय और उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय। दानादि में विघ्न उत्पन्न करना अन्तराय कर्म के आस्रव का हेतु है।

उपरोक्त आठों कर्मों की उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थिति का वर्णन भी कवि ने किया है। कर्मों के सिद्धान्त के विश्लेषण में कवि ने जैनाचार्य उमास्वामी के तत्वार्थसूत्र को अपना आधार बनाया है। जीव कर्मों को कब और कैसे बांधता है और उनका बंटवारा कैसे होता है इत्यादि बातों पर भी कवि ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "तत्यार्थबोध" में प्रकाश डाला है। बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति, और निकाचना कर्मों की इन मुख्य दस अवस्थाओं का वर्णन भी कवि ने किया है। इस प्रकार संक्षेप में कर्म सिद्धांत का निरूपण कविवर बुधजन ने अपने साहित्य में किया है।

जैन दर्शन के अन्यान्य विषय ज्ञान मीमांसा और स्याद्वाद के वर्णन भी अपनी रचनाओं में कवि ने किये हैं। आत्मोत्थान की भूमिका के रूप में चतुर्दश गुणस्थानों का भी उल्लेख कवि ने अपने साहित्य में किया है।

(३) गीतिकाव्य के विकास में बुधजन का योग

भारतीय गीतिकाव्य का प्रारंभ वैदिक युग से माना जाता है। गीतिकाव्य में संगीत की प्रधानता होती है। इसीलिये विद्वानों ने लयात्मक ध्वनि को गीत कहा है। संगीत हृदय में रहने वाले सत्य का व्यस्त रूप है। वह अखंड होता है। बाहर से देखने में वह अनेक प्रकार का दिखाई देता है, परन्तु मूल में वह एक ही है। वह अन्तर का अव्यक्त सत्य ही गीतिकाव्य का प्रेरणास्रोत है। समस्त गीतिकार संभवतः उसी से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

गीतिकाव्यों में जो भिन्नता मिलती है, वह स्थूल जगत् के प्रभाव का परिणाम है। अन्तर में व्याप्त उस तत्व में अनेकता नहीं हो सकती। जैसे संस्कृति का

---

१. उमास्वामी : तत्वार्थसूत्र ; अध्याय ६, सूत्र सं० २५-२६
दि० जैन पुस्तकालय, सूरत।

बाह्य रूप देशकाल और वातावरण के प्रभाव से विभिन्न प्रकार का दिखाई देता है उसी प्रकार भाषा तथा शैली आदि के कारण गीतिकाव्य के बाहरी रूप में भिन्नता दिखाई देती है। परन्तु वस्तुतः उसमें भिन्नता नहीं है। इसलिये यह आवश्यक है कि हम विभिन्न देश और काल तथा विभिन्न दार्शनिक विचारों से प्रभावित गीतिकारों के मौलिक तत्वों तथा उनकी कलात्मक विशेषताओं का तुलनात्मक विचार करें। गीतिकाव्य लोक काव्य है। उसे हम जनता का साहित्य भी कह सकते हैं। उसमें भावों की अभिव्यक्ति होती है तथा संगीत भी रहता है।

संस्कृति साहित्य की भांति हिन्दी साहित्य में गीतिकाव्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। जैन कवियों ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी अनेक सरसंगीत लिखे हैं। जिनमें प्रेम, विरह, विवाह, युद्ध और अध्यात्म-भावना की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। इनमें संगीत है, रागात्मकता है और लय है और इसी दृष्टि से ये गीत रचे गये हैं।

"कविवर बुधजन" ने हिन्दी साहित्य को लावनी भजन और पद आदि के रूप में विपुल सामग्री प्रदान की है। विषय की दृष्टि से "बुधजन" के गीतों एवं पदों को अध्यात्म, नीति, आचार, वैराग्य, भक्ति स्वकर्त्तव्य निरूपण, आत्म-तत्व की प्रेयता और शृंगार-भेदों में विभक्त किया जा सकता है। प्रायः सभी पदों में आत्मालोचन के साथ मन शरीर और इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का निरूपण कर मानव को सावधान किया है।

गीतिकाव्य में निम्न चारों तत्वों का रहना आवश्यक है। ये सभी गुण बुधजन की रचनाओं में पाये जाते हैं।

(१) संगीतात्मकता (२) किसी एक भावना या अनुभूति की अभिव्यक्ति (३) आत्मदर्शन और आत्मविद्या (४) वैयक्तिक अनुभूति की गहराई के साथ गेयता।

कवि वे अपने अन्तर्मन से जो प्रेरणा प्राप्त की, उसी को अपने पदों में अभिव्यक्त किया है। आत्म-चेतना की जागृति उनके पदों का प्राण है। आत्मानुभूति को लयपूर्ण भाषा में व्यक्त करना ही उनका उद्देश्य है। कविवर बुधजन ने विलावल राग को धीमी ताल पर अत्यन्त सुन्दर ढंग से गाया है। उनके इस पद में केवल भाषा की तड़क-भड़क ही नहीं है, किन्तु छन्द और लय का सामंजस्य भी है। उन्होंने निम्नलिखित पद में गहरी आत्मानुभूति का परिचय दिया है। कवि का मन और प्राण शान्ति-प्राप्ति के लिये कितना छटपटा रहा है? देखिये—

"हो मनाजी थांरी बानि बुरी छै दुखदाई।
निज कारज में नेकु न लागत, परसों प्रीति लगाई ॥१॥
या स्वभाव सों अतिदुख पायो, सो अब त्यागो भाई ॥२॥
"बुधजन" औसर भाग न पावे, सेवो श्री जिनराई ॥३॥

कवि ने आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने के लिये कोमलकान्त पदावली में अपनी कमनीय अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यंजना की है। कविवर बनारसीदास ने 'चेतन तू तिहुंकाल अकेला' कहकर पदों में अनुभूति की जैसी अभिव्यंजना की है, वैसी ही "बुधजन" की गीतियों में उपलब्ध है। उनके पदों में अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति की प्रधानता है। शब्द-सौंदर्य और शब्द-संगीत भी सभी पदों में सुनाई पड़ता है। भजन और पद रचने में बुधजन का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके पदों में अनुभूति की तीव्रता, लयात्मक संवेदन शीलता और समाहित भावना का पूरा अस्तित्व विद्यमान है। आत्म-शोधन के प्रति जो जागरूकता उनमें है, वह कम कवियों में उपलब्ध होगी। कवि के विचारों की कल्पना और आत्मानुभूति की प्रेरणा पाठकों के समक्ष ऐसा चित्र उपस्थित करती है, जिससे पाठक अनुभूति में लीन हुए-बिना नहीं रह सकता।

तात्पर्य यह है कि उनकी अनुभूति में गहराई है, प्रबलवेग नहीं। अतः उनके पद पाठकों को डूबने का अवसर देते हैं, बहने का नहीं। संसार रूपी मरुभूमि की वासना रूपी बालुका से तप्त कवि, शान्ति चाहता है, वह अनुभव करता है कि मृत्यु का सम्बन्ध जीवन के साथ है। जीवन की प्रकृति मृत्यु है। मृत्यु हमारे सिर पर सदा विद्यमान है। अतः प्रतिक्षण प्रत्येक व्यक्ति को सतर्क रहना चाहिये। इस विषय में कवि गुनगुनाता हुआ कहता है—

काल अचानक ही ले जायगा, गाफिल होकर सहना क्या रे ॥१॥
छिनहू तोकूं नाहिं बचावे, तो सुमरन का रखना क्या रे ॥२॥
रंचक स्वाद करन के काजे, नरकन में दुःख भरना क्या रे ॥३॥
कुल जन, पथिक जनन के काजे, नरकन में दुख भरना क्या रे[1] ॥४॥

आत्म-दर्शन हो जाने पर कवि ने आत्मा का विश्लेषण एक भावुक के नाते बड़ा ही सरस और रमणीय किया है—

"मैं देखा आतमरामा"

रूप-फरस-रस गंध तें न्यारा, दरस ज्ञान-गुन धामा।
नित्य निरंजन जाके नाहीं, क्रोध-लोभ-मद-कामा ॥१॥
भूख-प्यास, सुख-दुःख नहिं जाके, नाहीं बनपुर ग्रामा।
नहिं साहब नहिं चाकर भाई, नहीं तात नहिं भामा ॥२॥
भूल अनादि थकी जग भटकत, ले पुद्गल का जामा।

---

१. बुधजन: हिन्दी पद संग्रह, पृ० १६४, संपा० डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, महावीर भवन, जयपुर, प्र० संस्करण, मई १६६५।

'बुधजन' संगति की गुरू की तें, मैं पाया मुझ ठामा ॥३॥[1]

"बुधजन" के गीत्यात्मक पदों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(१) भक्ति-परक या प्रार्थना-परक ।

(२) तथ्य निरूपक या दार्शनिक ।

भगवद् भक्ति के बिना जीवन विषय भोगों में ही व्यतीत हो जाता है। विषयी प्राणी तप, ध्यान, भक्ति, पूजा आदि में अपना चित्त नहीं लगाते । उन्हें पर-परणति ही श्रेयस्कर प्रतीत होती है । यदि वह भगवद् भक्ति में लग जाय तो उसके सम्पूर्ण दुःख दूर हो सकते हैं तथा आत्मज्ञान प्राप्त हो सकता है । विषयासक्त प्राणी यह सोचता है कि भक्ति या धर्म आदि कार्य तो वृद्धावस्था में करेंगे, परन्तु उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि जब तक शरीर में शक्ति है तभी तक भगवद् भक्ति की जा सकती है । अतः शरीर के स्वस्थ रहते–हुए प्रभु–भजन अवश्य करना चाहिये । कवि इसी तथ्य को निम्न पद में अभिव्यक्त कर रहा है—

'भजन बिन यों ही जनम गमायो ।
पानी पेल्यां पाल न बांधी, फिर पीछे पछतायो ॥१॥
रामा मोहभये दिन खोवत, आशा-पाश बंधायो ।
जप-तप-संजम, दान न दीना, मानुष जनम हरायो ॥२॥
देह-सीस जब कांपन लागी, दसन चलाचल धायो ।
लागी आगि बुझावन कारन, चाहत कूप खुदायो ॥३॥
काल अनादि भ्रमायो, भ्रमतां कबहुं न थिर चित जायो ।
'हरि' विषय सुख, भरम भुलानो, मृग तृष्णा वश धायो[2] ॥४॥

कवि के पदों में संगीत और लय के साथ प्रवाह एवं भाव भी विद्यमान है । कवि के समस्त पदों में भक्ति की उत्कटता और आत्म-समर्पण की भावना होने से अभिव्यंजना शक्ति विद्यमान है जो उनके समस्त पदों को गीति-काव्य की परिधि में लाते हैं ।

कविवर बुधजन ने तथ्य-निरूपक या दार्शनिक पद भी लिखे हैं, पर उनमें दार्शनिक दुरूहता नहीं आने पाई है । नीति विषयक और दार्शनिक पदों में कवि ने जैनागम के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । वे दुरूहता से बचते रहे हैं । उनकी

---

१. बुधजनः हिन्दी पद संग्रह पृ० सं० १६१, संपा० डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, महावीर भवन, जयपुर, प्र० संस्करण मई १६६५ ।

२. बुधजनः बुधजन विलास, पद्य संख्या २१, पृष्ठ सं० ११, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, १६१/१ हरीसन रोड, कलकत्ता ।

भाषा में भावानुकूल माधुर्य है और सरलता व संक्षिप्तता आदि गुण भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं।

कवि ने अपने पदों में कनड़ी, आसावरी, सारंग, भैरवी, रामकली, सोरठ, झंझोटी, विहाग, बिलावल, मालकोष, केदारो, मांढ़, ख्यालतमाशा, जंगला, भैरूं, बरवा, टोड़ी, उभाज, जोगी रासा, काफी होरी, दीपचंदी, चौचालो, लावनी, होरी, दीपचन्दी, चर्चरी, वसंत, कल्याण, मालकोष, ढाल होली, परज, बसंत।

विद्यापति, सूर, मीरा, घनानन्द आदि प्राचीन कवियों के गीतों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट होती है कि हिन्दी में गीतों की परंपरा बहुत पुरानी है। बुधजन के गीत उनकी आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का उद्घाटन करते है। इनमें से विद्यापति हिन्दी गीतिकाव्य की परंपरा के विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनके काव्य में गीतिकाव्य की सभी विशेषताएं समाविष्ट हुई हैं। मानव-प्रणय की विभिन्न वैयक्तिक अनुभूतियों की सुन्दर व्यंजना इनके काव्य में हुई है। अतः विद्यापति हिन्दी के प्रथम गीतकार ठहरते हैं।

(४) विद्यापति और बुधजन

विद्यापति वस्तुतः संक्रमण के प्रतिनिधि कवि हैं। वे दरबारी कवि होते हुए भी जन-कवि हैं। शृंगारिक होते हुए भी भक्त हैं। शैव, शाक्त या वैष्णव होते हुए भी श्रेष्ठ कवि हैं। जीवन के अन्त में वे मुक्त हो गये थे। उन्होंने कृष्ण भक्ति सम्बन्धी रचनाएं की हैं। उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम में सामान्य जनता के सुख-दुःख, मिलन-विरह को अंकित किया है। विद्यापति की दृष्टि में प्रेयतत्व ही काम्य है। उनके लिये मनुष्य से बड़ा अन्य कोई पदार्थ नहीं है। उन्होंने मानव-मन के उच्च धरातल को अभिव्यक्ति दी है। ऐसी रचनाओं में ही मानव-धर्म अभिव्यक्ति पाता है। कवि इस स्थिति में धर्मों के संकुचित घेरे को तोड़कर, देश-काल-निरपेक्ष साहित्य की सृष्टि करता है। ऐसे साहित्य में मानवीय-जीवन के अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की बातें दिखाई पड़ती हैं। विद्यापति की कतिपय रचनाओं में मानव-धर्म की व्याख्या मिलती है। उनकी रचनाओं में भक्ति का निखरा हुआ रूप दिखाई पड़ता है, जहां भक्त एक ओर तो अपने आराध्यदेव के महत्व की ओर दूसरी ओर अपने लघुत्व की पूर्ण अनुभूति करने लगता है। यही वह स्थिति है, जिसमें उसकी आत्म-शुद्धि होती है।

जब वह अपने उपास्य में अनंत शक्ति का सामर्थ्य देखता है, तब उसे अपनी दीनता और असमर्थता का ज्ञान होता है। उसके हृदय से अहंभाव दूर हो जाता है। वह आत्म-समर्पण करता है—अपने दोषों को अपने उपास्य के सामने खोल-खोल कर गिनाता है। उसे जितना आनन्द अपने उपास्य के महत्व वर्णन में आता है, उतना ही अपने दोषों के वर्णन में भी। इस आशय के पद विद्यापति की पदावली में अनेक पाये जाते हैं। निम्न पद दृष्टव्य हैं :—

"हरि जनि बिसरव मो ममिता ।
हम नर अधम परम पतिता ।।
तुअ सन अधम-उधार न दूसर ।
हम सन जग नहिं पतिता ।।
जम के द्वार जवाव कौन देव ।
जखन बुझत, निजगुनकर बतिया[1] ।।

अर्थ- हे शंकर, मैं अत्यन्त नीच और परम पापी मनुष्य हूं । अतः मेरे प्रति अपनी ममता भुला न देना । मुझ पर प्रेमभाव बनाये रखना । आपके समान पतित-उद्धारक अन्य नहीं है और जगत् में मेरे समान अन्य कोई पापी नहीं है, जब मेरा मरण होगा, तब यमराज के द्वार पर जाकर क्या उत्तर दूंगा ? उस समय आप ही मेरी रक्षा करने में समर्थ हैं । आप अशरण को शरण देने वाले हैं । मैं आपके चरणों में मस्तक झुकाता हूं । कृपया मुझ पर दया कीजिये ।

उपरोक्त पद्य में विद्यापति ने अपने हृदय की उत्कृष्ट भक्ति प्रकट की है । इसे भक्ति की परमावस्था कहते हैं । अपनी हीनता और अपने उपास्य की महानता का वर्णन करना ही श्रेष्ठ भक्ति है । सूर और तुलसी ने भी इसी प्रकार के विनय के पद लिखे हैं । इसी प्रकार का भक्ति का पद कविवर "बुधजन" का देखिये :—

प्रभु पतित पाव न मैं अपावन, चरण आयो शरण जी ।
यो विरद आप निहार स्वामी, मेटि जामन-मरण जी ।।
तुम ना पिछान्यो, अन्य मान्यो, देव विविध प्रकार जी ।।
या बुद्धि सेती निज न जान्यो, भ्रम गिन्यो हितकार जी ।।

अर्थ—हे जिनेन्द्र । आप पतितों को पवित्र करने वाले हैं, अतः मैं आपके चरणों की शरण में आया हूं । प्रभु ! आप अपने बड़प्पन का ध्यान रखते हुए मेरे जन्म-मरण के दुःख दूर कीजिये । मैंने आज तक आपकी पहिचान करने में भूल की है, इस अज्ञानता वश अन्यान्य देवों की उपासना करता रहा इस मिथ्याबुद्धि के कारण स्व की पहिचान नहीं की और भ्रमवश स्वहित में बाधक कारणों को अपना हित कारक माना ।

विद्यापति अपने आराध्य से यह याचना करते हैं कि "कृपया मुझ पर दया कीजिये" परन्तु बुधजन की निष्काम-भक्ति में यह भी नहीं है । वे तो केवल इतना ही कहते हैं :—

---

१. विद्यापति : पदावली : संपादक डॉ० आनंदप्रसाद दीक्षित, द्वि० सं० १९७०, पृ.सं. १३३–३४, साहित्य प्रकाशन मंदिर, ग्वालियर ।

"यातूं नहीं सुरवास पुनि नर राज परिजन साथ जी ।
"बुध" याचहू तुव, भक्ति भव-भव, दीजिये शिवनाथ जी ।।[1]"

अर्थ—हे प्रभु ! आपकी भक्ति करके मैं यह नहीं चाहता कि आप मुझे स्वर्गादि के सुख प्रदान करें अथवा मैं नरेश बनूं या परिजनों का साथ मुझे प्राप्त हो । मैं तो केवल यही चाहता हूं कि भव-भव में अर्थात् जन्म-जन्मान्तरों में आपकी भक्ति होती रहे ।

संसार की वास्तविकता के सम्बन्ध में विद्यापति का एक अन्य पद देखिये—

"तातल सैवत वारि विन्दुसम, सुतमित रमनि समाज ।
तोहे विसरि मन ताहे समर्पिनु, अब मुझ हब कौन काज ।।
माधव हम परिनाम निरासा तुहु जग तारन दीन दयामय—

अर्थ हे माधव ! जिस प्रकार तप्त बालू पर पानी की बूंद पड़ते ही विलीन हो जाती है, वैसे ही इस ससार में पुत्र, मित्र, पत्नी आदि की स्थिति है । तुझे भुलाकर मैंने अपना मन इन क्षण-भंगुर-वस्तुओं को समर्पित कर दिया है, ऐसी स्थिति में अब मेरा कौन कार्य सिद्ध होगा ? हे प्रभु ! मैं जीवन भर आपको भुलाकर माया-मोह में फंसा रहा हूं । अतः अब इसके परिणाम से बहुत निराश हो गया हूं । आप ही इस संसार से पार उतारने वाले हो, दीनों पर दया करने वाले हो । अतएव तुम्हारा ही विश्वास है कि तुम मेरा उद्धार करोगे । आधा जीवन तो मैंने सोकर ही बिता दिया, वृद्धावस्था और बालपन के अनेक दिन बीत गये । युवावस्था युवतियों के साथ केलि-क्रीड़ाओं में बिता दी । इस प्रेम क्रीड़ा में मस्त रहने के कारण मैं तेरा स्मरण करता तो किस समय करता ? अर्थात् विलास वासना में फंसे होने के कारण तेरे भजन-पूजन का समय ही नहीं निकाल पाया । हे माधव ! आप आदि अनादि के नाथ कहलाते हैं, ऐसी स्थिति में इस भव सागर से पार उतारने का भार आप पर ही है[2] ।

इसी प्रकार का एक पद कविवर "बुधजन" का प्रस्तुत है :—

'उत्तम नरभव पाय के मति भूले रे रामा ।।
कीट पशु का तन जब पाया, तब तू रखा निकामा ।
अब नर देही पाय सयाने, क्यों न भेजे प्रभु नामा ।।
सुरपति याकी चाह करत उर, कब पाऊं नर जामा ।
ऐसा रतन पाय के भाई क्यों खोवत बिन कामा ।।

---

१. कवि बुधजन: देवदर्शन, स्तुति, ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृ० सं० ५३४-३५, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ।
२. आनन्द प्रसाद दीक्षित (संपादक) विद्यापति पदावली द्वितीय संस्करण १९७०, साहित्य प्रकाशन मंदिर, ग्वालियर ।

धन जोवन तन सुन्दर पाया मगन भया लखि भामा ।
काल अचानक झटकि खायगा, परे रहेंगे ठामा ।।
अपने स्वामी के पद-पंकज, करो हिये विसरामा[1] ।।
मेटि कपट भ्रम अपना 'बुधजन' ज्यों पावो शिवधामा ।।

अर्थ-इस श्रेष्ठ नर-जन्म को प्राप्त करके अपनी आत्मा को विस्मृत मतकर । तू स्वयं आत्मा है, अतः अपने आपको मत भूल, अपने पूर्व जन्मों का या भवों का स्मरण कर जब तू छोटा मोटा कीड़ा था, या जब तू पशु था, उस समय तुझे कोई ज्ञान न था अत्यन्त अल्पज्ञानी था या अपने हिता-हित का विवेक तुझे सर्वथा नहीं था । अब पुण्योदय से तूने मनुष्य-जन्म पाया है अतः तू प्रभु का भजन क्यों नहीं करता ? (क्योंकि अब तू विवेकवान् प्राणी है अपने हिताहित को समझता है) इस नर-तन को प्राप्त करने की इच्छा देवता भी करते हैं (क्योंकि इस अवस्था से प्रभु-स्मरण व संयमाचरण किया जा सकता है) हे भाई । यह मानव-जीवन एक प्रकार का रत्न है । अतः मूर्खों की भांति इसे-कौड़ी के मोल में मत बेच या इसे विषय-भोगों में मत गंवा । तुझे भाग्योदय से धन, यौवन, सुन्दर मानव-देह प्राप्त हुई है, सुन्दर स्त्री का संयोग मिला है । परन्तु तू इनमें लीन मत हो । यदि तू इन्हीं के चक्कर में पड़ा रहा तो काल तुझे शीघ्र नष्ट कर देगा । तब तेरे ये धनादि यहीं पड़े रह जायगे, तेरा साथ नहीं देंगे । अपने हृदय में अपने स्वामी के चरण-कमलों को विराजमान करो । अपने मन का भ्रम-जाल मिटाकर मुक्ति-लाभ करो ।

विद्यापति का भी एक स्तुति-परक पद दृष्टव्य है :—

इसमें वे अपने आराध्य के सामने अपने हृदय के भाव व्यक्त करते हुए कहते हैं :—

'श्री कृष्ण के चरणों का आधार पाकर विद्यापति अपने आराध्य के सामने अपनी साधन-हीनता और दीनता रख देते हैं और तब तो विद्यापति की भक्ति की पराकाष्ठा हो जाती है, जब वह कहता है कि अपने कर्मों के कारण भले ही मैं, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग बनूं पर तुम्हारे कीर्तन में मति लगी रहे[2] ।'

---

१. बुधजन: बुधजन विलास, पद सं० ६६, पृ० संख्या ३४, प्रका० जिनवाणी प्रचारक कार्यालय १६१/१, हरीसन रोड कलकत्ता ।

२. हे हरिवन्दों तुअ पव नाथ । तुअ पद परिहरि पाप पयोनिधि, पार तर कौन उपाय ?
कि ये मानुस पसुपखि भये जनमिए, अथवा कीट पतंग ।
करम-विपाक गतागत पुनपुन, मति रह तुअ पर संग ।।

तुलनात्मक-अध्ययन

१ विद्यापति पहले कवि थे और बाद में भक्त।

बुधजन भी पहले कवि थे और बाद में भक्त तथा दार्शनिक।

२ विद्यापति ने लोकभाषा मैथिली को काव्य का माध्यम बनाया।

बुधजन ने भी लोकभाषा ढूंढारी को काव्य का माध्यम बनाया।

३ विद्यापति की रचनाओं में उनका व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है।

बुधजन की रचनाओं में भी उनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है।

४ विद्यापति में भक्त कवियों की भांति आत्म-निवेदन की भावना थी।

बुधजन में भी भक्त कवियों की भांति आत्म-निवेदन की भावना थी।

५ विद्यापति ने अनेक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक पदों की रचना की। ये पद ही कवि की अक्षय-कीर्ति के आधार हैं।

बुधजन ने भी अनेक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक पदों की रचना की। ये पद ही कवि की अक्षय-कीर्ति के आधार हैं।

६ विद्यापति में आत्मानुभूति का प्रकाशन, स्व-संवेदन-गम्य, भाव-भूमि पर लक्षित होता है।

बुधजन में भी आत्मानुभूति का प्रकाशन, स्व-संवेदन-गम्य, भाव-भूमि पर लक्षित होता है।

७ विद्यापति की भाषा में तरलता, सरलता और माधुर्य पूर्ण रूप से लक्षित होता है।

बुधजन की भाषा में भी तरलता, सरलता और माधुर्य पूर्ण रूप से लक्षित होता है।

५ सूरदास और बुधजन

हिन्दी भाषा में कुछ रचनाएं संगीत प्रधान हैं। कबीर, मीरा, सूरदास, तुलसीदास आदि प्रमुख भक्त कवियों ने भक्ति-परक अनेक पद लिखे हैं। इन्हें वे स्वयं विभिन्न राग-रागिनियों में गा-गाकर सुनाया करते थे। इनके पदों का हिन्दी साहित्य में अत्यधिक प्रचार हुआ।

इस प्रकार के पद जैन कवियों ने भी पर्याप्त मात्रा में रचे हैं। शास्त्र-प्रवचन के बाद इन पदों को जैन मंदिरों में प्रतिदिन गाने की प्रथा है। जैन कवि द्यानतराय, भूधरदास, दौलतराम, महाचंद, भागचन्द, बुधजन आदि कवियों के पद

अनेक जैन व्यक्तियों को आज भी कंठस्थ हैं। कवि बुधजन के पद राजस्थान में सर्वाधिक लोकप्रिय रहे।

पद रचयिता चाहे जैन धर्मानुयायी हो या इतर धर्मानुयायी, दोनों की पद-रचना में मौलिक अन्तर नहीं है। जो थोड़ा बहुत अन्तर दिखाई देता है, वह बाह्य जगत् के प्रभाव का परिणाम है। हिन्दी साहित्य में गीत और पद रचयिताओं में निर्गुण-संत कबीर, रविदास, दादू, मलूकदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार सगुण संप्रदाय में सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्त कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन संत और भक्तों ने अनेक गीत और पद रचकर हिन्दी साहित्य को परिपुष्ट किया। निर्गुण संतों के तात्विक सिद्धान्त तथा जैनों के शुद्धात्म-वाद में पर्याप्त साम्य है।

सन्त कबीर ने कहा है—सबके हृदय में परमात्मा का निवास है। उसे बाहर न ढूंढकर भीतर ही ढूंढना चाहिये। आत्मा ही परमात्मा है। दोनों में एकत्व भाव है। प्रत्येक जीव परमात्मा है। निर्गुण संतों ने अवतार-वाद का खंडन किया। भौतिक शरीर की दृष्टि से कोई भी व्यक्ति ईश्वर नहीं हो सकता है। आत्मा की दृष्टि से सभी आत्माएं ब्रह्म हैं। अतएव संतों के मत में जन्म-मरण से रहित परब्रह्म ही परमात्मा है। उस पर ब्रह्म का नाम स्मरण, प्रेम और भक्ति करने से कल्याण होता है। प्रायः सभी सन्त कवियों ने इसी आध्यात्मिक दृष्टिकोण से पद रचना की। इनके पदों की जैन पदों के साथ तुलना की जा सकती है।

सगुण भक्ति धारा के कवियों के पदों के साथ भी जैन कवियों के पदों की तुलना की जा सकती है। प्रस्तुत लेख में सगुण भक्ति धारा के प्रसिद्ध कवि सूरदास के पदों के साथ बुधजन के पदों की तुलना की जा रही है।

उपासना के लिये उपास्य के विशिष्ट व्यक्तित्व की आवश्यकता समझ सगुण भक्ति का आविर्भाव हुआ। सगुण उपासकों में कृष्ण भक्ति शाखा और राम भक्ति शाखा में श्रेष्ठ कलाकार हुए, जिन्होंने पद और गीतों की रचनाकर हिन्दी के साहित्य भंडार की वृद्धि की। महाकवि सूरदास ने पद-साहित्य में नवीन उद्भावनाएं—कोमल कल्पनाएं और विदग्धता पूर्ण व्यंजनाएं की। वस्तुतः सूर भाव जगत् के सम्राट् माने गये हैं। हृदय की जितनी थाह सूरदास ने ली, उतनी शायद ही अन्य कवि ने ली हो। सूरदास के पदों में पर्याप्त मौलिकता है। सूरदास की कृतियों में भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों ही पक्ष परिपुष्ट हुए हैं।

जिस प्रकार सूरदास ने गौरी, सारंग, आसावरी, सोरठ, भैरवी, धनाश्री, ध्रुपद, विलावल, मलार, जैतिश्री, विराग, झझौरी, सोहनी, कानूरा, केदारा, ईमन आदि—राग-रागिनियों में पदों की रचना की है, उसी प्रकार बुधजन ने भी प्रभाती, विलावल, कनड़ी, रामवली अलहिया, आसावरी, जगिया, झांझ, टोड़ी, सारंग, पूरवी गौड़ी, काफी कनड़ी, ईमन, झझौरी, खंभाच, अहिंग, गारो, कान्हरो, विला-

बल, बरवा, सिंघड़ा, ध्रुपद आदि अनेक राग-रागिनियों में पदों की रचना की। संगीत का माधुर्य सूर के पदों के समान ही आलोच्य कवि में भी लक्षित होता है।

अन्तर्जगत् के चित्रण की दृष्टि से सूर के अनेक पद जैन पदों के समान भाव-पूर्ण हैं। वात्सल्य, शृंगार और शान्त इन तीनों रसों का जैसा परिपाक सूर के पदों में है, वैसा ही कविवर बुधजन के पदों में भी विद्यमान है। विनय के पदों के आरम्भ में अपने आराध्य कृष्ण की स्तुति करता हुआ कवि कहता है :—

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो
समदरसी है नाम तिहारो, चाहो तो पार करो
अबकी बेर नाथ मोहि तारो नहि पन जात टरो ॥

यहां तुलना के लिये कविवर बुधजन का एक पद उद्धृत किया जाता है। दृष्टव्य है कि दोनों के पदों में कितनी समानता है।

तुम चरनन की सरन आय सुखपायो।
अबलों फिर भव बन में डोल्यो जनम जनम दुःख पायो ॥१॥
ऐसो सुख सुरपति के नाहीं सो सुख जात न गायो।
अब सब संपति मो उर आई आज परम पद लायो ॥२॥
मन वच तन में दृढ़ करि राखो, कबहुं न ज्या बिसरायो।
बारंबार बीनवे 'बुधजन, कीजे मन को भायो ॥३॥

सूरदास ने विषयों की ओर जाते हुए मन को रोका है और उसे नाना प्रकार से फटकारते हुए आत्मा की ओर उन्मुख किया है। नाना प्रकार की आकांक्षाएं ही इस मन को आकृष्ट कर विषयों में संलग्न कर देती हैं जिससे भोला और असहाय मानव विषयेच्छाओं की अग्नि में जलता रहता है। सूरदास मानव के अज्ञान भ्रम को दूर करते हुए कहते हैं :—

रे मन मूरख जन्म गमायो।
कर अभिमान विषय संग राच्यो, स्याम सरन नहिं आयो।
यह संसार फूल सेमर को सुन्दर देखि भुलायो।
बरनन लाग्यो रुई गई उड़ि, हाथ कछु नहिं आयो ॥
कहा भयो अबके मन सोचे, पहले नांहि कमायो।
कहत सूर भगवन्त भजन बिनु, सिर धुनि धुनि पछतायो।

तथा—

जादिन मन पंछी उड़ि जै है।

तादिन तेरे तन तरुवर के, सर्वपात झरि जे हैं ।।१।।
घर के कहैं वेगि ही काढ़ो, भूतभये कोई खे है ।।२।।
जा प्रीतम सौं प्रीति घनेरी, सोऊ देखि डरै है ।।३।।

तथा—

रे मन जन्म अकारथ जात ।।
बिछुरे मिलन बहुरि कब है, ज्यों तरुवर के पात ।।१।।
सन्निपात कफ कंठ विरोधी, रसना दूरी बात ।।२।।
प्रान लिये जमजात मूढ़मति, देखत जननी तात ।।३।।

उपरोक्त सूर के पदों के साथ 'बुधजन' के कतिपय पद तुलना योग्य है। जैसे कि—

रेमन मूरख बावरे, मति ढील न लावे ।।
जप रे श्री अरहंत कौं, यो औसर जावे ।।
नर भव पाना कठिन है, यो सुरपरि चाहे ।।
को जाने मति काल की, यो अचानक आवे ।।
छूट गये अब छूटते, जो छूटा चावे ।।
सब छूटें या जाल तें, यो आगम गावै ।।
भोग रोग कों करत है, इनकों मत लावै ।।
ममता तजि समता गहो, 'बुधजन' सुख पावै ।।

एवं

क्यों रे मन तिरपत नहिं होय ।।
अनादि काल का विषयन राच्या, अपना सरवस खोय ।।
नेकु चाखि कै फिर न बाहुड़े, अधिका लपटे जोय ।।
ज्यों ज्यों भोग मिले त्यों तृष्णा, अधिकी अधिकी होय ।।

तथा—

मन रे तेने जन्म अकारथ खोयो ।।
तू डोलत नित जगत धंध में ले विषयन रस लूट्यो ।।

इस प्रकार कविवर बुधजन ने कविवर सूरदास के समान आशा-तृष्णा की खूब निंदा की है। वस्तुत आशा इतनी प्रचंड अग्नि है कि इसमें जीवन का सर्वस्व स्वाहा हो जाता है। आशा नाम की सांकल से बंधा हुआ जीव निरंतर भागता फिरता है और इस शृंखला से छूटा हुआ जीव शान्त होकर बैठ जाता है। इस आश्चर्य को "बुधजन" ने अपने पदों में व्यक्त किया है उन्होंने मन की विविध दशाओं का भी सूरदास की भांति सूक्ष्म विवेचन किया है।

"समूचे हिन्दी साहित्य में सूरदास का बाल वर्णन प्रसिद्ध है। उन्होंने बालक कृष्ण की अनेक मनोदशाओं का चित्रण किया है। सच यह है कि वे इस क्षेत्र में अकेले नहीं थे। मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियों ने तीर्थंकरों के गर्भ और जन्म से सम्बन्धित अनेक मनोरम चित्रों का अंकन किया है। इन अवसरों पर होने वाले विविध उत्सवों की छटा का सूरदास छू भी न सके हैं। यह जैन कवियों की अपनी शैली थी, जो उन्हें पूर्व परम्परा से ही उपलब्ध हुई थी[1]। "आदीश्वरफागु" में आदीश्वर प्रभु का जन्मोत्सव सम्बन्धी एक दृष्टान्त देखिये :—

"आहे रतन जडित अति मोटाउ मोटाउ सीघउ कुंभ।
क्षीर समुद्र शंकू पूरीय पूरीय आणीयं अंभ॥
आहे द्रुमि द्रुमि तब लीय वज्जइ द्रमि द्रमि मद्दलनाद।
टणण टणण टंकारव, झिणि झिणि झल्लर साद[2]॥"

"आदीश्वरफागु" का एक और सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत है। इसमें कवि ने बालक के निरन्तर बढ़ने का वर्णन किया है। "आदीश्वर दिन-दिन इस भांति बढ़ रहे हैं, जैसे द्वितीया का चन्द्र प्रतिदिन विकसित होता जाता है। उसमें शनैः शनैः ऋद्धि, बुद्धि और पवित्रता प्रस्फुटित होती जा रही है, जैसे समाधिलता पर कुन्द के फूल खिल रहे हों[3]।"

'सूरदास हिन्दी भक्ति युग के सशक्त कवि हैं। उन्होंने भाव-विभोर होकर सगुण ब्रह्म के गीत गाये।' 'सूरसागर' इसका प्रतीक है। उसमें सूर के निर्मित सहस्रों पदों का संकलन है। ये पद गेय हैं। राग रागिनियों से समन्वित हैं। उनका बाह्य सुन्दर है, तो अन्तः सहज और पावन। सब कुछ भक्तिमय है[4]।"

इसी युग में जैन कवियों ने भक्ति रस पूर्ण अधिकाधिक पदकाव्य का निर्माण किया। वह सब भक्तयात्मक है। उसमें भी प्रसाद और लालित्य है। विविध राग-रागिनियों का नर्तन वहां भी है। दोनों में बहुत कुछ साम्य है। कहीं-कहीं तो तद्वत्

---

१ डॉ० प्रेमसागर जैनः हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ० संख्या ७५ भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

२. भट्टारक ज्ञानभूषणः आदीश्वरफागु पद सं० २६२, आमेर शास्त्र भंडार की हस्तलिखित प्रति।

३. आहे दिन दिन बालक बाधइ, बीजतणु जिन चन्द।
ऋद्धि विबुद्धि विशुद्धि समाधिलता कुल कुंद॥६२॥
भट्टारक ज्ञानभूषणः आदीश्वरफागुः, आमेर शास्त्र भंडार की हस्तलिखित प्रति।

४. अनेकान्त मासिक पत्रिका, वर्ष १६६६, अंक ६, पृष्ठ ३५

है। बनारसीदास, द्यानतराय, भूधरदास, बुधजन, भैया भगवतीदास, ज्ञानराम और ब्रह्म आदि समर्थ जैन कवि थे, जिन्होंने सूर, तुलसी, मीरा आदि के समान आध्यात्मिक एवं भक्ति पूर्ण पदों की रचना की। इन कवियों की रचनाएं कला और भाव दोनों दृष्टियों से सूर की रचनाओं के समकक्ष रखी जा सकती हैं। जैन कवियों की भक्ति रस पूर्ण रचनाओं के अवलोकन से एक विशेष बात भी दृष्टव्य है जो सूर की रचनाओं में नहीं मिलती।

सूर ने बालक कृष्ण का जितना मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है, उतना राधा का नहीं। परन्तु जैन कवियों की रचनाओं में हम बालिकाओं का भी मनोवैज्ञानिक चित्रण पाते हैं। सीता, अंजना और राजुल के मनोभावों का बड़ा ही मनोरम वर्णन जैन कवियों ने किया है जो अद्वितीय है।

जैन भक्त कवियों की एक और अद्वितीय विशेषता है। उन्होंने लौकिक शृंगार को कभी भी महत्व नहीं दिया। उन्होंने सुमति को ही राधा कहा और परमात्मा के विरह में उनकी बेचैनी हिन्दी काव्य की नई देन है।

सूर की भक्ति केवल ब्रह्म के सगुण रूप की भक्ति है। निर्गुण ब्रह्म पर उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा, जबकि जैन कवियों ने ब्रह्म के सगुण-निर्गुण दोनों रूपों पर लिखा है। जैन परम्परा के अनुसार अरहंत अवस्था को सगुण और सिद्ध अवस्था को निर्गुण माना गया है और यह भी प्रतिपादन किया गया है कि सगुण-निर्गुण हो सकता है। जो चार घातिया कर्मों के विनाशक हैं वे अरहंत कहलाते हैं, जब वे ही अरहंत, योग निरोध पूर्वक शेष बचे चार अघातिया कर्मों का नाश कर देते हैं, तब वे ही सिद्ध या निर्गुण बन जाते हैं।

कविवर "बुधजन" ने सूरदास की भांति भगवान से याचनाएं की हैं, पर वे याचनाएं सांसारिक सुख प्राप्ति के लिये नहीं हैं। वे तो यही याचना करते हैं कि "हे भगवन्! मुझे भव-भव में आपके चरणों की शरण प्राप्त होती रहे। इसके सिवाय कवि न स्वर्ग चाहता है न राजा बनना चाहता है न वह बहुत बड़े कुटुम्ब की ही याचना करता है[1]।"

भक्त कवि होने के कारण दोनों ही कवियों के पदों में अलंकारों की खींचतान नहीं है। उनकी गति सहज है। एक पद्य और प्रस्तुत है, जिसे देखने से "बुधजन" के पदों की "सूरदास" के पदों से भाव-भाषा, एवं विषय वस्तु की दृष्टि से समानता का बोध हो जाता है।

---

१. याचूं नहीं सुरवास पुनि नरराज परिजन साथ जी।
बुध याचहूं तुव भक्ति भव-भव दीजिये शिवनाथ जी॥
बुधजनः देवदर्शन स्तुति, ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृ० सं० ५३४, ५३५ भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

मेरे अवगुन जिन गिनो, मैं औगुन को धाम ।
पतित उद्धारक आप हो, करो पतित को काम ।।
(बुधजन)

प्रभु मेरे अवगुन चित न गिनो ।
समदर्शी है नाम तिहारो, चाहो तो पार करो ।।
(सूरदास)

अतः यह स्पष्ट है कि कविवर बुधजन सूरदास की ही भांति सहृदय थे, भक्त थे और उनके पद गेय थे । उन्होंने भी भाव-विभोर होकर सगुण निर्गुण के गीत गाये हैं । यद्यपि सूरदास व बुधजन दोनों ही कवियों ने दास्य-भाव की भक्ति की है तथापि दोनों के दास्य भाव में अन्तर है । सूरदास के आराध्य देव अपनी कृपा से भक्त को अपने समान बनाने वाले हैं। वे जब चाहेंगे तभी भक्त का उद्धार हो सकेगा । दूसरे शब्दों में सूर के प्रभु ही कर्ता हैं । वे ही भक्त को पार-लगाने वाले हैं, परन्तु कविवर बुधजन के प्रभु कर्ता-धर्ता नहीं हैं । उन्होंने भगवान की भक्ति करने की प्रेरणा तो केवल इसलिये दी है कि वीतराग के गुणों की स्वीकृति के साथ वीतराग बनने का लक्ष्य प्रशस्त हो । क्योंकि भक्त स्वयं सोऽहं की अनुभूति करना चाहता है। अतएव व्यवहार से भक्ति के माध्यम से वह साध्य की प्राप्ति का लक्ष्य निर्धारित करता है । इस लक्ष्य निर्धारण में अपने अवगुण-दोषों का चिंतन करना और वीतरागता स्वरूप वीतराग प्रभु का महात्म्य प्रकट करना स्वाभाविक है । अतएव लौकिक व्यवहार से यह कहा जाता है कि हे प्रभो ! आप पतितों के उद्धारक हैं । आप ही संसार रूपी समुद्र से मेरी जीवन-नौका को पार लगाने वाले हैं । यथार्थ में प्राणी ही अपने पुरुषार्थ से अपने ही भीतर विराजमान परमात्म शक्ति को व्यक्त कर परमात्मा बनता है, किन्तु भक्ति के आवेश में अपने आराध्य के महत्व को बढ़ा-चढ़ा कर कहता हुआ, उसे ही सर्वश्रेष्ठ बताता हुआ उपचार से इस प्रकार का वर्णन करता है ।

६. संत काव्य परम्परा में बुधजन

"संत शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में अनेक विद्वानों ने किया है । कुछ लोग "संत" का अर्थ करते हैं–बुद्धिमान, पवित्रात्मा, सज्जन, परोपकारी, सदाचारी व्यक्ति । कुछ लोग संत शब्द को शान्त का रूपान्तर मानते हैं और उनकी निरुक्ति निम्न प्रकार करते हैं :—

"शं-सुखं, ब्रह्मानन्दात्मकं विद्यते यस्य" अर्थात् जिसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो गई है वह संत है । यह शब्द मूलतः सन् शब्द का बहुवचन है । सन् शब्द अस् (भुवि) अस् (होना) धातु से बने हुए "सत्" का पुल्लिग रूप है जो शतृ प्रत्यय लगाकर प्रस्तुत किया गया है अतः इसका अर्थ हुआ होने वाला या रहने वाला ।

भाव यह है संत शब्द अपने मौलिक अर्थ में शुद्ध-अस्तित्व मात्र का बोधक है। शास्त्रों में इसका अर्थ उस परम-तत्व के लिये प्रयुक्त हुआ है जिसका कभी भी नाश नहीं होता। जो सदा एक रस तथा अविकारी है। उसी को सत्य के नाम से भी अभिहित किया गया है।

वैदिक साहित्य में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। वहां इस शब्द का प्रयोग ब्रह्म यानी परमात्मा के अर्थ में हुआ है। कुछ महात्माओं ने संत एवं परमात्मा को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है।

उपरोक्त व्याख्या के आधार पर अन्य संतों की भांति मैं "कविवर बुधजन" को आध्यात्मिक परम्परा का संत मानता हूं क्योंकि वे मुख्यतः अध्यात्म रस के रसिक थे। आत्मा की चरमोन्नति के उद्घोषक थे हिन्दी साहित्य में निर्गुण धारा एवं सगुण धारा के संतों ने जिस प्रकार ब्रह्म के निर्गुण-सगुण रूप की भक्ति की है उसी प्रकार "बुधजन" ने निर्गुण (सिद्ध) सगुण (अर्हन्त) इन दोनों रूपों की भक्ति की है। उनका भगवत् प्रेम सरसता का संचार करता है। इस विषय में डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री लिखते हैं :—

जैन संतों का भगवत् प्रेम शुष्क सिद्धान्त नहीं "अपितु स्थायी प्रवृत्ति है। यह आत्मा की अशुभ प्रवृत्ति का निरोध कर शुभ प्रवृत्ति का उदय करता है, जिससे दया, क्षमा, शान्ति आदि श्रेयस्कर परिणाम उत्पन्न होते हैं। जैन संतों का वर्ण्य-विषय भक्ति और प्रार्थना के अतिरिक्त मन, शरीर, इन्द्रिय आदि की प्रवृत्तियों का अत्यन्त सूक्ष्मता और मार्मिकता के साथ विवेचन करना एवं आध्यात्मिक भूमियों को स्पर्श करते हुए सहज समाधि को प्राप्त करना है[1]।"

व्यक्ति से समाज बनता है और समाज की भूमिका पर व्यक्ति का विकास होता है। हजारों वर्षों से संत और ज्ञानी तथा विचारक विचार करते आये हैं कि समाज की व्यवस्था ठीक रहने, लोगों में योग्य गुणों का विकास होने और सुख पूर्वक जीवन बिताने के लिये किन-किन नियमों या गुणों की आवश्यकता है। संत और ज्ञानी प्रायः सार्वकालिक और सार्वजनिक होता है। वह जो कुछ सोचता है सबके लिये सोचता है और हम उनके उपदेशों को सुनकर हित के मार्ग पर चलते हैं। अतः सन्त हमारे महान् उपकारी हैं।

कविवर "बुधजन" ने अपने साहित्य में प्रतिपादित किया—सुख प्राप्ति की पहली शर्त यह है कि आदमी अपने लिये कम से कम लेकर दूसरों को अधिक से अधिक सेवा दे। ऐसा आदमी जहां जाता है, आदर पाता है और सुख की वृद्धि होती है। उससे किसी को कष्ट नहीं होता। कुटुम्ब में रहकर वह अपने से बड़ों की सेवा करता है। छोटों पर प्रेम और वात्सल्य रखता है। समाज में भी वह

---

१. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री : हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग १, पृ० सं० १०६-१०७, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन प्रथम संस्करण १९५६।

अप्रमत्त भाव से अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। कुटुम्ब और समाज के लिये की गई उसकी सेवा देश के लिये पूरक ही होती है क्योंकि ऐसा आदमी अपनी मर्यादा को जानता है और किस क्षेत्र में कितनी सेवा करनी चाहिये यह विवेक उसे होता है। उसका ध्येय सब की भलाई होने से किसी एक की भलाई के लिये वह दूसरों को कष्ट नहीं देता। एक की सेवा के लिये दूसरों की कुसेवा नहीं करता इत्यादि।

कवि बुधजन के अनुसार संत में निम्न गुणों का होना आवश्यक है—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) संयम (४) समन्वयदृष्टि (५) विवेक (६) पुरुषार्थ और अनासक्तभाव। कवि ने अपना साधना मय जीवन इसी विचारधारा को मूर्त रूप देने में लगाया। परमार्थ चिंतन और लोक कल्याण में जो अपना समूचा जीवन बिताये वही सन्त है। वे सबका समान रूप से उदय चाहते थे। शास्त्रों की पुरानी लकीर पीटने में उनका विश्वास नहीं था वे शास्त्रों के आधार पर अपने जीवन में प्रयोग करते रहे। शास्त्रों में से उन्होंने ऐसे तत्वों को चुना जो व्यक्ति और समाज के लिये लाभदायक थे।

साधारणतया ऐसा समझा जाता है कि जो घर छोड़ दें वह सन्त है, परन्तु संत को वनवासी या साधु होना ही चाहिये यह कोई नियम नहीं है। गृहस्थी में रहकर भी वह अनासक्त भाव से रह सकता है। अपनी बुद्धि से निर्णीत कर्म में फल की आकांक्षा न रखते हुए लगे रहने वाला व्यक्ति ही संत है फिर चाहे वह गृहस्थ हो या वनवासी। गृहस्थ के अनासक्त भाव का वर्णन कविवर बनारसीदास ने इस प्रकार किया है।

"कमल रातदिन पंक में ही रहता है और पंकज कहलाता है परन्तु वह पंक से सदा ही अलग रहता है। मंत्रवादी सर्प को अपना शरीर पकड़ाता है परन्तु मंत्र की शक्ति से विष के रहते हुए भी सर्प का डंक निर्विष रहता है। जीभ चिकनाई को ग्रहण करती है, परन्तु वह सदा ही रूखी रहती है। पानी में पड़ा हुआ सोना काई से अलग रहता है। इसी प्रकार ज्ञानी जन (संतजन) संसार में अनेक क्रियाओं को करते हुए भी अपने को सभी क्रियाओं से भिन्न मानता है। उन क्रियाओं में मग्न नहीं होता। इसलिये सदैव ही निष्कलंक रहता है[1]।"

---

१. जैसे निशिवासर कमल रहे पंक ही में, पंकज कहावे पैन वाके ढिग पंक है।
जैसे मंत्रवादी, विषधर सो गहावेगात, मंत्र की शक्ति वाके विनाविष डक है।
जैसे जीभ गहे चिकनाई रहे रूखे अंग, पानी में कनक जैसे काई से अटंक है।
तैसे ज्ञानवान नाना भांति करतूत ठाने, किरिया तें भिन्न माने यातें निष्कलंक है।
कविवर बनारसीदास : प्राचीन हिन्दी जैन कवि, पृ० ६० भारत वर्षीय जैन साहित्य सम्मेलन, दमोह।

"संसार की जड़ मोह है। इसके अभाव में अनायास संसार चला जाता है। आत्मा की विकार परणति का नाम ही तो संसार है। यद्यपि उस विकार परणति के उपादान कारण हम ही तो हैं। ज्ञेय पदार्थ विकारी नहीं। वह तो विभिन्न मात्र है। आत्मा का ज्ञान जो है वह ज्ञेय के निमित्त से कोई विकार को नहीं प्राप्त होता है[1]।"

संत तुलसी ने संतसंग को राम भक्ति का अनिवार्य अंग माना है और यह भी लिखा है कि संतों का संग हरिकृपा से ही मिलता है उन्होंने संत (साधु) संगति का ही दूसरा पक्ष असंत (असाधु) से असहयोग करना बताया है। इसीलिये संत तुलसीदास अपने एक प्रसिद्ध पद में कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति से सर्वथा असहयोग ही करना होगा जिसे सीताराम जैसे संत प्रिय नहीं है[2]।

तुलसी स्वयं स्वीकार करते हैं कि मुझे राम कथा संत संसर्ग से ही प्राप्त हुई है। इससे स्पष्ट है कि राम भक्ति का सबसे आवश्यक अंग संतसंग ही है।

"रामचरित मानस का प्रारंभ करते हुए गोस्वामी जी ने मंगलाचरण और गुरु वंदना के अनंतर सबसे प्रथम संत वंदना की है। संत और भक्त का सबसे बड़ा लक्षण है परोपकार। वे मित्र हों या शत्रु। सभी का निष्प्रयोजन निरंतर कल्याण करने में निरत रहते हैं[3]।"

संत तुलसी की भांति जैन कवि दौलतराम कहते हैं :—

"अरि मित्र महल मसान कंचन, कांच निंदन थुतिकरन।
अर्घावतारन असिप्रहारन में सदा समता धरन॥"

"शत्रु और मित्र, महल और मसान, कंचन और कांच, निंदा और स्तुति पूजा और असिप्रहार इन सभी अवस्थाओं में संत जन सदा समता भाव धारण करते हैं[4]।"

संतकबीर के रहस्यवाद सम्बन्धी अनेक पद जैन कवियों के पदों से साम्य रखते हैं। कबीर ने माया को महाठगनी कहा है। जैन कवि भूधरदास भी "सुनिठगिनीमाया तें सब जग ठगखायां" द्वारा माया को ठगिनी कह रहे हैं। अन्यान्य संत कवियों की भांति बुधजन ने भी अनेक सरस पदों की रचना की है। उन्होंने चित्त की शुद्धि व सम्यग्ज्ञान को तप और दान से अधिक महत्व दिया है। वे दूसरों की शुद्धि करने में विश्वास नहीं करते स्वयं शुद्ध होने में विश्वास करते हैं।

---

१. गणेशवर्णी: अनेकान्त वर्ष ११, किरण ६, पृ० सं० २४१।
२. जाके प्रिय न राम बैदेही, सो छांड़िये कोटि बैरीसम, जद्यपि परमसनेही।
३. डॉ० माताप्रसाद गुप्त: तुलसी, पृ० सं० १२०–१२१, सन् १९५२, हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय।
४. दौलतराम : छहढाला, छठीढाल, पद्य सं० ६, सरल जैन ग्रंथ भंडार, जबलपुर।

सन्त-जन आध्यात्मिकता के सूर्य हैं। जिनसे ज्ञान की किरणें समस्त जगत के ऊपर पड़ती हैं। जिन्होंने अश्रद्धा का आतपत्र नहीं धारण किया है। वे उनसे संजीवनी शक्ति खींच सकते हैं।

"सामान्य लोगों को चाहिये कि वे सत्संग किये जांय। रस्सी की रगड़ से पत्थर भी घिस जाता है अतः बहु कालीन संगति का असर हमारे ऊपर अवश्य पड़ता है। सत्संग के सम्बन्ध में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं (१) मन लगाकर किया जाय (२) बहुत काल तक किया जाय। यदि मन लगाकर बहुत काल तक सत्संग किया जाय तो उसका असर होना और हमें लाभ पहुंचना अवश्यंभावी है[1]।"

रामचरित मानस में तुलसीदास जी ने इस बात की समीक्षा की है कि कवि लोग संत के हृदय को नवनीत के समान बताते हैं परन्तु सन्त हृदय के लिये नवनीत की उपमा योग्य नहीं है क्योंकि मक्खन तो स्वतः के ताप से पिघलता है जबकि संत का हृदय पर पीड़ा के कारण ही द्रवित हो जाता है।

"संतों और रामभक्तों के जो लक्षण गोस्वामी जी ने बताये हैं उनसे राम भक्ति का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। उनकी राम भक्ति कोई लोक-बाह्य साधन नहीं है। वह परोपकार, लोककल्याण और सचराचर विश्व सेवा के रूप में प्रस्फुटित होती है। रामचरित मानस की भूमिका में जो सबसे बलशाली वंदना है वह राम नाम की है[2]।

कबीरदास आदि निर्गुनिये संतों की भांति 'बुधजन' ने गुरु की महत्ता समान रूप से स्वीकार की है। उन्होंने गुरु के प्रसाद को पाने की आकांक्षा की है। कबीर दास ने गुरु को ईश्वर से बड़ा बताया जबकि बुधजन ने ईश्वर को ही सबसे बड़ा गुरु माना है। बुधजन ने पंच परमेष्ठी को परम गुरु माना है। अर्हंत परमेष्ठी से प्रार्थना करते हुए कहते हैं :—

"हे प्रभु ! श्रेष्ठ पदार्थ समझकर मैं आपके चरणों की पूजा करता हूं। भक्ति पूर्वक पूजा करने वाला सेवक भी आपके समान बन जाता है अर्थात् वह भी परमात्मा बन जाता है[3]।"

"सत् संगति में रहने से जीवन सफल हो जाता है परन्तु जो खराब मार्ग से गुजरता है उसके जीवन में कलंक (दोष) अवश्य लगता है[4]।" यह कहकर "बुधजन"

---

१. डॉ० नरेन्द्र भानावत:, जिनवाणी पत्रिका, वर्ष ३३, अंक ४-७

२. डॉ० माताप्रसाद गुप्त: तुलसी, पृ० सं० १२०-१२२, सन् १९५२, हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय।

३. पूजूं तेरे पायं कूं, परम पदारथ जान। तुम पूजेते होत है सेवक आप समान ।। बुधजन: बुधजन सतसई; पद्य सं० ८ पृ० सं० २, सनावद।

४. सतसंगति में बैठतां, जनमत सफल ह जाय। बुधजन: सतसई: पृ० ९० पृ० सं० ४४५।

सतसंग की महिमा बता रहे हैं। उनका लक्ष्य है कि संसार में मनुष्यों को जो आदर प्राप्त होता है वह सत् संगति के कारण ही प्राप्त होता है।

शिल्पी के कर स्पर्श से बजता हुआ मुरज क्या कुछ अपेक्षा करता है ? अर्थात् नहीं। उसी प्रकार तीर्थंकर प्राणिमात्र के हित का उपदेश देते हैं। तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का खिरना लोक मंगल हेतु है। उसी परम्परा को जैनाचार्यों एवम् जैन कवियों ने निभाया। बुधजन ने भी उसी परम्परा का निर्वाह किया है। पूर्व परम्परानुसार अपने ग्रन्थों के प्रारम्भ में अरहन्तों और सिद्धों की भक्ति की है। आज भी वही परंपरा प्रचलित है। आज भी जैन पाठ शालाओं में 'ऊं नमः सिद्धेभ्यः' का पाठ प्रारम्भ से पढ़ाया जाता है। यह सत् संगति ही है क्योंकि सत् का अर्थ होता है परमात्मा, इसलिये सत्संग का अर्थ हुआ ब्रह्म साक्षात्कार। सत् का दूसरा अर्थ है सज्जन, इसलिये सत्संग का अर्थ हुआ सज्जनों का संग। सत् का तीसरा अर्थ होता है सच्छास्त्र अर्थात्। इसलिये सत्संग का अर्थ हुआ ग्रन्थावलोकन, तीर्थ सेवा आदि सद्विषयों की ओर प्रवृत्ति। "बुधजन" का विचार है कि सज्जनों का प्रभाव हमारे हृदय में अवश्य ही श्रद्धा की वृद्धि करता है। इसके लिये दो बातों की बड़ी आवश्यकता है। एक तो विवेक की (वैराग्य के प्रधान आधार) दूसरे पुण्य पुंज की (धर्माचरण की)।

तुलसीदास जी भी कहते हैं कि पुण्यपुंज के बिना तो संतों का मिलना ही संभव नहीं और विवेक के बिना उनकी परख होना कठिन है।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों, संतों एवं दार्शनिकों ने सत् रूपी परमतत्व के अनुभव करने वाले (सम्यग्दृष्टि) जीवों को संत माना है और इसी कारण गृहस्थ होते हुए भी मैं कविवर बुधजन को संतों की श्रेणी में गिनता हूं। अपनी इस मान्यता की पुष्टि में मैं आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का कथन प्रस्तुत करता हूं :—

"अतएव" संत शब्द, इस विचार से उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत् रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो और जो, इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। जो सत्य स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका है अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखंड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया है, वही संत है[1]।"

७ बुधजन का भक्तियोग

"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार हिन्दी का भक्तिकाल वि० सं० १४००

---

१. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ० संख्या ५, द्वितीय संस्करण, संवत् २०२१, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद

से १७०० तक माना गया है[1]।" परन्तु यदि हम जैन हिन्दी साहित्य का भली भांति अवलोकन करें तो हम पायेंगे कि हिन्दी की जैन भक्तिपरक प्रवृत्तियां वि० सं० ६६० से १६०० तक चलती रही। हां! इतना अवश्य है कि इसका विकास १४ वीं शताब्दी तो जैन भक्ति के पूर्ण यौवन का काल था। १५ वीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक के ४०० वर्षों के काल में जैन भक्त कवियों ने भक्ति सम्बन्धी रचनाएं की जो पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं[2]।" आचार्य शुक्ल ने इन जैन भक्ति की रचनाओं का अवलोकन करने की कृपा नहीं की होगी इसीलिये उन्होंने १४०० से १७०० तक के काल को भक्ति काल स्वीकार किया।

इस काल में भक्ति की धारा अत्यधिक पुष्ट हुई। जैन कवियों ने भक्ति विषयक रचनाएं कर हिन्दी साहित्य की धारा को समृद्ध बनाया है। जैन कवियों ने अरहंत एवं सिद्ध दशा में स्थित आत्माओं को अपना आराध्य माना है। अरहंत दशा को हम सगुण एवं मुक्त या सिद्ध दशा को निर्गुण कह सकते हैं। अतः जैन साहित्य में सगुण व निर्गुण इन दोनों ही की भक्ति की गई है। इन्हीं को जैन कवियों ने अपना आराध्य माना है। इनकी आराधना करने से हमारी परिणति शुद्ध होती है। अतः इन्हीं को आलंबन मानकर जैन कवियों ने भक्तिपरक अनेक रचनाएं की क्योंकि उनका विश्वास था कि इन्हीं के गुणों से प्रेरणा पाकर यह जीव मिथ्यात्व भाव को दूर करने का प्रयत्न करता है। आत्मा की शुद्ध दशा का नाम ही परमात्मा है। प्रत्येक जीवात्मा कर्मबन्धन से विलग होने पर परमात्मा, बन जाता है। अतः अपने उत्थान और पतन का दायित्व स्वयं अपना है अपने विचारों एवं कार्यों से जीव बंधता है और अपने ही विचारों एवं कार्यों से बन्धनमुक्त होता है। ईश्वर की उपासना करने से साधक की परिणति स्वतः शुद्ध हो जाती है।

जैन भक्त कवियों ने अपनी भक्ति-परक रचनाओं में अपने आराध्य को वीतराग माना है। उन्होंने अपने आराध्य से सांसारिक पदार्थों की याचना कभी नहीं की। उनकी स्पष्ट मान्यता रही है कि निर्विकार होने से ईश्वर किसी को कुछ देता-लेता नहीं है। अपने किये कर्मों का फल प्रत्येक जीव को स्वयं भोगना पड़ता है क्योंकि कर्मों का कर्त्ता या भोक्ता जीव स्वयं है। इस प्रकार की भक्ति भावना से प्रेरित होकर ही जैन कवियों ने भावात्मक पदों की रचना की है। अवतारवाद जैन भक्त कवियों को स्वीकार नहीं।

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् २००३ वि०

२. प्रेमसागर जैन हिन्दी जैन भक्तिकाल और कवि भूमि का पृ० १३ भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन।

कविवर बुधजन ने अपने आराध्य को अनंत गुणों का भंडार माना है। जिससे कोई भी साधक अपनी सुप्त आत्मिक शक्तियों को प्रगट करने की प्रेरणा प्राप्त करता है। वस्तुतः आराध्य के गुणों की प्रशंसा करना ही भक्ति है। भक्ति करने से चित्त निर्मल होता है। चित्त की निर्मलता से पुण्य का बंध होता है, वही पुण्य उदय काल में सुख की सामग्री जुटाता है।

तथ्य यह है कि जैन भक्त कवियों ने जैन दर्शन के सिद्धान्तों के अनुरूप निष्काम भक्ति की प्रेरणा दी है। इस विषय में आचार्य काका कालेलकर के निम्न उद्गार दृष्टव्य हैं—

"सचमुच भक्ति ही जीवन है। नदी का सागर की तरफ बहना, जीव का शिव की ओर अखण्ड चलने वाला आकर्षण "सीमा" का परिपुष्ट होकर "भूमा" में समाजाना, यही तो भक्ति है और भक्ति तो अखण्ड बढ़ने वाली रसमय प्रवृत्ति है। बहने वाली नदियां जिस समुद्र में जाकर मिलती हैं, उस समुद्र को न बढ़ना है, न घटना है, तो भी उसमें ज्वार भाटा की लीला चलती है और किसी भी नदी के प्रवाह की अपेक्षा स्वयं समुद्र के अन्तः प्रवाह अधिक वेगवान और समर्थ होते हैं[1]। भक्ति का क्षेत्र अत्यन्त विशाल है उसमें जाति-पाति का भेद नहीं होता। मुनि वादिराज का शरीर कोढ़ युक्त था प्रभु स्मरण से वह स्वर्ण जैसा चमक उठा। सांप और मेंढक जैसे जीवों को स्वर्ग की प्राप्ति हुई। धनंजय का पुत्र प्रभु की भक्ति से जीवित हो गया। भक्ति के प्रताप से संसार के सुख मिलते हैं पर जैन भक्त संसार के सुखों की कामना से कभी भी भक्ति नहीं करता। वह तो आध्यात्मिक सुख को ही अपना लक्ष्य बनाता है। प्रभु स्मरण से मानतुंग के बन्धन टूट गये पर मानतुंग ने बन्धन मुक्त होने की कामना से प्रभु-स्मरण नहीं किया।

कविवर "बुधजन" की जिनेन्द्र भक्ति प्रसिद्ध है। वे जयपुर राज्य का दीवान अमरचन्द के यहां प्रधान मुनीम थे। दीवान ने उन्हें एक जिन मंदिर बनवाने की आज्ञा दी परन्तु कवि ने दो जिन मंदिर बनवाये। इसके पीछे उनकी भावना यही थी कि ये मंदिर आराधना के घर हैं। यहां आकर अधिक से अधिक लोग भक्ति करें। आपके भक्ति पूर्ण पद इस बात को द्योतित करते हैं कि आपकी भक्ति निष्काम थी। वे कभी-कभी भक्ति रस की सरस धारा में निमग्न हो इस बात का विचार किया करते थे कि हे बुधजन ! तूने जिनेन्द्र के भजन अथवा आत्मदेव के आराधना बिना ही अपने मानव जीवन को यों ही गंवा दिया और जो कुछ रहा है वह भी बीता जा रहा है। तूने पानी आने से पहले पाल न बांधी फिर पीछे पछताने से क्या

---

१. काका कालेलकर : हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि का प्राक्कथन पृ० सं० ३, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

लाभ ? जप-तप-संयम का कभी तूने आचरण नहीं किया। न किसी को दान ही दिया किन्तु धन और रामा की सार सभाल करते हुए उन्हीं के आशा जाल में बंधकर तू ने इस मानव जीवन को हराया है। अब तू वृद्ध हो गया। शरीर और सिर कांपने लगे। दांत भी चलाचल हो रहे हैं। वे एक एक करके बिदा लेते जा रहे हैं। चलना फिरना भी अब किसी लाठी के अवलबन बिना नहीं हो सकता। आशा रूपी गड्ढा इतना विस्तृत हो गया कि अब उसका भरना असंभव सा हो गया है। शारीरिक और मानसिक अनन्त वेदनाएं तुझे चैन नहीं लेने देतीं फिर भी तू अपने को सुखी समझने का यत्न करता है। यही तेरी अज्ञानता है। दूसरों को उपदेश देता फिरता है—हित की बातें सुझाता है, पर स्वयं अहित के मार्ग में चल रहा है। इस तरह तेरा कल्याण कैसे हो सकता है ? इसका स्वयं विचार कर और अपने हित के मार्ग में लग। इसी में तेरी भलाई है। जिनेन्द्र ही तारण-तरण हैं। इसी से मैंने अब उन्हीं की शरण ग्रहण की है। इस तरह मन में कुछ गुन गुनाते हुए कविवर एक दिन बोल उठे—

सरनगही मैं तेरी, जग जीवनि जिनराज
जगतपति तारन-तरन, करन पावन जग हरन करन भव फेरी ।।
ढूंढत फिरयो भरयो नाना दुःख, कहूं न मिली सुख सेवी
यातें तजी आन की सेवा, सेवा रावरी हेरी ।।
परमें मगन बिसार्‌या आतम, धर्‌यो भरम जग केरी।
ए मति तजूं भजूं परमातम, सो बुधि कीजे मेरी ।।

एक दूसरे दिन जिनेन्द्र—श्रद्धा को और भी निर्मल बनाने हेतु अपनी आत्म कहानी कहते हुए तथा मोह रूपी फांसी को काटकर अविचल सुख प्राप्त करने तथा केवल ज्ञानी बनने की अपनी भावना को व्यक्त करते हुए कविवर कहते हैं—

मेरी अरज कहानी सुनिये केवलज्ञानी।
चेतन के संग जड़ पुद्गल मिल, मेरी बुधि बीरानी ।।१।।
भववन माहीं फेरत मोकूं, लखि चौरासी थानी।
को तू वरनूं तुम सन जानो, जन्म-मरण दुख खानी ।।२।।
भाग भले तें मिले "बुधजन" कूं, तुम जिनवर सुखदानी।
मोह फांसि को काट प्रभू जी, कीजे केवलज्ञानी ।।३।।
हूं तो "बुधजन" ज्ञाता द्रष्टा, ज्ञाता तन जड़ सरधानी।
वे ही अविचल सुखी रहेंगे, होंय मुकितवर प्रानी ।।४।।

यद्यपि मैं ज्ञाता द्रष्टा हूं फिर भी मोह की यह वासना अनन्त संसार का

कारण है। उस अनन्त संसार का छेदन करना ही आत्म-कर्त्तव्य है। इस प्रकार कवि आत्म-रस में विभोर हो शरीर को पुद्गल का जामा समझकर सुगुरु की संगति अथवा कृपा से अपनी निधि पा गये।

'बुधजन' जहां एक ओर कवि हैं वहां दूसरी ओर भक्त भी हैं। भक्ति का प्रतिपादन यदि बुधजन का साध्य है तो काव्य साधन है।

बुधजन की भक्ति पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएं हैं :—

(१) अनन्य भावना

(२) आत्म-निवेदन परक भक्ति

बुधजन की अनन्य भावना—बुधजन में अनन्य भावना पूर्ण रूप मे उपलब्ध होती है। वे अपने आराध्य के गुणों से पूर्णतया परिचित हैं और इसीलिये वे उन गुणों का आश्रय लेकर अपने उद्धार की बात करते हैं। वे अपने आराध्य के उद्धारक रूप का गुणगान करते हुए "बुधजन सतसई" में कहते हैं :—

वारक वानर बाघ अहि, अंजन भील चंडार।
जाविधि प्रभु सुखिया किया, सोही मेरी बार ॥३६॥
तुम तो दीनानाथ हो, मैं हूं दीन अनाथ।
अब तो ढील न कीजिये, भलौ मिल गयो साथ ॥४२॥
और नाहिं जाचूं प्रभू, ये वर दीजे मोहि।
जौलों शिव पहुंचूं नहीं, तौलों सेऊं तोहि ॥४४॥

यहां "बुधजन" अपने दुर्गुणों का संकेत करके अपने उद्धार की बात करते हैं। उन्होंने वानर, व्याघ्र, सर्प, अंजन चोर, भील और चांडाल जैसे पातकियों का उद्धार कर दिया। इतना ही नहीं कविवर की श्रद्धा व स्नेह अपने आराध्य देव के प्रति इतना अविच्छिन्न बन जाता है कि उसके बिना वे एक क्षण भी नहीं रह सकते। अपितु यह कहना चाहिए कि वे उसे एक क्षण के लिये भी छोड़ नहीं सकते। उन्हें प्रभु के चरणों की शरण इतनी प्रिय है कि वे जब तक मुक्ति लाभ न हो तब तक चरणों की शरण के सिवाय अन्य कुछ चाहते ही नहीं। वे कहते हैं :—

याचूं नहीं सुरवास पुनिनर राज परिजन साथ जी।
"बुध" याचहूं तुम भक्ति भव-भव, दीजिये शिवनाथ जी ॥२॥

यही कारण है कि वे जिनेन्द्र देव को छोड़कर अन्य देव की उपासना करना हास्यास्पद मानते हैं।

इससे अधिक दृढ़ अनन्य भाव की उद्घोषणा और क्या हो सकती है :—

"निन्दौ भावौ जसकरो, नाहीं कुछ परवाह।
लगन लगी जात न तजी, कीजो तुम निरवाह ॥

तुमें त्यागि और न भजूं, सुनिये दीनदयाल ।
महाराज की सेवे तजि, सेवे कौन कंगाल ॥१॥

परमात्म पद की प्राप्ति के लिये वीतराग और सर्वज्ञ की प्रतिमा का दर्शन, पूजन और स्मरण अत्यन्त आवश्यक है, यह हमारी भावना को शुद्ध करने का साधन है, इससे अशुभ कर्म छूटकर शुभ कर्मों का बल बढ़ता है। आत्मा के परिणाम निर्मल करने का यह सहज मार्ग है।

वीतराग प्रतिमा के द्वारा हम वीतराग प्रभु की आराधना करते हैं। उनसे शान्ति एवम् संतोष आदि गुणों की अभिलाषा की जा सकती है। परधन आदि सांसारिक कामनाओं की इच्छा करना भूल है। किसान का लक्ष्य अन्न-प्राप्ति के लिये खेती करना है। उसे गेहूं चावल आदि के साथ भूसा प्राप्त हो ही जाता है। उसी प्रकार भक्त को परमात्म-दशा की प्राप्ति के लक्ष्य रखते हुए धर्मानुराग से अभ्युदय पद स्वयमेव मिल जाता है। अतः प्रतिमा पूजा का लक्ष्य आत्म गुणों के विकास का ही रहना चाहिये।

गृहस्थ के देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट् आवश्यक कर्मों में भी पूजा और दान प्रमुख हैं[1]।

रयणसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने गृहस्थ और मुनि धर्म के कर्त्तव्यों को बताते हुए लिखा है :—

गृहस्थ धर्म में दान व पूजा ही मुख्य है। उसके बिना कोई श्रावक नहीं कहला सकता। मुनिमार्ग में ध्यान और अध्ययन (स्वाध्याय) मुख्य है। उनके बिना कोई मुनि नहीं कहला सकता।[2]

पूजा-भक्ति, गुणानुराग को कहते हैं। जिन प्रतिमा में आत्मा के निर्विकार शुद्ध स्वरूप को देखता हुआ सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को वैसा ही बनाने की ओर प्रयत्नशील रहता है। उसके आचरण में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों अंश दिखलाई पड़ते हैं, उसकी पूजा-भक्ति विलक्षणता को लिये हुए होती है। जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों धाराएं अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों के फल को प्राप्त कराने में कारण होती हैं। वास्तव में भगवान की भक्ति से भगवान बन जाता है।

आत्म निवेदन परक भक्ति :—

आत्म-निवेदन की भक्ति पद्धति में भक्त अपने अवगुणों का बखान करके अपने आराध्य से उन्हें निवारण करने के लिये प्रार्थना करता है :—

---

१. श्रावकयन : पं. नाथूलाल जी शास्त्री इन्दौर, नित्य पूजन पाठ संग्रह प्रकाशक श्री गेंदालाल रतनलाल सेठी, खातेगांव (म० प्र०)

२. आचार्य कुन्दकुन्द रयणसार पद्य क्रमांक ११
दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे, न सावया तेण विना।
झाणाज्झयणं मुक्खं, जइधम्मे ण तं विणा सोवि ॥

तुम तो दीनानाथ हो, मैं हूं दीन अनाथ ।
अब तो ढील न कीजिये, भलो मिल गयो साथ ।।४२।।
अरज गरज की करत हो, तारन-तरन सु नाथ ।
भव-सागर में दुःख सहूं, तारो गह करि हाथ ।।३७।।
बीती जिती न कहि सकूं, सब भासत है तोय ।
याही तें विनती करूं, फेरि न बीते मोय ।।३८।।[1]

भक्त अपने आराध्य को दीनानाथ और अपने आपको दीन मानता है और प्रार्थना करता है कि आप जैसे दीनानाथ को पाकर निश्चय ही मेरा भला होगा । वह अपने दुःखों को दूर करने के लिये अत्यधिक उत्सुक है । और प्रार्थना करता है कि हे प्रभु ! आप तरण-तारण हैं और मैं संसार समुद्र में पड़ा पड़ा दुःख भोग रहा हूं अतः कृपया मेरा हाथ पकड़कर मुझे उबार लीजिये मैंने आज तक जितने कष्ट सहन किये हैं उनका वर्णन नहीं कर सकता । आप सर्वज्ञ हैं । सब कुछ जानते हैं । अतः मेरी यही विनम्र प्रार्थना है कि मेरा उद्धार कर दीजिये ताकि अब मुझे संसार में भटकना न पड़े ।

---

१. बुधजन : बुधजन सतसई—एक अध्ययनः पं० सं० ४२–३७–३८, समावद ।

छह ढाला

पहली ढाल

मंगलाचरण (सोरठा छन्द)

पद्य—सर्व द्रव्य में सार, आतम को हितकार है।
नमहुं ताहि चितधार; नित्य निरंजन जानके ॥ १-१-१

अर्थ—(त्रैकालिक) शुद्धात्मा समस्त द्रव्यों में सार रूप और आत्मा के लिये परम हितकारी है, ऐसा जानकर मैं उसे मनोयोग पूर्वक नमस्कार करता हूं ॥१॥

अनित्य-भावना (चौपाई छन्द)

पद्य–आयु घटत तेरी दिनरात, होय निचीत रह्यो क्यों भ्रात।
जीवन धन-तन-किंकर-नारि, हैं सब जल बुदबुद उनहारि ॥ १-१-२

अर्थ–हे भाई ! तेरी आयु प्रतिक्षण घट रही है। तेरा यह यौवन, धन, सुन्दर शरीर, सेवक, स्त्री आदि सभी पदार्थ पानी के बबूले की भांति क्षणिक हैं, ऐसी दशा में तेरा निश्चिन्त रहना (प्रमाद भाव), आश्चर्यजनक है ॥२॥

अशरण भावना

पद्य–पूरन आयु वर्ष रिवन नाहि, दये कोटि धन तीरथ मांहि।
इन्द्र चक्रपति हू कहा करें, आयु अन्त तैं वे हू मरे ॥ १-१-३

अर्थ–करोड़ों की सम्पदा तीर्थ स्थानों पर, खर्च करने पर भी आयु की पूर्णता होने पर तू एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता इन्द्र, चक्रवर्ती आदि भी तेरी सहायता करने में सर्वथा असमर्थ हैं क्योंकि आयु के पूर्ण होने पर वे स्वयं भी मरण को प्राप्त करते हैं ॥३॥

संसार-भावना

पद्य–यो संसार असार महान, सार आप में "आपा" जान।
सुख तैं दुःख, दुःख तैं सुख होय, समता चारों गति नहिं होय ॥ १-१-४

अर्थ–यह संसार सर्वथा असार ही है। इसमें किंचित् भी सार नहीं है, निजात्मा ही उपादेय है ऐसा दृढ़ निश्चय करो। सुख के बाद दुःख और दुःख के

बाद सुख का क्रम निरन्तर चलता रहता है। चारों गतियों में से किसी भी गति में शान्ति नहीं है ॥४॥

एकत्व-भावना

पद्य–अनंतकाल गति-गति दुःख लह्यो, बाकीकाल अनंतो कह्यो।
सदा अकेलो "चेतन" एक, [illegible] ॥ १-१-५

अर्थ–इस जीव ने चारों गतियों में रहकर, अनन्तकाल तक दुःख भोगा। इसके अतिरिक्त निगोद-राशि में अनंतकाल संसार परिभ्रमण के लिये शेष है अतः यही विचार करना चाहिये कि मैं सदा ही चैतन्य स्वरूप आत्मा हूं, अकेला हूं और जिनेन्द्रदेव ने चारों गतियों के अतिरिक्त निगोद पर्याय के काल को अनंत ही बताया है परन्तु वास्तविकता यह है कि यह जीव अनंत गुणयुक्त सदा से अकेला ही है ॥५॥

अन्यत्व-भावना

पद्य–"तू" न किसी का, कोई नहीं तोय, तेरो सुख दुःख तो कों होय।
यातें "तोकों" तू ऊरधार, पर द्रव्यनि तें मोह निवार ॥ १-१-६

अर्थ–तू किसी का नहीं और कोई तेरा नहीं। तू ही अपने शुभाशुभ कर्म के उदय से प्राप्त सुख दुःख का भोक्ता है। अतः यह निश्चय कर कि तेरा हितकारक तू ही है। अतः तू पर-द्रव्यों के प्रति ममत्व भाव का परित्याग कर ॥६॥

अशुचि-भावना

पद्य–हाड़ मांस तन लिपटीचाम, रुधिर मूत मल पूरित धाम।
सो हू थिर न रहे खय होय, याकों तजै मिले शिवलोय ॥ १-१-७

अर्थ–यह तेरी मानव देह, हड्डी, मांस, रक्त, मूत्र, मल, मेदा, वीर्य जैसी घृणास्पद सप्तधातुओं का घर है। इसके ऊपर चमड़ी लिपटी हुई है। ऐसी अपवित्र वस्तुओं का घर यह मानवदेह स्थिर भी नहीं है, नष्ट हो जाती है। जो पुरुष अपने आत्म पुरुषार्थ के द्वारा इसकी ममता को छोड़ देता है, वही मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है ॥७॥

आस्रव-भावना

पद्य–हित-अनहित-तनकुल-जनमाहिं, खोटि बानि हरो क्यों नाहिं।
यातें पुद्गल-करमन जोग, प्रनवै दायक सुख दुःख रोग ॥ १-१-८

अर्थ–शरीर, कुटुम्बीजन, तेरा हिताहित कर सकते हैं। ऐसी खोटी मान्यता को तू छोड़ता क्यों नहीं है। इसी मिथ्याबुद्धि का निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्माण वर्गणाएं कर्म रूप परिणमित हो जाती हैं जो कि सुख-दुःख रूप (रोग) का कारण बन जाती है ॥८॥

संवर भावना

पद्य–पांचों इन्द्रिन के तज फैल, चित्त निरोधि लागि शिव गैल ।
"तो" में तेरी तू कर सेल, कहा रह्यो, है कोल्हू बैल ।। १-१-९

अर्थ–हे भाई ! तू पांचों इन्द्रियों के समस्त विषयों को त्याग कर, अपने मन को वश में करके, मोक्ष मार्ग में लग । तू अपने आत्म-स्वरूप में विहार कर । तू कोल्हू के बैल की तरह अज्ञानी क्यों बन रहा है ।।९।।

निर्जरा भावना

पद्य–तजि कषाय मन की चलचाल, ध्याओ अपनो रूप रसाल ।
झरैं करमबन्धन दुःख-दान, बहुरि प्रकाशै केवल ज्ञान १-१-१०

अर्थ–हे भाई ! तू विषय कषायों और अपने मन की चंचलता भरी आदत को त्यागकर अपने आनन्दमयी निज स्वरूप का ध्यान कर, जिससे तेरे दुःख दायक कर्मबन्ध की निर्जरा हो जाय और केवल ज्ञान का प्रकाश हो ।।१०।।

लोक–भावना

पद्य–तेरो जनम हुवोनहिं जहां, ऐसो खेतर नाहीं कहां ।
या ही जनम भूमिका रचो, चलो निकसि तो विधि तैं बचो ।। १-१-११

अर्थ–संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहां तू ने जन्म न लिया हो । अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पंच परावर्तन रूप संसार में तू सदा से भटक रहा है अतः अब बुद्धिमानी इस बात में है कि इस मनुष्य जन्म में ऐसी भूमिका तैयार करो कि जिससे पुनः पुनः शरीर धारण न करना पड़े और कर्मों के चक्कर से बच सको ।।११।।

बोधि दुर्लभ–भावना

पद्य–सब व्योहार क्रिया का ज्ञान, भयो अनंती बार प्रधान ।
निपट कठिन अपनी पहिचान, ताकों पावत होत कल्याण ।। १-१-१२

अर्थ–हे भाई ! तू ने व्यवहार चारित्र के ज्ञान को ही अनंतबार प्रधानता दी परन्तु अपने शुद्धात्म स्वरूप के ज्ञान एवं पहिचान को प्रधानता नहीं दी जबकि कल्याण इसी की प्रधानता से होगा ।।१२।।

धर्म–भावना

पद्य–धर्म स्वभाव आप सरधान, धर्म न शील, नन्हान न दान ।
"बुधजन" गुरु की सीख विचार, गही धाम आतम हितकार ।। १-१-१३

अर्थ–आत्मा की यथार्थ श्रद्धा ही तेरा स्वाभाविक धर्म है । संयम, स्नान,

दानादि तेरे स्वाभाविक धर्म नहीं हैं। "बुधजन" कवि कहते हैं कि पूर्वाचार्यों की इस शिक्षा को हृदयंगम करो और आत्म-हितकारी मोक्षमार्ग में लगो ।।१३।।

दूसरी ढाल (जोगीरासा या नरेन्द्र छन्द)

पद्य–सुनरे जीव कहत हूं तोकों, तेरे हित के काजे ।
व्हे निश्चल मन जब तू धारे, तब कछु इक तो लाजै ।
जो दुःख तैं थावर तन पायो, वरन् सकूं सो नाहीं ।
ठारे बार मुवो अरु जीयो, एक सांस के माहीं ।। २-१-१४

अर्थ–हे प्राणी ! तू (मन लगाकर) सुन । मैं तेरी ही भलाई की बात कहता हूँ । जब तू एकाग्रचित्त हो इस बात को समझेगा तब तुझे अपने पूर्वकृत मिथ्यात्व रूप भावों के कारण स्वयं पर लज्जा आने लगेगी । तू ने एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण का जो दुःख उठाया है उसका वर्णन नहीं हो सकता । ऐसे दुःखों से निकलकर काललब्धि वश भूमि, जल, पावक, वायु और वनस्पति रूप स्थावर का प्रत्येक शरीर प्राप्त किया ।।१४।।

पद्य–काल अनंतानंत रह्यो यों, पुनि विकलत्रय हूवो ।
बहुरि असैनी निपट अज्ञानी, छिन-छिन जीयो मूवो ।।
ऐसे जनम गयो करमन-वश, तेरो वश नहिं चाल्यो ।
पुण्य-उदय सैनी पशु हूवो, तब हू ज्ञान न माल्यो ।। २-२-१५

अर्थ–हे प्राणी ! तू ने अनंतकाल तो स्थावर पर्याय का शरीर धारण कर बिता दिया । फिर मंद-कषाय-वश दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय (विकलत्रय) की पर्यायें प्राप्त कीं । फिर असैनी पंचेन्द्रिय हुआ परन्तु वहां मन के न होने से निपट अज्ञानी रहा और कर्मोदय के अधीन रहने से तेरा कुछ भी वश नहीं चल सका अर्थात् तू पुरुषार्थ न कर सका अतः तेरा जीवन व्यर्थ ही गया । यदि कभी पुण्योदय से सैनी पंचेन्द्रिय पशु बन गया तो वहां भी तुझे (सम्यक्) ज्ञान की प्राप्ति न हो सकी ।।१५।।

पद्य–जबर मिल्यो तिन तोहि सतायो, निबल मिल्यो तैं खायो ।
मात-तिया समभोगी पापी, तातें नरक सिधायो ।।
कोटिक बीछू काटत जैसे, ऐसी भूमि तहां है ।
रुधिर राध परवाह बहत है, दुर्गन्ध निपट जहां है ।। २-३-१६

अर्थ—पशु पर्याय में तू अपने से अधिक बलवान के द्वारा सताया गया और कभी तू ने अपने से निर्बल प्राणी को सताया या मारकर खा गया । तू ने माता

को स्त्री समान सेवन कर पाप उपार्जन किया (उस पाप के उदय से) तू ने नरक पर्याय प्राप्त की। उन नरकों में भूमि का स्पर्श करने से इतना दुःख हुआ जितना करोड़ों बिच्छुओं के काटने पर होता है। उन नरकों में खून और पीव का प्रवाह बहता रहता है जहां दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध है ॥१६॥

पद्य—घाव करत असि-पत्र अंग में, शीत-उष्ण तन गाले।
कोई काटे करवत कर गहि, कोई पावक जाले॥
जथाजोग सागर-थिति भुगतै, दुःख को अन्त न आवै।
कर्म-विपाक असा ही ह्वै तो, मानुष गति तब पावै॥ २-४-१७

अर्थ—उन नरकों में (सेमर) के वृक्ष हैं जिनके पत्ते गिरकर तलवार की तरह शरीर पर घाव कर देते हैं। उन नरकों में कोई नारकी किसी दूसरे नारकी को अपने हाथ में करवत लेकर काट डालता है। कोई किसी को अग्नि में जला देता है परन्तु उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती। अतः अपने कर्मोदय से प्राप्त सागरों की आयु पर्यन्त उन दुःखों को भोगता है। यदि कोई (पुण्य-संयोग) हुआ तो मनुष्य गति को प्राप्त करता है ॥१७॥

पद्य—मात उदर में रहे गींद ह्वे, निकसत ही बिललावे।
डम्मा-दांत-गला-विस्फोटक, डाकिनि तैं बच जावै॥
तो जोवन में भामिनि के संग, निशि-दिन भोग रचावै।
अन्धा ह्वै धंधे दिन खोवे, बूढ़ा नार हलावै॥ २-५-१८

अर्थ—(मनुष्य पर्याय में आने पर) प्रथम तो माता के उदर में गिंडोले की भांति (सिमटकर) रहता है। वहां से निकलते ही रोने लग जाता है। बचपन में डाढ़, दांत, फोड़ा और डाकिनि से बच गया तो युवावस्था में पत्नी के साथ भोगों में रात-दिन लिप्त रहता है तथा अंधे की भांति व्यापार आदि में अपने जीवन के दिन व्यतीत करता है फिर वृद्धावस्था के आ जाने पर गर्दन हिलने लग जाती है अर्थात् प्रत्येक अवस्था में सदुपदेश से इंकार करता है ॥१८॥

पद्य—जम पकरै तब जोर न चाले, सैना सैन बतावे।
मन्दकषाय होय तो भाई, भवनत्रिक पद पावै॥
पर की सम्पत्ति लखि अति झूरै, कै रतिकाल गमावै।
आयु अन्त माला मुरझावै, तब लखि-लखि पछतावै॥ २-६-१९

अर्थ—जब यमराज धर दबोचता है अर्थात् जब आयु के निषेक पूरे हो जाते हैं तब इस जीव का कोई वश नहीं चलता, वाणी के द्वारा कुछ कह नहीं पाता, संकेत द्वारा ही कुछ बताता है। यदि कभी मरण-काल में कषाय की मन्दता हुई

तो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों में पैदा होता है, वहां पर भी दूसरे देवों की विभूति को देखकर झूरता रहता है या देवांगनाओं के साथ काम क्रीड़ाओं में अपना समय व्यर्थ ही गंवा देता है फिर मरणकाल आने पर माला के मुरझाने से पश्चाताप की अग्नि में जलता रहता है ॥१९॥

पद्य—चवै तहां तें थावर होवें, रुलि है काल अनन्ता ।
या विधि पंच परा वृत पूरत, दुःख को नाहीं अन्ता ॥
काललब्धि जिन-गुरु-किरपा तें, आप "आप" को जानें ।
तब ही "बुधजन" भवदधि तरिकैं, पहुंच जाय शिव थानें ॥ २-७-२०

अर्थ—इस मिथ्याभाव के कारण देव पर्याय से च्युत होकर स्थावर अर्थात् एकेन्द्रिय के शरीर को धारण करता है और अनन्तकाल तक रुलता रहता है। इस प्रकार यह जीव पंचपरावर्तन रूप संसार में भ्रमण करता हुआ अनन्त दुःख भोगता है। यदि किसी पुण्य-संयोग से काललब्धि के पक जाने तथा जिनेन्द्र देव एवं निर्ग्रन्थ गुरुओं की कृपा हुई तो आत्म-स्वरूप का भान होने से संसार समुद्र से पार होकर मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है ॥२०॥

तीसरी–ढाल (पद्धरिछन्द)

पद्य—या विधि भव-वन मांहि जीव, बस-मोह महल सूते सदीव ।
उपदेश तथा सहजै प्रबोध, तब ही जागै ज्यों उठत जोध ॥ ३-१-२१

अर्थ—(मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र के वशीभूत हो, स्व को भूल यह जीव सदैव संसार रूप वन में गाढ़ निद्रा में सोता रहता है। जब कभी पुण्योदय से इसे सद्गुरुओं (निर्ग्रन्थ गुरुओं) का उपदेश मिलता है तथा जब इसे अपनी आत्मा का सहज भान हो जाता है तभी यह जागृत होकर, सावधान हो जाता है। जैसे कोई योद्धा जागकर खड़ा हो जाता है ॥२१॥

पद्य—जब चितवत अपने मांहि आप, हूं चिदानन्द नहिं पुण्य-पाप ।
मेरो नाहीं है रागभाव, ये तो विधिवश उपजे विभाव ॥ ३-२-२२

अर्थ—जब यह प्राणी अपने में, अपना ही अवलोकन करता है और जब यह निर्णय करता है कि मैं तो चिदानन्द स्वभावी आत्मा हूं, पुण्य-पाप रूप भाव मेरे नहीं हैं, राग-द्वेषादि भाव भी मेरे नहीं हैं क्योंकि ये तो कर्म-जनित वैभाविक-भाव हैं ॥२२॥

पद्य—हूं नित्य-निरंजन, सिद्धसमान, ज्ञानावरणी आच्छाद ज्ञान ।
निश्चय शुद्ध इक, व्योहार भेद, गुन-गुनी, अंग-अंगी अछेद ॥ ३-३-२३

अर्थ—मैं नित्य हूं, निरंजन हूं और सिद्ध समान हूं। ज्ञानावरणादि कर्मों

ने, मेरी ज्ञान-शक्ति को आच्छादित कर लिया है पर (नष्ट नहीं किया है)। शुद्ध निश्चय-नय से मैं (मात्र ज्ञाता-द्रष्टा ही हूं, समय सार हूं) और व्यवहार नय की अपेक्षा में अनेक भेद वाला हूं। उन भेदों का कभी अन्त नहीं हो सकता ॥२३॥

पद्य—मानुष-सुर-नारक-पशु पर्याय, शिशु-युवा-वृद्ध-बहुरूप काय।
धनवान-दरिद्री-दास-राव, ये तो विडंबना मुझ न भाव ॥ ३-४-२४

अर्थ—मनुष्य, देव, नरक, तिर्यंच पर्यायों कर प्राप्त, बाल्यकाल, युवाकाल और वृद्धकाल आदि शरीर सम्बन्धी अनेक पर्यायों की प्राप्ति तथा धनाढ्यता, दरिद्रता, सेवकपना, स्वामीपना ये समस्त पर्यायें एक प्रकार की विडंबना है, पुद्गल कर्म जनित हैं और इनमें मेरी रुचि किंचित् भी नहीं है ॥२४॥

पद्य—रस फरस गंध वरनादि नाम, मेरे नाहीं मैं ज्ञान-धाम।
हू एक रूप नहिं होत और, मुझ में प्रतिबिम्बित सकलठौर ॥ ३-५-२५

अर्थ—रस, स्पर्श, गन्ध, वर्ण आदि पुद्गल के हैं, मेरे नहीं हैं। मैं तो मात्र ज्ञान-शरीरी हूं (ज्ञान का पुंज) हूं। मैं अखंड, एकरूप हूं, अन्य रूप मैं नहीं हू। संसार के समस्त पदार्थ मेरे ज्ञान-स्वभाव में झलकते हैं ॥२५॥

पद्य—तन पुलकित, उर हर्षित सदीव,ज्यों भई रंक घर रिधि अतीव।
जब प्रबल अप्रत्याख्यानथाय, तब चित परणति ऐसी उपाय ॥ ३-६-२६

अर्थ—(उपर्युक्त चिंतवन के फलस्वरूप) शरीर पुलकित हो जाता है और हृदय निरंतर हर्षमय हो उठता है जैसे कि जन्मत: दरिद्र के घर में महाऋद्धि प्रगट हो गई हो। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाने पर भी जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का तीव्र उदय रहता है तब चित्त की परिणति नीचे लिखे अनुसार बनती है। ।२६॥

पद्य—सो सुनो भविक चित्तधारिकान, वरनत हूं ताको विधि-विधान।
सब करैं काज घर मांहि बास, ज्यों भिन्न कमल जल में निवास ॥३-७-२७

अर्थ—उस सम्यग्दृष्टि जीव की मनोदशा के विधि विधान का वर्णन कर रहा हूं। हे भव्यजन ! (तुम उसे मन और कान लगाकर सुनो यद्यपि) (अविरत सम्यग्दृष्टि जीव) गृहस्थी में रहता है, घर के सम्पूर्ण कार्य भी करता है तथापि उसकी परिणति जल से भिन्न कमल की भांति (अलिप्त) ही रहती है ॥२७॥

पद्य—ज्यों सती अंग मांहीं सिंगार, अति करत प्यार ज्यों नगर नारि।
ज्यों धाय लड़ावत आन बाल, त्यों भोग करत नाहीं खुशाल ॥३-८-२८

अर्थ—जिस प्रकार (पति की चिता पर आरूढ़ होने वाली) सती स्त्री अपने शरीर का शृंगार करती है परन्तु उस शृंगार में उसकी रुचि नहीं है, अथवा

जिस प्रकार वेश्या अत्यधिक प्यार तो जताती है परन्तु उसकी रुचि पुरुष विशेष में नहीं है अथवा जिस प्रकार धाय अन्य के बालक से लाड़-प्यार तो करती है परन्तु उसे पराया ही समझती है उसी प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोदय वशात् भोग भोगते हुए भी उसमें आनन्दित नहीं होता ॥२८॥

पद्य—जहं उदय मोह चेष्टित प्रभाव, नहिं होय रंचहू त्यागभाव ।
तहं करैं मंद खोटी कषाय, घर में उदास व्है, अथिर ध्याय ॥ ३-९-२९

अर्थ—जब तक चारित्र मोह के उदय का प्रभाव जीव पर बना रहता है तब तक उस जीव के त्याग किंचित् भी नहीं होता । वह केवल अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व भाव को मन्द करता है, घर में भी उदास भाव से रहता है और संसार के (समस्त) पदार्थों को अस्थिर समझता है ॥२९॥

पद्य—सब की रक्षा युत न्यायनीति, जिन शासन गुरु की दृढ़ प्रतीति ।
बहुरले अर्द्ध-पुद्गल प्रमाण, अन्तर्मुहूर्त ले परम-धाम ॥ ३-१०-३०

अर्थ—उस अविरत सम्यग्दृष्टि जीव की परिणति; समस्त प्राणियों की रक्षा करने, न्याय-नीति पर चलने, सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की दृढ़ प्रतीति धारण करने रूप हो जाती है और तब उसे अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तनकाल तक ही संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है । पुनः वह (अपने ज्ञान और वैराग्य के बल से मुनिपद धारण करते ही) अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष स्थान को प्राप्त कर लेता है ॥३०॥

पद्य—वे धन्य जीव, धनिभाग सोय, ताके ऐसी परतीति जोय ।
ताकी महिमा व्है स्वर्गलोय "बुधजन" भाषें मोतें न होय ॥ ३-११-३१

अर्थ—वे जीव धन्य हैं, उनका भाग्य भी धन्य है जिनकी, अपनी आत्मा की अखंड शक्ति पर ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाती है । ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव की इस दृढ़ श्रद्धा की प्रशंसा (इन्द्र) स्वर्गों में करता है । कविवर "बुधजन" कहते हैं कि उस अविरत सम्यग्दृष्टि की महिमा का वर्णन मुझसे नहीं हो सकता ॥३१॥

चौथी ढाल (सोरठा छंद)

पद्य—ऊग्यो आतम सूर, दूर भयो मिथ्यात-तम ।
अब प्रगटे गुनभूर, तिनमें कछु इक कहत हूं ॥ ४-१-३२

अर्थ—(सम्यग्दृष्टि के आत्मा रूपी) सूर्य का उदय होने पर मिथ्यात्व रूपी अन्धकार का नाश हो गया है और अनेक गुण प्रगट हो गये हैं । उन गुणों में से कुछ गुणों का वर्णन करता हूं ॥३२॥

निः शंकित व निःकांक्षित अंग

पद्य—शंकामत में नाहिं, तत्वारथ सरधान में ।
निरवांछा चितमाहिं, परमारथ में रत रहे ॥ ४-२-३३

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के मन में तत्वार्थ के श्रद्धान में किसी भी प्रकार की शंका नहीं रहती है। वह संसार के विषय भोगों में किसी भी प्रकार की वांछा नहीं रखता तथा उसका मन धर्म में लीन रहता है ॥३३॥

निर्विचिकित्सा व अमूढ़दृष्टि अंग

पद्य—नेक न करत गिलान, बाह्य मलिन मुनि-तन लखे।
नाहीं होत अजान, तत्व-कुतत्व विचार में ॥ ४-३-३४

अर्थ—सम्यग्दृष्टि के मन में बाहर से अपवित्र तथा रत्नत्रय से पवित्र मुनिजनों के शरीर को देखकर (किंचित् भी) घृणा का भाव पैदा नहीं होता। वह तत्व-कुतत्व अथवा हेय-उपादेय के निर्णय करने में किसी भी प्रकार की भूल नहीं करता ॥३४॥

उपगूहन एवं स्थितिकरण अंग

पद्य—उर में दया विशेष, गुन प्रगटे, औगुन ढके।
शिथिल धर्म में देख, जैसे-तैसे दृढ़ करे ॥ ४-४-३५

अर्थ—उसके हृदय में विशेष रूप से करुणा का भाव जागृत हो जाता है अतः उसमें दया का सागर लहराता है। वह दूसरों के गुणों को प्रगट करता और अवगुणों को ढांकता है। यदि कोई साधर्मीबन्धु दरिद्रता आदि कारणों से धर्म से विचलित होता है तो जैसे बने तैसे (यथा संभव सहायता देकर) धर्म में दृढ़ करता है ॥३५॥

पद्य—साधर्मी पहिचान, धरैं हेत गौ वत्स लों।
महिमा होत महान, धर्म काज ऐसे करैं ॥ ४-५-३६

अर्थ—जिस प्रकार गाय अपने बछड़े पर निष्काम प्रेम करती है, उसी प्रकार वह साधर्मी बन्धुओं के प्रति "यह हमारा साधर्मी बन्धु है" इतना ज्ञान होते ही निःस्वार्थ प्रेम करता है। वह सम्यग्दृष्टि जीव रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा की प्रभावना करता है और दान, तप, जिनेन्द्रअर्चा, ज्ञान की अधिकता आदि के द्वारा पवित्र जैन धर्म की प्रभावना करता है ॥३६॥

आठ मद जो सम्यग्दृष्टि जीव में नहीं होते

पद्य—मद नहिं जो नृप तात, मद नहिं भूपति माम को।
मद नहिं विभौ लहात, मद नहिं सुन्दर रूप को ॥
मद नहिं जो विद्वान, मद नहिं तन में जो मदन।
मद नहिं जो परधान, मद नहिं संपति क्रोध को ॥ ४-६-३७

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव निम्नलिखित आठ प्रकार के मद नहीं करता—

(1) यदि पिता राजा हो तो कुल का मद नहीं करता।
(2) यदि मामा राजा हो तो जाति का मद नहीं करता।
(3) यदि ऐश्वर्यवान हो तो अधिकार का मद नहीं करता।
(4) यदि सुन्दर रूप वाला हो तो रूप का मद नहीं करता।

(५) यदि स्वयं विद्वान् हो तो ज्ञान का मद नहीं करता ।
(६) यदि शरीर में बल हो तो बल का मद नहीं करता ।
(७) यदि प्रभुता प्राप्त हुई हो तो प्रभुता का मद नहीं करता ।
(८) यदि अत्यधिक सम्पन्नता हो तो धन का मद नहीं करता ।३७।

पद्य—हूवो आतम-ज्ञान, तजि रागादि विभाव पर ।
ताके व्है क्यों मान, जात्यादिक वसु अधिर को ॥ ४-७-३८

अर्थ—(जिसे अपनी आत्मा के भानपूर्वक) सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हुई है और जिसने राग-द्वेषादि को विभाव भाव जानकर छोड़ दिया है ऐसे जीव को आठ मद (कुलजाति आदि) कैसे हो सकते हैं ? ॥३८॥

३. मूढ़ता

पद्य—वन्दत है अरहंत, जिन-मुनि, जिन-सिद्धान्त को ।
न मैं न देख महंत, कुगुरुकुदेव, कुग्रंथ को ॥ ४-८-३९

अर्थ—उस सम्यग्दृष्टि जीव की श्रद्धा इतनी दृढ़ होती है कि वह (अरहंतदेव) (सच्चेदेव) निर्ग्रन्थमुनि (सच्चेगुरू) जिनवाणी (सच्चे शास्त्र) को ही नमस्कार करता है । वह इनके विपरीत कुगुरू, कुदेव, कुशास्त्रों को (भय से, आशा से, स्नेह से, लोभ से) भी कभी नमस्कार नहीं करता चाहे वे कितने ही महिमा शास्त्री क्यों न हों ? अतः वह ३ मूढ़ता से रहित होता है ॥३९॥

छह अनायत

पद्य—कुत्सित आगम देव, कुत्सित गुरु पुनि सेवका ।
परशंसा षट्मेव, करे न समकित वान व्है ॥ ४-९-४०

अर्थ—वह सम्यग्दृष्टि जीव खोटे शास्त्र, खोटे देव और खोटे गुरुओं की तथा उनके सेवकों (प्रशंसकों) की प्रशंसा कदापि नहीं करता अतः वह छह अनायतन का भी त्यागी होता है ॥४०॥

पद्य—प्रगटा इसा सुभाव, करा अभाव मिथ्यात का ।
वन्दे ताके पांव, "बुधजन" मन-वच-काय तैं । ४-१०-४१

अर्थ—"बुधजन" कवि कहते हैं कि मिथ्यात्व के अभाव होने से जिसका ऐसा स्वभाव प्रगट हुआ है । मैं ऐसे वीतराग-स्वभावी सम्यग्दृष्टि जीव की मन, वचन, काय से वंदना करता हूं ॥४१॥

पांचवीं ढाल (छन्द चाल)

पद्य—तिरजंत मनुष्य दोऊ गति में, व्रत-धारक, सरधाचित में ।
सो अगलित नीर न पीवै, निशि-भोजन तजत सदीवै ॥ ५-१-४२

अर्थ—तिर्यंच और मनुष्य इन दोनों गतियों में, श्रद्धावान, व्रतधारक (जैन गृहस्थ) बिना छना जल नहीं पीता है और सदा के लिये रात्रि-भोजन का त्यागी होता है ॥४२॥

पद्य—मुख अभक्ष वस्तु नहिं लावै, जिन भक्ति त्रिकाल रचावै ।
मन-वच-तन कपट निवारै, कृत-कारित-मोद संवारै ।। ५-२-४३

अर्थ—(व्रती गृहस्थ कभी भी अजानफल आदि २२ प्रकार के अभक्ष पदार्थों का) भक्षण नहीं करता । प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल (त्रिकाल) जिनेन्द्रदेव की भक्ति करता है । अपने मन, वचन काय से तथा कृत-कारित-अनुमोदना से (किसी के साथ किसी भी प्रकार का) कपट का व्यवहार नहीं करता ।।४३।।

पद्य—जैसी उपशमित कषाया, तैसा तिन त्याग बनाया ।
कोऊ सात-व्यसन को त्यागै, कोऊ अणुव्रत में मन पागै ।। ५-३-४४

अर्थ—(इसके आगे) जैसा-जैसा कषाय का उपशम होता जाता है अर्थात् कषाय घटती जाती है, वैसी ही वैसी वह त्यागवृत्ति को धारण करता जाता है । कोई तो सप्त-व्यसनों का त्यागकरता है और कोई पांच अणुव्रतों के पालन में अपना मन लगाता है । इस प्रकार वह अणुव्रत का पालन करता है ।।४४।।

अहिंसा व सत्याणुव्रत

पद्य—त्रसजीव कभू नहिं मारै, बिरथा थावर न संहारै ।
पर-हित-बिन झूठ न बोलै, मुख सांच बिना नहिं खोलै । ५-४-४५

अर्थ—(वह सम्यग्दृष्टि गृहस्थ अहिंसा अणुव्रत के पालनार्थ) त्रस जीवों की हिंसा का सर्वथा त्यागी होता है और यद्यपि स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागी नहीं है तथापि उनकी (निष्प्रयोजन) विराधना नहीं करता । यह उसका अहिंसा-अणुव्रत है ।।

सत्याणुव्रत की रक्षार्थ दूसरों की प्राण—रक्षा-हेतु ही असत्य बोलता है अन्यथा नहीं । वह अपने प्राणों की रक्षार्थ कभी भी असत्य नहीं बोलता । वह जब बोलेगा तब सत्य ही बोलेगा ।४५।।

अचौर्य व ब्रह्मचर्य अणुव्रत

पद्य—जल मृतिका बिन, धन सबहू, बिनदियो लेय नहिं कबहूं ।
ब्याही वनिता बिनतारी, लघु बहिन, बड़ी महतारी ।। ५-५-४६

अर्थ—जल और मिट्टी के सिवाय अन्य किसी भी प्रकार की वस्तु बिना दिये कभी भी ग्रहण नहीं करता अतः वह अचौर्य-अणुव्रत पालता है । विवाहिता पत्नी के सिवाय, अपने से छोटी उम्र की स्त्रियों को बहिन के समान और अपने से बड़ी स्त्रियों को माता के समान समझता है अतः वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत पालता है ।।४६।।

परिग्रह परिमाण-अणुव्रत और दिग्व्रत का स्वरूप

पद्य—तिसना का जोर संकोचै, ज्यादा परिग्रह को मोचै ।
दिस की मरजादा लावै, बाहर नहिं पांव हिलावै । ५-६-४७

अर्थ—(वह जैन गृहस्थ) तृष्णा भाव को कम करके परिग्रह का परिमाण करता है। इस प्रकार पांच अणुव्रतों का पालन करता है। दसों दिशाओं में जाने-आने का जीवन-पर्यन्त के लिये त्याग कर, एक कदम भी उस सीमा से बाहर नहीं बढ़ाता अतः वह दिग्व्रत का पालन करता है ॥४७॥

देशव्रत और अनर्थ दंडव्रत का स्वरूप

पद्य—ताहू में पुर, सर, सरिता, नित राखत, अघ तैं डरता।
सब अनरथ दंड न करिहै, छिन-छिन निजधर्म सुमरि है ॥ ५-७-४८

अर्थ—दिग्व्रत में जीवन पर्यन्त के लिये की गई मर्यादा को संकुचित करने के लिये नगर, तालाब, नदी आदि तक जाने-आने की मर्यादा करके देशव्रत का पालन करता है और नित्य ही पापों से डरता है। यह उसका देशव्रत है। वह पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या इन पांच प्रकार के अनर्थ दंडों का त्यागकर अनर्थ दंड व्रत का पालन करता है और प्रतिक्षण अपने आत्म धर्म का स्मरण करता रहता है। इस प्रकार ३ गुणव्रतों का पालन करता है ॥४८॥

सामयिक शिक्षाव्रत

पद्य—दर्व, थान, काल सुध भावैं, समता सामायिक ध्यावैं।
यों वह एकाकी ही है, निष्किंचन मुनि ज्यों सोहै ॥ ५-८-४९

अर्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा पूर्वक, मन में समताभाव धारण कर सामायिक करता है। सामायिक के समय अपने आप को एकाकी अनुभव करता है तथा अकिंचन-भाव, धारण कर उपचार से मुनिवत् शोभित होता है ॥४९॥

भोगोपभोग परिमाण और अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत

पद्य—परिग्रह परिमाण विचारैं, नितनेम भोग का धारैं।
मुनि आवन विरिया जोवैं, तब जोग असन मुख लावैं। ५-९-५०

अर्थ—(वह सम्यग्दृष्टि गृहस्थ) परिग्रह परिमाण व्रत का ध्यान रखते हुए प्रतिदिन भोगोपभोग की सामग्री का नियम करता है अतः वह भोगोपभोग परिमाण व्रत का पालन करता है।

घर, पर, मुनि, आर्यिका आदि उत्तम पात्रों के आने की प्रतीक्षा करता है। द्वारापेक्षण क्रिया के बाद ही योग्य भोजन लेता है अतः वह अतिथि संविभाग व्रत का पालन करता है ॥५०॥

सल्लेखना

पद्य—ये उत्तम किरिया करता, नित रहै पाप तैं डरता।
जब निकट मृत्यु निज जानैं, तब ही सब ममता भानैं ॥ ५-१०-५१।

अर्थ—इस प्रकार की उत्तम क्रिया (५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, सामायिक, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि-संविभाग) को पालता हुआ (वह गृहस्थ) सदैव पापों से भयभीत

रहता है और जब मरण-काल समीप आता जानता है तब सब प्रकार से ममत्व भाव को दूर करता है और सावधान चित हो समाधिमरण धारण करता है ॥५१॥

पद्य–ऐसे पुरुषोत्तम केरा, "बुधजन" चरनन का चेरा।
वे निश्चय सुरपद पावें, थोरे दिन में शिव जावें ॥ ५–११–५२

अर्थ–कविवर "बुधजन" कहते हैं कि जो इस प्रकार के पुरुषार्थ को प्रगट करता है अर्थात् गृहस्थोचित,व्रतों का निरतिचार पालन करता है और अंत समय में संल्लेखना धारण करता है। उस सम्यग्दृष्टि व्रती श्रावक के चरणों का दास हूं। ऐसा जीवनिश्चय ही कल्पवासी देव होता है तथा वहां से चलकर मनुष्य भव धारण करके, मुनिपद धारण करके (३भव में ही) मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ॥५२॥

सूचना—कवि ने १२ व्रतों के उल्लेख में "प्रोषधोपवास" नामक शिक्षाव्रत का उल्लेख न करते हुए "सल्लेखना" की परिगणना करके १२ व्रतों की संख्या गिनाई है। ऐसा.....

उमास्वामी आदि आचार्यों एवं पं० दौलतरामजी आदि विद्वानों ने सल्लेखना को १२ व्रतों के अतिरिक्त लिया है और यह ठीक भी है क्योंकि सल्लेखना केवल मरणकाल में ही धारण की जाती है, जबकि १२ व्रतों का पालन संपूर्ण व्रत-काल में किया जाता है।

छठी-ढाल (रोलाछन्द)

पद्य—अथिर ध्याय परजाय, भोगतें होय उदासी।
नित्य-निरंजन-ज्योति, आतमा घट में भासी ॥ ६-१-५३

अर्थ—जो यह निर्णय कर लेता है कि (प्रत्येक द्रव्य की) समस्त पर्यायें अस्थिर हैं, वह भोगों के प्रति उदासीन भाव धारण कर लेता है तथा नित्य-निरंजन-ज्योति स्वरूप आत्मा मेरे ही घट में है उसे ऐसा विश्वास उत्पन्न हो जाता है ॥५३॥

पद्य—सुत-दारादि बुलाय, सबनितें मोह निवारा।
त्यागि शहर-धन-धाम, वास बन-बीच विचारा ॥ ६-२-५४

अर्थ—जिसे संसार की अस्थिरता का आभास हो गया है वह अपने पुत्र, स्त्री आदि को बुलाकर (उनसे क्षमा का आदान-प्रदान करके) मोह-रहित हो जाता है तथा शहर, धन-सम्पत्ति, गृहवास आदि के मोह को छोड़, वन में रहने का दृढ़ संकल्प कर लेता है ॥५४॥

पद्य—भूषण-वसन-उतारि, नगन ह्वै आतम चीन्हा।
गुरु ढिग दीक्षा धारि, सीस कचलोंच जु कीना ॥ ६-३-५५

अर्थ—(जिसे अपनी आत्मा की पहिचान हो गई है वह) समस्त प्रकार के वस्त्राभूषणों का परित्याग कर, गुरु के समीप जा, दीक्षा धारण कर लेता है (निर्ग्रन्थ हो जाता है) तथा (अपने हाथ से) केश लुंचन क्रिया सम्पन्न करता है ॥५५॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य महाव्रत

पद्य—त्रस थावर का घात त्याग, मन-वच-तन लीना।
झूठ वचन परिहार, गहैनहिं जल बिन दीना ॥ ६-४-५६

अर्थ—वह (भव्यजीव) मन-वचन-काय से छह काय के जीवों की हिंसा का परित्याग कर अहिंसा महाव्रत का पालन करता है। निर्दोष वचन बोलने से सत्य महाव्रत का पालन करता है। जल, मिट्टी आदि भी बिना दिये नहीं लेने से अचौर्यमहाव्रत का पालन करता है ॥५६॥

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत

पद्य—चेतन-जड़-तिय भोग, तज्या गति-गति दुःखकारा।
अहि-कंचुकि ज्योंजान, चित्त तें परिग्रह डारा ॥ ६-५-५७

अर्थ—वह (मुनि) चेतन और अचेतन समस्त प्रकार की स्त्रियों के सेवन को चारों गतियों के दुःख का कारण जान, छोड़ देता है अतः ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करता है।

जिस प्रकार सांप केंचुली त्यागकर सुन्दरता को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार मुनि का मन अन्तरंग एवं बहिरंग परिग्रह का त्याग होने से अत्यन्त निर्मल हो जाता है। यह मुनि का परिग्रह (मूर्च्छा) त्याग महाव्रत है ॥५७॥

५ समिति ३ गुप्ति एवं परीषहजय

पद्य—गुप्ति पालने काज, कपट मन-वच-तन नाहीं।
पांचों समिति संवारि, परीषह सहि हैं आहीं ॥ ६-६-५८

अर्थ—अपने स्वरूप में गुप्त रहने हेतु वह जटिलता को रहने ही नहीं देते अतः ३ गुप्तियों (मनगुप्ति, वचनगुप्ति कायगुप्ति) को पालते हैं। ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पांच समितियों का पालन (सावधानी-पूर्वक) करते हैं।

(अकस्मात, आये हुए परीषहों (कष्टों) को समता-भान पूर्वक सहन करते हैं। यह उनका परीषह-जय है ॥५८॥

पद्य—छांडि सकल जंजाल, आपकरि आप "आप" में।
अपने हित को आप, करौ वहै शुद्ध जा में ॥ ६-७-५९

अर्थ—वह सांसारिक समस्त प्रकार के विकल्प जालों को जंजाल समझकर छोड़ देता है तथा आत्म-हित के लिये स्वयं आत्मा में लीन हो जाता है और ध्यानाग्नि में तपकर शुद्ध हो जाता है ॥५९॥

पद्य—ऐसी निश्चल काय, ध्यान में मुनि-जन केरी।
मानों पाथर रची, किधों चित्राम उकेरी॥ ६-८-६०

अर्थ—ध्यान में स्थित मुनिजनों की निश्चल काया को देखकर ऐसा लगता है मानों यह पाषाण-प्रतिमा हो अथवा किसी (चित्रकार) ने किसी पत्थर पर चित्र ही उकेर दिया हो॥६०॥

पद्य—चार घातिय नाशि, ज्ञान में लोक निहारा।
देजिन-मत आदेश, भविक कों दुःखते टारा॥ ६-९-६१

अर्थ—जिन्होंने शुद्धात्म-ध्यान के बल से चारों घातिया कर्मों का नाश कर दिया है, जिनकी केवल ज्ञान-ज्योति में जगत के अनंत पदार्थ तथा उनकी अनंत पर्यायें प्रतिभासित हो रही हैं, जिन्होंने भव्य जीवों के लिये कल्याण-कारक जैन-मत का उपदेश दिया है तथा उनको संसार के दुःख से छुड़ाया है॥६१॥

पद्य—बहुरि अघाती तोरि, समय में शिवपद पाया।
अलख अखंडित ज्योति, शुद्ध चेतन ठहराया॥ ६-१०-६२

अर्थ—पुनः शेष चार अघातिया कर्मों का नाश कर एक समय में मोक्षपद प्राप्त कर लिया तथा अपनी शुद्धात्मा को अखंड ज्योति-स्वरूप बना लिया है और शुद्ध चेतना स्वरूप हो गये हैं॥६२॥

पद्य—काल अनंतानंत, जैसे के तैसे रहि हैं।
अविनाशी अविकार, अचल अनुपमसुख लहि हैं॥ ६-११-६३

अर्थ—वे मुक्तात्मा अब अनंतानंत काल पर्यन्त, यथावत् रहेंगे और विनाश-रहित, विकार रहित, चंचलता रहित, उपमा रहित (आत्मिक) सुख को प्राप्त करेंगे॥६३॥

पद्य—ऐसी भावन भाय, ऐसे जे कारज करि हैं।
ते ऐसे ही होय, दुष्ट करमन कों हरि हैं॥ ६-१२-६४

अर्थ—जो नित्य-प्रति ऐसी भावना करते रहेंगे तथा उसी के अनुसार आचरण करेंगे वे वैसे ही बन जायगे अर्थात् सिद्धपद प्राप्त करेंगे॥६४॥

पद्य—जिनके डर विश्वास, वचन-जिन शासन नाहीं।
ते भोगातुर होय, सहैं दुःख नरकन माहीं॥ ६-१३-६५

अर्थ—जिनके हृदय में जिनेन्द्र-कथित बातों पर विश्वास नहीं है वे विषय भोगों से व्याकुल होकर नरकादि के दुःखों को सहन करेंगे॥६५॥

पद्य—सुख-दुःख पूर्व विपाक, अरे मत कलपैं जीया।
कठिन-कठिन तैं मीत, जन्म मानुष तैं लीया॥ ६,१४-६६

अर्थ—हे जीव! इस संसार के सुख-दुःख तो पूर्वों पार्जित कर्मों का फल हैं

अतः तू इनके चिंतवन में अपना अनमोल समय मत बिता क्योंकि हे मित्र। तूने बड़ी ही कठिनाई से यह मनुष्य-जन्म पाया है ॥६६॥

पद्य—सो विरथा मत सोय, जोय आपा पर भाई।
गई न लामैं फेरि, उदधि में डूबी राई॥ ६-१५-६७

अर्थ—हे भाई! इस दुर्लभ नर-तन को विषयासक्त होकर व्यर्थ मत गंवा और स्व-पर भेद-विज्ञान को प्रगट कर। जिस प्रकार राई का दाना समुद्र में डूब जाय तो उसका प्राप्त करना भी अत्यन्त कठिन है ॥६७॥

पद्य—भला नरक का बास, सहित समकित जे पाता।
बुरे बने जे देव, नृपति विथ्यामत माता॥ ६-१६-६८

अर्थ—सम्यक्त्व सहित, नरकवास कहीं अधिक अच्छा है अपेक्षाकृत मिथ्यात्व सहित देव या राजा की पर्याय को धारण करने से ॥६८॥

बुधजन सतसई

देवानुरागशतक—

सनमतिपद सनमतिकरन, बन्दौ मंगलकार।
बरनैं बुधजन सतसई, निजपर हितकरतार॥१॥
परमधरमकरतार है, भविजन सुखकरतार।
नित वंदन करता रहूं, मेरा गहि करतार॥२॥
परूं पगतरैं आपके, पाप पगतरैं दैन।
हरी कर्मकों सबतरैं, करौ सब तरैं चैन॥३॥
सबलायक, जायक प्रभू, घायक कर्मकलेस।
लायक जानिर नमत हैं, पायक भये सुरेस॥४॥
नमूं तोहि कर जोरिके, सिव बनरी कर जोरी।
बरजोरी विधिकी हरौ, तीन लोक के तात॥५॥
तीन कालकी खबरि तुम, तीन लोक के तात।
त्रिविधसुद्ध वंदन करूं, त्रिविध ताप मिटि जात॥६॥
तीन लोक के पति प्रभु, परमातम परमेस।
मन-वच-तन ते नमत हूं, मेटौ कठिन कलेस॥७॥
पूजूं तेरे पायकूं, परम पदारथ जान।
तुम पूजेते होत हैं सेवक आप समान॥८॥
तुम समान कोउ आन नहीं, तमूं जाय कर नाय।
सुरपति, नरपति, नागपति, आय परे तुम पांय॥९॥

तुम अनंतगुन मुखथकी, कैसे गाये जात।
इंद मुनिंद फनिंदहूं, गान करत थकि जात ॥१०॥

तुम अनंत महिमा अतुल, क्यों मुख करिहूं गान।
सागर जल पीत न बने, पीजै तृषा समान ॥११॥

कह्या बिना कैसे रहूं, औसर मिल्यो अबार।
ऐसी बिरियां टरि गया, कैसे बनत सुधार ॥१२॥

जो हूं कहांऊं ओरतें, तो न मिटे उरझार।
मेरी तो तोसे बनी तातें करूं पुकार ॥१३॥

आनंदघन तुम निरखिकै हरषत है मन मोर।
दूर भयो आताप सब, सुनिकै मुख की घोर ॥१४॥

आन थान अब ना रुचै, मन राच्यौ तुम नाथ।
रतन चितामनि पायके, गहै कांच को हाथ ॥१५॥

चंचल रहत सदैव चित्त, थक्यौ न काहू ठौर।
अचल भयौ इकटक अबै, लग्यो रावरी ओर ॥१६॥

मन मोह्यो मेरो प्रभु, सुन्दर रूप अपार।
इन्द्र सारिखे थकी रहै, करि करि नैन हजार ॥१७॥

जैसे भानुप्रतापतें, तम नासे सब ओर।
जैसे तुम निरखत नस्यो, संशय विभ्रम भोर ॥१८॥

धन्य नैन तुम दरस लखि, धनि मस्तक लखि पांय।
श्रवन धन्य बानी सुनै, रसना धनि गुन गाय ॥१९॥

धन्य दिवस धनि या घरि, धन्य भाग मुझ आज।
जनम सफल अब ही भयो, बंदत श्री महाराज ॥२०॥

लखि तुम छवि चितचोर को, चकित थकित चितचोर।
आनन्द पूरन भरि गयो, नाहि चाहि रहि और ॥२१॥

चित चातक आतुर लखे, आनंदघन तुम ओर।
बचनामृत पी तृप्त हैं, तृषा रही नहीं और ॥२२॥

जैसो धीरज आपमें तैसो न कहूं और।
एक ठौर राजत अचल, व्याप रहै सब ठौर ॥२३॥

यो अद्भुत ज्ञातापनो, लख्यो आपकी जाग।
भली बुरी निरखत रहो, करो नाहि कहुं राग ॥२४॥

धरि विसुद्धता भाव निज, दई असाता खोय।
क्षुधा तृषा तुम परिहरी, जैसें करिये मोय ॥२५॥

त्यागि बुद्धि परजायकूं, लखैं सर्व सम भाय
राग दोष ततखिन टरयो, राचे सहज सुभाय ॥२६॥
मो ममता वमता मया, समता आतमराम ।
अमर अजन्मा होय सिव, जाय लह्यो विसराम ॥२७॥
हेत प्रीति सबसों तज्या, मगन निजातप माहि ।
रोग सोग अब क्यों बने, खाना पीना नाहि ॥२८॥
जागि रहे निज ध्यान में, धरि धीरज बलवान ।
आवै किमि निद्रा जरा, निरखेदक भगवान ॥२९॥
जातजीवतं अधिक बल, सुधिर सुखी निज माहि ।
वस्तु चराचर लखि लई, भय विसमे यों नाहि ॥३०॥
तत्वारथसरधान करि, दीना मोह विनास ।
मान हान कीना प्रगट, केवलज्ञान प्रकास ॥३१॥
अतुल सक्ति परगट भई, राजत है स्वयमेव ।
स्वेद खेद बिन थिर भये, सब देवन के देव ॥३२॥
परिपूरम हो सब तरह, करना रह्या न काज ।
आरत चिन्ता तें रहित, राजत हो महाराज ॥३३॥
वीर्य अनंता धरि रहे, सुख अनंत परमान ।
दरस अनंत प्रमान जुत, भया अनंताज्ञान ॥३४॥
अजर अमर अक्षय अनंत, अपरस अवरन वान ।
कहत थके सुरगुर गुनी, मोमन में किम जायं ॥३५॥
कहत थके सुरगुर गुनी, मोमन में किम मांय ।
ये उर में जितने भरे, तितने कहै न जांय ॥३६॥
अरज गरज की करत हूं, तारन तरन सु नाथ ।
भव सागर में दुख सहूं, तारो गह करि हाथ ॥३७॥
बीती जिती न कहि सकूं, सब भासत है तोय ।
याही तें विनती करूं, फेरि बीते मोय ॥३८॥
वारण वानर बाघ अहि, अंजन भील चंडार ।
जाविधि प्रभु सुखिया किया, सो ही मेरी बार ॥३९॥
हूं अजान जाने बिना, फिर्यो चतुर गति थान ।
अब चरना सरना लिया, करो कृपा भगवान ॥४०॥
जग जन की विनती सुनो, अहो जगतगुरुदेव ।
जालों हूं जग में रहूं, तोलौं पाऊं सेव ॥४१॥

तुम तो दीनानाथ हो, मैं हूं दीन अनाथ।
अब तो ढील न कीजिये, भली मिल गयो साथ ॥४२॥

बार बार विनती करूं, मन वच तन तें तोहि।
परयो रहूं तुम चरन तट, सो बुधि दीजे मोहि ॥४३॥

और नाहिं जाचूं प्रभु ये वर दीजे मोहि।
जोलौं सिव पहुंचूं नहीं, तोलौं सेऊं तोहि ॥४४॥

या संसार असार में, तुम ही देखे सार।
और सकल राखें पकरि, आप निकासन हार ॥४५॥

या भववन अति सघन में, मारग दीखे नाहि।
तुम किरपा ऐसी करी, भास गयो मन माहि ॥४६॥

जे तुम मारग में लगे, सुखी भये ते जीव।
जिन मारग लीया नहीं, तीन दुख लीन सदीव ॥४७॥

और सकल स्वारथ-सगे, बिना स्वारथ ही आप।
पाप मिटावत आप हो, और बढ़ावत पाप ॥४८॥

या अद्भुत समता प्रगट, आप माहिं भगवान।
निंदक सहजै दुख लहै, बंदक लहै कल्यान ॥४९॥

तुम बानी जानी जिका, प्रानी ज्ञानी होय।
सुर अरचैं संचैं सुभग, कलमष कांटे धोय ॥५०॥

तुम ध्यानी प्रानी भये, सबमें मानी होय।
फुलि ज्ञानी ऐसा बने, निरख लेत सब लोय ॥५१॥

तुम दरसक देखे सकल, पूजक पूजें लोग।
सेवैं तिहि सेवें अमर, मिले सुरग के भोग ॥५२॥

ज्यों पारसतें मिलत ही, करि ले आप समान।
त्यों तुम अपने भक्त कों, करि हो आप प्रमान ॥५३॥

जैसा भाव करे तिसा, तुम तें फल मिलि जाय।
तैसा बनि निरखैं जिसा, सीसा में दरसाय ॥५४॥

जब अग्यान जाने नहीं, तब दुख लखो अतीव।
अब जाने माने हिये, सुखी भयो लखि जीव ॥५५॥

ऐसे तो कहत न बने, मो उर निवसो आय।
तातें मोकूं चरन तट, लीजे आप बसाय ॥५६॥

तो सो और न ना मिल्यो, धाय थक्यो चहुं ओर ।
ये मेरे गाढ़ी गढ़ी, तुम ही हो चितचोर ॥५७॥

बहुत बकत डरवत रहूं, थोरी कही सुने न ।
तरफत दुखिया दीन लखि, ढीले रहें बनै न ॥५८॥

रटूं रावरो सुजस सुनि, तारन तरन जिहाज ।
भव बौरत राखे रहे, तोरी मोरी लाज ॥५९॥

डूबत जलधि जिहाज गिरि, तार्‌यो नृप श्रीपाल ।
वाही किरपा कीजिये, वाही मेरो हाल ॥६०॥

बिन मतलब बहुते अधम, तारि दये स्वयमेव ।
त्यों मेरो कारज सुगम, कर देवन के देव ॥६१॥

बिन मतलब बहुते अधम तारि दये स्वयमेव ।
त्यों मेरो कारज सुगम कर देवन के देव ॥६२॥

निंदो भावो जस करो नांहीं कछु परवाह ।
लगन लगी जात न तजी, की जो तुम निरवाह ॥६३॥

तुमें त्याग और न भजूं, सुनिये दीनदयाल ।
महाराज की सेव तजि, सेवे कौन कंगाल ॥६४॥

जाछिन तुम मन आ बसे, आनन्दघन भगवान ।
दुख दावानल मिट गयो, कीनों अमृतपान ॥६५॥

तो लखि उर हरषत रहूं, नाहिं आन की चाह ।
दीखत सर्व समान से, नीच पुरुष नर नाह ॥६६॥

तुम में मुझ में भेद यो, और भेद कछु नाहिं ।
तुम तन तजि परब्रह्म भये, हम दुखिया तन माहिं ॥६७॥

जो तुम लखि निज को लखे, लच्छन एक समान ।
सुधिर बने त्यागे कुबुधि, सो व्है हे भगवान ॥६८॥

जो तुमतें नाहीं मिले, चलै सुछंद मदवान ।
सो जग में अविचल भ्रमें, लहै दुखांकी खान ॥६९॥

पारउतारे भविक बहु, देय धर्म उपदेस ।
लोकालोक निहारिके, कीनों सिव परवेस ॥७०॥

जो जांचे सोई लहै, दाता अतुल अछेव ।
इंद नरिंद फनिंद मिलि, करें तिहारी सेव ॥७१॥

मोह महाजोधा प्रबल, अंधा राखत मोय ।
यां को हरि सुधा करो, सीस नमाऊं तोय ॥७२॥

मोह जोर कों हरत है, तुम दरसत तुम बैन ।
जैसे सर सोषन करे, उदय होय के ऐन ॥७३॥

भ्रमत भवार्णव में मिले, आप अपूरव मीत ।
संसा नास्या दुख गया, सहजे भया नचीत ॥७४॥

तुम माता तुम ही पिता, तुम सज्जन सुखदान ।
तुम समान व लोक में, और नाहि भगवान ॥७५॥

जोग अजोग लखो मती, मो व्याकुल के बैन ।
करुना करि के कीजियो, जैसे तैसे चैन ॥७६॥

मेरी अरजी तनिक सी, बहुत गिनोगे नाथ ।
अपनी विरद विचारिके बूड़त गहिहो हाथ ॥७७॥

मेरे औगुन जिन गिनो, मैं औगुन को धाम ।
पतित उधारक आप हो, करो पतित को काम ॥७८॥

सुनी नही औजू कहुं, विपति रही है घेर ।
औरनिके कारज सरे, ढील कहा मो बेर ॥७९॥

सार्थवाही बिन ज्यों पथिक, किमि पहुंचे परदेस ।
त्यों तुमते करि हैं भविक, सिवपुरि में परवेस ॥८०॥

केवल निर्मलज्ञानमें, प्रतिबिंबित जग आन ।
जनम मरन संकट हरन, भये आप रतध्यान ॥८१॥

आपतमतलबी ताहिते, कैसे मतलब होय ।
तुम बिनमतलब हो प्रभु, कर हो मतलब मोय ॥८२॥

कुमति अनादि संग लगि, मोसो भोग रचाय ।
याको कौलो दुःख सहूं, दीजे सुमति जगाय ॥८३॥

भववनमाहि भरमियो, मोह नींदमें सोय ।
कर्म ठिगौरे ठिगत है, क्यों न जगावो मोय ॥८४॥

दुःख दावानल में जलत, घने कालको जीव ।
निरखत हो समता मिली भली सुखांकी सीव ॥८५॥

मो ममता दुखदा तिनैं, मानत हूं हितवान ।
मो मनमाहि उलटि या, सुलटावो, भगवान ॥८६॥

लाभ सर्व साम्राज्य का, वेदयता तुम भक्त ।
हित अनहित समझे नहीं, तातैं भये असक्त ॥८७॥

विनयवान सर्वस लहे, दहे गई जो गर्व ।
आप आपमें ही तदपि, व्याप रहे हो सर्व ॥८८॥

मैं मोही तुम मोह बिन, मैं दोषी तुम सुद्ध ।
धन्य आप मो घट बसे, निरख्यो नाहिं विरुद्ध ॥८९॥

मैं तो कृतकृत अब भया, चरण सरन तुम पाय ।
सर्व कामना सिद्ध भई, हर्ष हिये न समाय ॥९०॥

मोहि सतावत मोह जुर, विसय अनादि असाधि ।
वेद अतार हकीम तुम, दूर करो या व्याधि ॥९१॥

परिपूरन प्रभु विसर तुम, नमूं न आन कुठोर ।
ज्यों त्यों करि मो तारिये, विनती करुं निहोर ॥९२॥

दीन अधम निरबल रटै, सुनिये अधम उद्धार ।
मेरे औगुन जिन लखो, तारो विरद चितार ॥९३॥

करुनाकर परगट विरद, भूले बनि है नाहिं ।
सुधि लीजे सुध कीजिये, दृष्टि धार मो माहिं ॥९४॥

एहि वर मोहि दीजिये, जाचूं नहिं कछु और ।
अनिमिष दृग निरखत रहूं सान्त छवी चितचोर ॥९५॥

याहि हियामें नाम सुख, करो निरन्तर वास ।
जौलों बसवो जगतमें, भरवो तनमें सांस ॥९६॥

मैं अज्ञान तुम गुन अनंत, नाहिं आवै अन्त ।
बंदत अंग नमाय वसु, जावजीव परजत ॥९७॥

हारि गये हो नाथ तुम, अधम अनेक उधारि ।
धीरे धीरे सहजमें, लीजे मोहि उबारि ॥९८॥

आप पिछान विसुद्ध है, आपा कह्यो प्रकास ।
आप आपमें थिर भये, बंदत "बुधजन" दास ॥९९॥

मन मूरति मंगल बसी, मुख मंगल तुम नाम ।
एही मंगल कीजिये, परयो रहूं तुम धाम ॥१००॥

सुभाषितनीति

अलपथकी फल दे घना, उत्तम पुरुष सुभाय ।
दूध झरै तुनकों चरै, ज्यो गौकुल की गाय ॥१०१॥

जैता का तैता करै, मध्यम नर सनमान ।
घटै बढ़ै नहि रंचहू, धरयो कोठरै धान ॥१०२॥

दीजै जेता ना मिलै, जघन पुरुष की बान।
जैसे फूटै घट धरयो, मिलै अलप पय थान ॥१०३॥

भला कियै करि है बुरा, दुर्जन सहज सुभाय।
पय पायैं विष देत है, फणी महा दुखदाय ॥१०४॥

सहैं निरादर दुरवचन, देह मार अपमान।
चोर चुगल परदाररत, लोभी लबार अजान ॥१०५॥

अमर हारि सेवा करें मानसकी कहा बात।
जो जन सील सन्तोषजुत, करै न परकी घात ॥१०६॥

अगनि चोर भुपति विपति, डरत रहै धनवान।
निर्धन नींद निसंक लै, माने काफी हान ॥१०७॥

एक चरन हूं नित पढै, तो काटै अज्ञान।
पनिहारी की लैजसैं, सहज कटै पाषान ॥१०८॥

पतिव्रता सतपुरुष की, गाड़ा बीर सुभाव।
भूख सहै दारिद सहै, करै न हीन उपाव ॥१०९॥

वैर करो वा हित करो, हौत सबलतैं हारि।
मीत मझै गौरव घटै, शत्रु भयै दे मारि ॥११०॥

जाकी प्रकृति करूर अति, मुलकता होय लखै न।
भजै सदा आधीन परि, तजै जुद्धमें सैन ॥१११॥

सिथिल बैन ढाडस बिना ताकी पैठ बनै न।
ज्यों प्रसिद्ध रितु सरदकी, अम्बर नैकु झरै न ॥११२॥

जतन थ की नरकों मिले, बिना जतन लै आन।
वासन भरि नर पीत है, पशु पीवै सब थान ॥११३॥

झूठी मीठी तनकसी, अधिकी मानैं कौन।
अवसरतैं बोलो इसी, ज्यों आटेमैं नौन ॥११४॥

ज्वारी विभिचारीनितैं, डरै निकसतैं गैल।
मालनि ढांकै टोकरा, छूटे लखिके छैल ॥११५॥

औसर लखिकै बोलिये, जथा जोगता बैन।
सावन भादौं बरसतैं, सब ही पावैं चैन ॥११६॥

बोलि उठे औसर बिना, ताका रहै न मान।
जैसे कातिक बरसतैं, निंदै सकल जहान ॥११७॥

लाज काज खरचे दरब लाज काज संग्राम।
लाज गयै सरवस गयो, लाज पुरुष की माम ॥११८॥

आरंभी दूरः करै, महा कष्ट निरबाह ।
धीर सलज सुन्दर रमैं, येते गुन नरमांह ॥११६॥
उद्यम साहस धीरता, पराक्रमी मतिमान ।
एते गुन जा पुरुषमैं, सो निरभै बलवान ॥१२०॥
रोगी भोगी आलसी, बहमी हठी अज्ञान ।
ये गुन दारिदवानके, सदा रहत भयवान ॥१२१॥
अछती आस विचारकै, छती दैव छिटकाय ।
अछती मिलवौ हाथ नाहि, तब कोरे रह जाय ॥१२२॥
विनय भक्ति कर सबलकी, निबल गौर सम भाय ।
हितू होय जीना भला, बैर सदा दुखदाय ॥१२३॥
नदीतीर को रूखरा, करि बिनु अंकुश नार ।
राजामन्त्रीतें रहित, बिगरत लगै न बार ॥१२४॥
महाराज महावृक्षकी, सुखदा शीतल छाय ।
सेवत फल लाभैं न तो, छाया तो रह जाय ॥१२५॥
अति खानैतैं रोग ह्वै, अति बोलै ज्या मान ।
अति सोयैं धनहानि ह्वै, अतिमति करौ सयान ॥१२६॥
झूठ कपट कायर अधिक, साहस चंचल अंग ।
गान सलज आरंभनिपुन, तिय न तृपति रतिरंग ॥१२७॥
दुगुण क्षुधा लज चौगुनी, अष्ट गुनो विवसाय ।
काम वसु गुनो नारिकै, वरन्यो सहज सुभाय ॥१२८॥
पतिचितहित अनुगामिनी, सलज सील कुलपाल ।
या लक्षमी जा घर बसै सो है सदा निहाल ॥१२९॥
क्रूर कुरुपा कलहिनी, करकस बैन कठोर ।
ऐसी भूतनि भोगिवौ बसिवौ नरकनि घोर ॥१३०॥
वरज्ये कुलकी बालिका, रूप कुरूप न जोय ।
रूपी अकुली परणती, हीन कहै सब कोय ॥१३१॥
विपति धीर रन विक्रमी, सम्पति क्षमा दयाल ।
कलाकुशल कोविद कवी, न्याय नीति भूपाल ॥१३२॥
सांच झूठ भाषै सुहित, हिंसा दयाभिलाख ।
अति आमद अति व्यय करैं ये राजनिकी साख ॥१३३॥
सुजन सुखी दुरजन डरै, करैं, न्याय धन संच ।
प्रजा पलै पख ना करै, श्रेष्ठ नृपति गुन पंच ॥१३४॥

काना ठूंठा पांगुला, वृद्ध कूबरा अन्ध।
बेवारिस पालन करैं, भूपति रचि परबंध ॥१३५॥

कृपनदुखि अरतादिनि, भूप कपट व्यवहार।
ऐसा स्वामी सेवतैं कदे न होय निहाल ॥१३६॥

हंकारी, व्यसनी, हठी, आरसवान अज्ञान।
भृत्य न ऐसा राखिये, करै मनोरथहान ॥१३७॥

नृप चालै ताही चलन, प्रजा चलै वा चाल।
जा पथ जा गजराज तहं, जात जूथ गजवाल ॥१३८॥

सूर सुधीर पराक्रमी, सब वाहनअसवार।
जुद्धचतुर साहसि मधुर, सेनाधीस उदार ॥१३९॥

निरलोभी सांचो सुघर, निरालसी मति धीर।
हुकमी उदमी चौकसी, भंडारी गंभीर ॥१४०॥

निरलोभी सांचो निडर, सुध हिसाबकरतार।
स्वामिकामनिर आलसी, नौसदौ हितकार ॥१४१॥

दरस परस पूछै करै, निरनै रोग रू आय।
पथ्यापथमैं निपुन चिर, वैद चतुर सुखदाय ॥१४२॥

जुक्त सौच पाचक मधुर, देश काल वय जोग।
सूपकार भोजनचतुर, बोलै सत्य मनोग ॥१४३॥

मूढ़ दरिद्री आयु लघु, व्यसनी लुब्ध करूर।
नाधिपती नहिं दीजिये, जाका मन मगरूर ॥१४४॥

सीख सरलकौ दीजिये, विकट मिलै दुःख होय।
बये सीख कपिकौ दई, दियों घोंसलो खोय ॥१४५॥

अपनी पख नहीं तोरिये, रचि रहिये करि चाहि।
ऊगै तंदुल तुस सहित, तुस बिन ऊगें नाहिं ॥१४६॥

अति लोलुप आसक्तकै विपदा नाहीं दूर।
मीन मरै कंटक फंसै, दौरि मांस लखि कूर ॥१४७॥

आवत उठी आदर करै, बोलै मीठे बैन।
जातैं हिलमिल बैठना, जिय पावै अति चैन ॥१४८॥

भला बुरा लखिये नहीं, आये अपने द्वार।
मधुर बोल जस लीजिये, नातर अजस तयार ॥१४९॥

सेय जती कै भूपति वसि वन के पुरवीज।
या बिन और परकारतैं जीवतैं वर मीच ॥१५०॥

घनौ सुलप आरंभ रचि, चिगै नाहिं चित धीर ।
सिंह उठकै ना मुरै, करै पराक्रम वीर ।।१५१।।

इन्द्री पंच संकोचिकै, देश काल वय लेखि ।
वकवत हित उद्यम करै, जे हैं चतुर विसेखि ।।१५२।।

प्रातः उठि रिपुतैंलरै बांटै बंधुविभाग ।
रमनि रमनमैं प्रीति अति, कुरकट ज्यौं अनुराग ।१५३।।

गूढ़ मईथुन चख चपल, संग्रह सजै निधान ।
अविसासी परमादच्युत वायस ज्यौं मतिवान ।।१५४।।

बहुभ्यासी संतोषजुत, निद्रा स्वलप सचेत ।
रन प्रवीन मन स्वान ज्यौं, चितवत स्वामी हेत ।।१५५।।

बहै भार ज्यौं आदर्यौ, सीत उष्ण क्षत देह ।
सदा सन्तोषी चतुर नर, ये रासब गुन लेह ।।१५६।।

टोटा लाभ सन्तात मन, धरमैं हीन चरित्र ।
भयौ कदा अपमान निज, भाषै नाहिं विचित्र ।।१५७।।

कोविद रहैं सन्तोषचिह, भोजन धन निज दार ।
पठन दान तप करनमैं, नाहीं तृपति लगार ।।१५८।।

विद्या संग्रह धान धन, करत हार ब्यौहार ।
अपन प्रयोजन साधतैं, त्यागै लाज सुधार ।।१५९।;

दोय विप्रमहि होम पुनि सुन्दर जुग भरतार ।
मंत्रि नृप मसलत करत जातै होत बिगार ।।१६०।।

वारि अगनि तिय मूढ़ जन, सर्प नपृति रुज देव ।
अंत प्रान नासैं तुरन्त, अजतन करते सैव ।।१६१।।

गज अंकुश हय चाबुका, दुष्ट खड्ग गहि पान ।
लकरीतैं अज्ञीनक्, वसि राखैं बुद्धिवान ।।१६२।।

वसि करि लोभी देय धन, मानीको करि जोरि ।
मूरख जन विकथा वचन, पंडित सांच निहोरि ।।१६३।।

भूपति वसि ह्वे अनुग वन, जोवत तन धन नार ।
ब्राह्मण वसि ह्वै वैदतैं, मिष्ठवचन संसार ।।१६४।।

अधिक सरलता सुखद नहीं, देखो विपिन निहार ।
सीधैं विरवा कटि गये, बाकै खरे हजार ।।१६५।।

जो सपूत धनवान जो, धनजुत हो विद्वान ।
सब बांधव धनवानके, सरव मीत धनवान ।।१६६।।

नहीं मान कुलपुरुषको, जगत मान धनवान।
लखि चंडालके विपुल धन, लोक करें सनमान ॥१६७॥

सम्पति के सब ही हितू, विपतामें सब दूर।
सूखी सर पंखी तजें, सेवें जलतें दूर ॥१६८॥

तजैं नारि सुत बंधु जन, दारिद आयें साथि।
फिरि आमद लखि आयकें, मिलि हैं बांधावांधि ॥१६९॥

संपति साथ घटे बढ़े, सूरत बुधिबल धीर।
ग्रीषम सर सोभा हरे सोहेवरसत नीर ॥१७०॥

पटभूषन मोहे सभा, धन दे मोहे नारि।
खेती होय दरिद्रतें, सज्जन मो मनुहार ॥१७१॥

धर्महानि संक्लेश अति, शत्रु विनयकरि होय।
ऐसा धन नहीं लीजिये, भूखे रहिये सोम ॥१७२॥

धीर सिथिल उदमी चपल, मूरख सहित गुमान।
दीष धनदके गुन कहै, निलज सरल चितवान ॥१७३॥

काम छोरि सो जीमजे, न्हाजे छोरि हजार।
लाख छोरिके दान करि, जपिजे बारबार ॥१७४॥

गुरु राजा नट भट वनिक, कुटनी गनिका थान।
इनतें माया मति करो, ये मायाकी खान ॥१७५॥

खोटी संगति मति करो, पकरो गुरु का हाथ।
करो निरन्तर दान पुनि, लखो अथिर सब साथ ॥१७६॥

नृप सेवातें नष्ट दुज, नारि नष्ट बिन सील।
गनिका नष्ट सन्तोषतें, भूप नष्ट चित्त ढील ॥१७७॥

नाहीं तपसि मूढ़ मन, नही सूर कृतघाव।
नहीं सती तिय मद्यपा, फुनिजो गान सुभाव ॥१७८॥

सुत को जन्म विवाहफल, अतिथिदान फल गेह।
जन्म सुफल गुरु तें पठन, तजियो राग सनेह ॥१७९॥

जहां तहां तिय ब्याहिये, जहां तहां सुत होय।
एकमातसुत भ्रात बहु, मिलै न दुरलभ सोय ॥१८०॥

निज भाई निरगुन भलो, परगुनजुत किहि काम।
आंगन तरु निरफल जदपि, छाया राखै घाम ॥१८१॥

निसि में दीपक चन्द्रमा, दिन में दीपक सूर।
सर्व लोक दीपक धरम, कुल दीपक सुत सूर ॥१८२॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सीख दई सरधै नहीं, करे रैन दिन सोर।
पूत नहीं वह भूत है, महा पाप फल घोर ॥१८३॥

सुसक एक तरु सघनवन, जुरतहि देत जराय।
त्यों ही पुत्र पवित्र कुल, कुबुद्धि कलंक लगाय ॥१८४॥

तिसना तुहि प्रनपति करूं, गौरव देत निवार।
प्रभू आय बावन भये, जाचक बलि के द्वार ॥१८५॥

मिष्ट वचन धन दानतैं, खुसी होत है लोक।
सम्यग्ज्ञान प्रमान सुनि, रीझत पंडित थोक ॥१८६॥

अगनि काठ सरिता उदधि, जीवनतैं जमराज।
मृग नैननि कामी पुरुष तृपति न होत मिजाज ॥१८७॥

दारिदजुत हू महत जन, करवे लायक काज।
दंतभग हस्ती जदपि, फोरि करत गिरिराज ॥१८८॥

दई होत प्रतिकुल जब, उद्यम होत अकाज।
मूस पिटारो काटियो, गयो सरप करि खाज ॥१८९॥

बाह्य कठिन भीतर नरम, सज्जन जन की बान।
बाह्य नरम भीतर कठिन, बहुत जगतजन जान ॥१९०॥

चाहे कछु हो आ कछू, हारे विबुध विचारि।
होत वर्तें हो जाय है, बुद्धि करम अनुसारि ॥१९१॥

जाके सुख में सुख लहैं, विप्र मित्र कुल भ्रात।
ताहीको जीवो सुफल, पिट भर की का बात ॥१९२॥

हुए होहिंगे, सुभट सब, करि करि थके उपाय।
तिसना खानि अगाधि है, क्यों हू भरि न जाय ॥१९३॥

भोजन गुरु अवसेस जो, ज्ञान वहै बिन पाप।
हित परोख कारज कियैं, धरमी रहित कलाप ॥१९४॥

काल जिवावै जीव कों, काल करे संहार।
काल सुवाय जगाय है, काल चाल विकराल ॥१९५॥

काल करा दे मित्रता, काल करादे रार।
काल खेप पंडित करैं, उलझै निपट गंवार ॥१९६॥

सांप दर्श दे छिप गया, बैद थके लखि पीर।
बैरी करतैं छुटि गया, कौन धरि सकै धीर ॥१९७॥

बलधन में सिंह न लसैं, ना कागन में हंस।
पंडित लसैं न मूढ़मैं, हयखरमें न प्रसंस ॥१९८॥

हय गय लोहा काठि पुनि, नारी पुरुष पखान ।
बसन रतन मोतनीमैं, अन्तर अधिक विनान ॥१९९॥

सत्य दीप बाती क्षमा, सील तेल संजोय ।
निपट जतनकरि धारिये, प्रतिबिंबित सब होय ॥२००॥

परधन परतिय ना चिते, संतोषामृत राचि ।
तैं सुखिया संसार में, तिनको भय न कदाचि ॥२०१॥

रंक भूपपदवी लहै, मूरत सुत विद्वान ।
अंधा पावै विपुल धन, गिनै तृना ज्यौं आन ॥२०२॥

विद्या विषम कुशिष्यकों; विष कुपथीकों व्याधि ।
तरुनि विष सम वृद्धकौ, दारिद प्रीति असाधि ॥२०३॥

सुचि असुचि नाहिं गिनै, गिनै न न्याय अन्याय ।
पाप पुन्य की ना गिनै, भूसा मिलै सु खाय ॥२०४॥

एक मात के सुत भये, एक मते नहिं कोय ।
जैसे कांटे बैर के, बांके, सीधे होय ॥२०५॥

देखि उठै आदर करै, पूछै हित तैं बात ।
जाना आना ताहिका, नित नवहित सरसात ॥२०६॥

आदि अलप मधिमें घनी, पद पद बधती जाय ।
सरिता ज्यों सतपुरुष हित, क्यों हूं नाहिं अघाय ॥२०७॥

गुडि कहना गुडि पूछना, देना लेना रीति ।
खाना आप खवावना षटविधि बधि है प्रीति ॥२०८॥

विद्या मित्र विदेश में धर्म मीत है अन्त ।
नारि मित्र घर के विषै व्याधि औषधि मित ॥२०९॥

नृपहित जो पिरजा अहित, पिरजा हित नृपरोष ।
दोउ, सम साधन करें, सो अमात्य निरदोष ॥२१०॥

पाय चपल अधिकार कौं, शत्रु मित्र परिवार ।
सौम तौष पोषै बिना, ताकौं है धिक्कार ॥२११॥

निकट रहे सेवा करे, लपटत होय खुस्याल ।
दीन हीन लखतं नहीं, प्रमदा लता मुआल ॥२१२॥

ऐसा भूपति सैवतां, होत आपकी हान ।
पराक्रमी कोविद शिलपि, सेवाविद विद्वान ॥२१३॥

पराक्रमी कोविद शिलपि, सेवाविद विद्वान ।
ऐसे सौहें भूप घर, नहि प्रतिपालें आन ।।२१४।।

भूप तुष्ट सैं करत है, इच्छा पूरन मान ।
ताकै काज कूलीन हू, करत प्रान कुरबान ।।२१५।।

बुद्धि पराक्रम वपु बलि, उद्यम साहस धीर ।
सका माने देव हू, ऐसा लखिके वीर ।।२१६।।

रसना राखि मरजादि तू, भोजन वचन प्रमान ।
अति भोगति अति बोलतें, निहचै होंहे हान ।।२१७।।

वन वसि फल भखिवो भलो, मीनत भली अजान ।
भलो नहीं बसिवो तहां, जहां मानकी हान ।।२१८।।

जहां कछूप्रापति नहीं, है आदर वा धाम ।
थोरे दिन रहिये तहां सुखी रहे परिनाम ।।२१९।।

उद्यम करिवो तज दियो, इन्द्री रोकि नाहिं ।
पंथ चलै भूखा रहै, ते दुख पावैं नाहिं ।।२२०।।

समय देखिकै बोलना, नातरि आछी मौन ।
मैना सुक पकरैं जगत, बुगला पकरैं कौन ।।१११।।

आका दुरजन क्या करें, छमा हाथ तरवार ।
विना तिनाकी भूमिपर, आगि बुझै लगि बार ।।२२२।।

पर उपदेस करन निपुन, ते तौ लखे अनेक ।
करैं समिक बोलैं समिक, जे हजार में एक ।।२२३।।

बोधत शास्त्र सुबुधि सहित, कुबुधि बोध लहै न ।
दीप प्रकास कहा करैं, जाके अन्धे नैन ।।२२४।।

बिगड़े करे प्रमादतें, बिगड़े निपट अजान ।
बिगड़े बास कुवास में, सुधरैं संग सुजान ।।२२५।।

वृद्ध भये नारी मरे, पुत्र हाथ धन होत ।
वधू हाथ भोजन मिलें, जीनैं तें वर मौत ।।२२६।।

दारु घात पखान में, नाहिं विराजै देव ।
दैवभाव भायें भला, फलै लाभ स्वयमेव ।।२२७।।

तिसना दुखकी खानि है, नंदनवन संतोष ।
हिंसा बंधकी दायिनी, क्रोध कू जमराज ।।२२८।।

लोभ पापको बाप है, क्रोध क्रूर जमराज ।
माया विषकी बेलरी, मान विषम गिरिराज ।।२२९।।

विवसाईतैं दूर क्या, को विदेश विद्वान ।
कहा भार समरत्थ को, मिष्ट कहैं को आन ॥२३०॥

कुलकी सोभा सीलतैं, तन सोहै गुनगान ।
पढ़िवौ सोहै सिधि भयैं, धन सोहै दै दान ॥२३१॥

असंतोषि दुज भ्रष्ट है, संतोषी नृप हान ।
निरलज्जा कुलतिय अधम, गनिका सलज अजान ॥२३२॥

कहा करैं मूरख चतुर, जो प्रभु ह्वैं प्रतिकूल ।
हरि हल हारे जतनकरि, जरे जदू निरमूल ॥२३३॥

खेती लखिये प्रात उठि, मध्यानैं लखि गेह ।
अपरान्हैं धन निरखिये, नित सुत लखि करि नेह ॥२३४॥

विद्या दियैं कुशिष्यकौं, करैं सुगुरु अपकार ।
लाख लड़ावौ भानजा, खोसि लेय अधिकार ॥२३५॥

ना जानैं कुलशीलकाके, ना कीजै विश्वास ।
तात मात जातैं दुःखी, ताहि न रखिये पास ॥२३६॥

गनिका जोगी भूमिपति, बानर अहि मंजार ।
इनतैं राखैं मित्रता, परैं प्रान उरभार ॥२३७॥

पट पनही बहु खीर गो औषधि बीज अहार ।
ज्यौं लाभैं त्यौं लीजिये, कीजै दुख परिहार ॥२३८॥

नृपति निपुन अन्याय मैं, लोभनिपुन परिधान ।
चाकर चोरी मैं निपुन, क्यौं न प्रजा की हान ॥२३९॥

धन कमाय अन्याय का, वृष दश थिरता पाय ।
रहै कदा षोडस बरस, तौ समूल नस जाय ॥२४०॥

गाड़ी तरु गो उदधि वन, कंद कूप गिरिराज ।
दुरविषमैं नों जीवका, जीवो करैं इलाज ॥२४१॥

जात कुल शोभा लहै, सो सपूत वर एक ।
भार भरैं रोड़ी चरैं, गर्दभ भये अनेक ॥२४२॥

दूधरहित घंटासहित, गाय मोल क्या पाय ।
त्यौं मूरख आटोपकरि, नाहि सुघर ह्वैं जाय ॥२४३॥

कोकिल प्यारी वैनतैं, पति अनुगामि नार ।
नर वरविद्याजुत सुधर, तप उर क्षमा विचार ॥२४४॥

दूरि वसत नर दूत गुन, भूपति देत मिलाय ।
ढाकि दूरि रखि केतकी, बास प्रगट ह्वैं जाय ॥२४५॥

सुसक सासका असन वर, निरजनवन वर वास ।
दीन वचन कहिवो न वर, जौ लौं तनमैं सांस ॥२४६॥

एकाक्षरदातार गुरु, जो न गिनै विनज्ञान ।
सो चंडाल भवको लहै, तथा होयगा स्वान ॥२४७॥

सुख दुःख करता आत हैं, यौ कुबुद्धिश्रद्धान ।
करता तेरे कृतकरम, मैटै क्यों न अज्ञान ॥२४८॥

सुख दुःख विद्या आयु धन, कुल बल वित्त अधिकार ।
साथ गर्भमें अवतरैं, देह धरी जिहि बार ॥२४९॥

बन रिपु जल अगनि गिरि, रुज निद्रा मद मान ।
इनमैं पुन रक्षा करैं, नाहीं रक्षक आन ॥२५०॥

दुराचारि तिय कलहिनी, किंकर क्रूर कठोर ।
सरप साथ बसिबो सदन, मृत समान दुःख घोर ॥२५१॥

संपति नरभव ना रहै, रहै दोषगुनबात ।
रहै जु बनमैं बासना, फूल फूल भ्रमि जात ॥२५२॥

एक त्यागि कुल राखिये, ग्राम राखि कुल तोरि ।
ग्राम त्यागिये राजहित, धर्म राख सब छोरि ॥२५३॥

नहिं विद्या नहिं मित्रता, नाहीं धन सनमान ।
नहीं न्याय नहिं लाज भय, तजौ बास ता थान ॥२५४॥

किंकर जो कारज करै, बांधव जो दुःख साथ ।
नारी जो दारिद सहै, प्रतिपालै सो नाथ ॥२५५॥

नदी नखी शृंगीनिमैं, शस्त्रपानि नर नारि ।
बालक अर राजान ढिग, बसिये जतन विचार ॥२५६॥

कामीकौं कामिनि मिलन, विभवमाहि रुचिदान ।
भोजशक्ति भोजन विविध, तप अत्यन्त फल जान ॥२५७॥

किंकर हुकमी सुत विबुध, तिय अनुगामिनि जास ।
विभव सदन नहिं रोग तन ये ही सुरगनिवास ॥२५८॥

पुत्र वहै पितुभक्त जो, पिता वहै प्रतिपाल ।
नारि वहै जो पतिव्रता, मित्र वहै दिल माल ॥२५९॥

जो हंसता पानी पिये, चलता खावै खान ।
द्वै बतरावत जात जो, सो सठ ढीट अजान ॥२६०॥

तेता आरंभ ठानिये, जेता तन मै जोर ।
तेता पांव पसारिये, जेती लांबी सोर ॥२६१॥

बहुते परप्रानन हरै, बहुते दुःखी पुकार।
बहुते परधन तिय हरै, बिरले चलैं बिचार ॥२६२॥

कर्म धर्म बिरले निपुन, बिरले धन दातार।
बिरले सत बोलैं खरे, बिरले परदुखटार ॥२६३॥

गिरि गिरि प्रति मानिक नहीं, वन वन चंदन नाहिं।
उदधि साधुरिसे साजन, ठौर ठौर ना पाहिं ॥२६४॥

परघरवास विदेसपथ, मूरख मीत मिलाप।
जीवनमाहिं दरिद्रता, क्यों न होय संताप ॥२६५॥

धाम पराया वस्त्र पर, परसव्या परनारि।
परघरि बसिवो अधम ये त्यागैं विबुध विचारि ॥२६६॥

हुन्नर हाथ अनालसी, पढ़िवो करिवो मीत।
सील, पंच निधि ये अखय, राखे रहो नचीत ॥२६७॥

कष्ट समय रनके समय, दुरभिख अर भय घोर।
दुरजनकृत उतसर्गमैं, बचैं विबुध कर जोर ॥२६८॥

धरम लहै नहिं दुष्ट चित्त लोभी जस किम पाय।
भागहीन को लाभ नहिं नहिं औषधि गत आय ॥२६९॥

दुष्ट मिलत ही साधु जन, नहीं दुष्ट है जाय।
चन्दन तरु को सर्प लगि, विष नहीं देत बनाया ॥२७०॥

सोक हरत है बुद्धि को, सोक हरत है धीर।
सोक हरत है धर्म को सोक न कीजे वीर ॥२७१॥

अस्व सुपत गज मस्त ढिग, नृप भीतर रनवास।
प्रथम ब्यायली गाय ढोग, गये प्रान का नास ॥२७२॥

भूपति विसनी पाहुना, जाचक जड़ जमराज।
ये पर दुख जोवैं नहीं, कीयो चाहैं काज ॥२७३॥

मिनख जनम लेना किया, धर्म न अर्थ न काम।
सो कुच अजके कंठ में, उपजे गये निकाम ॥२७४॥

सरता नहिं करता रहो, अर्थ धर्म अर काम।
तिन तड़का ह्वै घटि रह्या, चितवो आतमराम २७५॥

को स्वामी मम मित्र को, कहा देश में रीत।
खरच किता आमद किती, सदा चितवो मीत ॥२७६॥

वमन करतैं कफ मिटैं, मरदन मेटैं बात।
स्नान किये तैं पित मिटै, लंघन तैं जुर जात ॥२७७॥

कोढ़ मांस घृत जुरविषै, सूल द्विदल यो टार ।
द्रग रोगी मैथुन तजो, नवो धान अतिसार ।।२७८।

अनदाता साता विपत, हितदाता गुरुज्ञान ।
आप पिता फुनि धायपति, पच पिता पहिचान ।।२७९।।

गुररानी नृपकी तिया, बहुरि मित्रकी जोय ।
पतिनी-मा निजमातजुत, मात पांच विधि होय ।२८०।।

घसन छेद ताड़न तपन, सुवरनकी पहिचान ।
दयासील श्रुत तप गुननि, जान्या जात सुजान ।।२८१।।

जाप होम पूजन क्रिया, वेदतत्वश्रद्धान ।
करन करावनमें निपुन, पुरोत गुणवान ।।२८२।।

भली बुरी चितमें वसत, निरखत ले उर धार ।
सोमवदन वक्ता चतुर दूत स्वामिहितकार ।।२८३।।

याहीतैं सुकुलीनता, भूप करैं अधिकार ।
आदि मध्य अवसानमें, करते नाहिं विकार ।।२८४।।

दुष्ट तियाका पोषणा, मूरसकों समझाय ।
वैरीतैं कारज परै, कौन नाहिं दुःख पाय ।।२८५।।

दारिदमैं दुरविसनमैं, दुरभिख फूनि रिपुघात ।
राजद्वार समसानमैं, साथ रहै सो नात ।।२८६।।

दारिदमैं दुरविसनमें, दुरभिख फुनि रिपुघात ।
राजद्वार समसानमैं, साथ रहै सो भ्रात ।।२८७।।

सर्प दुष्ट जन दो बुरै, तामैं दुष्ट विसेख ।
दुष्ट जतनका लेख नहिं, सर्प जतनका लेख ।।२८८।।

नाहीं धन भूषन वसन, पंडित जदपि कुरुप ।
सुघर सभामैं यों लसै, जैसे राजत भूप ।।२८९।।

स्नान दान तीरथ किये, केवल पुन्य उपाय ।
एक पिताकी को भक्तितैं, तीन वर्ग मिलि जाय ।।२९०।।

जो कुदेव को पुजिकै, चाहे शुभ का मेल ।
सो बालूकों पैलिकै, काढ़या चाहै तेल ।।२९१।।

धिक विधवा भूषन सजै वृद्ध रसिक धिक होय ।
धिक् जोगी भोगी रहै, सुत धिक् पढ़े न कोय ।।२९२।।

नारी धनि जो सीलजुत, पति धनि रति निजनार ।
नीति निपुन नृपति धनि, संपत्ति धनि दातार ।।२९३।।

रसना रखि मरजाद तूं भोगते बोलत बोल।
बहु भोजन बहु बोलतैं परिहै, सिरपैं धोल ॥२९४॥
जो चाहो अपना भला, तो न सतावो कोय।
नृपहूकै दुरसीसते, रोग सोग भय होय ॥२९५॥
हिंसक जै छुपि बन बसैं, हरि अहि जीव भयान।
(फिरैं) बैल हय गरधवा, गऊ भैंस सुखदान ॥२९६॥
वैर प्रीति अबकी करि, परभवमैं मिलि जाय।
निबल सबल हैं एकसे, दई करत है न्याय ॥२९७॥
संस्कार जिनका भला, ऊंचे कुल के पूत।
तैं सुनिकै सुलटैं जलद, जैसे ऊन्या सूत ॥२९८॥
पहले चौकस ना करी, बूढ़त बिसनमंझार।
रंग मजीठ छूटै नहीं, कीये जतन हजार ॥२९९॥
जो दुरबलकौ पोषि हैं, दुखतैं देत बचाय।
तातैं नृप घर जनम ले, सीधौ संपत्ति पाय ॥३००॥

इति सुभाषितनीति अधिकार

× × × × × × × × ×

अन्तिम भाग

विराग भावना

गुरु बिन ज्ञान मिलै नहीं, करौ जतन किन कोय।
बिना सिखाये मिनख तौ, नाहिं तिर सके तोय ॥६४४॥
जो पुस्तक पढ़ि सीख है, गुरुकौं पूछै नाहिं।
सौ सोभा नाहिं लहै, ज्यौं बक हंसामाहिं ॥६४५॥
गुरनुकूल चालै नहिं, चालै सुतै सुभाय।
सो नहिं पावै थानकौं, भववनमैं भरमाय ॥६४६॥
क्लेश मिटै आनंद बढ़ै, लाभै सुगम उपाय।
गुरुकौं पूछिर चालतां, सहज थान मिल जाय ॥६४७॥
तन मन धन सुख संपदा, गुरुपै डारुं वार।
भव समुद्रतैं डूबतां, गुरु ही काढनहार ॥६४८॥

स्वारथ के सब जन हितू, बिन स्वारथ तज देत ।
नीच ऊंच निरखै न गुरु, जीवजातते हेत ॥६४९॥

ब्यौत परैं हित करत हैं, तात मात सुत भ्रात ।
सदा सर्वदा हित करैं गुरुके मुखकी बात ॥६५०॥

गुरु समान संसारमैं, मात पिता सुत नाहि ।
गुरु तो तारैं सर्वथा, ए बौरैं भवमाहि ॥६५१॥

गुरु उपदेश लहै बिना, आप कुशल ह्वै जात ।
तै अजान क्यौं टारि है, करी चतुर की घात ॥६५२॥

जहां तहां मिलि जात है, संपत्ति तिय, सुत भ्रात ।
बड़े भागतैं अति कठिन, सुगुरु कहीं मिल जात ॥६५३॥

पुस्तक बांची इकगुनी, गुरुमुख गुनि हजार ।
तातैं बड़े तलाशतैं, सुनिजे बचन उचार ॥६५४॥

गुरु बानी अमृत झरत, पी लीनीं छिनमाहि ।
अमर भया ततछिन सुतौ, फिर दुःख पावै नाहि ॥६५५॥

भली भई नरगति, मिली सुनैं सुगुरुकै बैन ।
दाह मिट्या उरका अबै, पाय लई चित चैन ॥६५६॥

क्रोध बचन गुरुका जदपि, तदपि सुखांकरि धाम ।
जैसे भानु दौपहर का, सीतलता परिनाम ॥६५७॥

परमारथका गुरु हितू, स्वारथका संसार ।
सब मिलि मोह बढ़ात हैं, सुत तिय किंकर यार ॥६५८॥

तीरथ तीरथ क्यों फिरै, तीरथ तो घटमाहि ।
जै थिरहुए सो तिर गये, अथिर तीरथ है नाहि ॥६५९॥

कौन देत है मनुष भव, कौन देत है राज ।
याकैं पहचाने बिना, झुठा करता इलाज ॥६६०॥

प्रात धर्म फुनि अर्थरुचि, काम करैं निसि सेव ।
रुचै निरंतर मोक्ष मन, सौ पुरुष मानुष नहि देव ॥६६१॥

संतोषामृत पान करि, जे हैं समतावान ।
तिनके सुख सम लब्धुकों, अनंत भाग, नहि जान ॥६६२॥

लोभ मूल है पापका, भोग मूलि है व्याधि ।
हेत जु मूल कलेशकौ, तिहूं त्यागि सुख साधि ॥६६३॥

हिंसातैं ह्वै पातकी, पातकतैं नरकाय ।
नरक निकसिकै पातकी संतति कठिन मिटाय ॥६६४॥

हिंसकको बैरी जगत, कोई न करै सहाय।
[illegible] हर कोई लेत बचाय ॥६६५॥

अपनैं भाव बिगाड़तैं, निहचैं लागत पाप।
पर अकाज तौ हो न हो, होत कलंकी आप ॥६६६॥

जितो पाप चितचाहसौं, जीव सताए होय।
आरंभ उद्यमको करत, तातैं थोरो जोय ॥६६७॥

ये हिंसा के भेद हैं, चोर चुगल बिभिचार।
क्रोध कपट मद लोभ पुनि, आरंभ असत उचार ॥६६८॥

चोर डरै निद्रा तजै, कर है खोट उपाय।
नृप मारै मारै धनी, परभौ नरकां जाय ॥६६९॥

छानैं पर-चुगली करैं, उज्जल भेष बनाय।
ते तो बुगला सारिखे, पर अकाज करि खांय ॥६७०॥

लाज धर्म भय ना करैं, कामी कूकर एक।
भैंन भानजी नीचकुल, इनके नाहिं विवेक ॥६७१॥

नीति अनीति लखे नहिं, लखैं न आप बिगार।
पर जारैं आपना जरैं, क्रोध अगनिकी झार ॥६७२॥

कुल व्योहारकौं तज दिया, गरबीले मनमाहिं।
अवसि परैंगे कूप ते, जे मारगमें नाहिं ॥६७३॥

तन सूधे सूधे बचन, मनमैं राखैं फेर।
अगनि ढकी तौ क्या हुवा, जारत करत न बेर ॥६७४॥

बाहिर चुगि शुक उड़ गये, ते तौ फिरैं खुस्याल।
अति लालच भीतर बसे, ते शुक उलझैं जाल ॥६७५॥

आरंभ बिन जीवन नहीं, आरंभमाहिं पाप।
तातैं अति तजि अलपसौं, कीजै बिना बिलाप ॥६७६॥

असत बैन नहिं बोलिये, तातैं होत बिगार।
वे असत्य नहिं सत्य हैं, जातैं ह्वै उपकार ॥६७७॥

क्रोधि लोभी कामी मदी, चार सूझते अंध।
इनकी संगति छोड़िये, नहिं कीजै सनबंध ॥६७८॥

झठ जुलम जालिम जबर, जलद जंगमैं जान।
जक न धरैं जगमैं अजस, जूआ जहर समान ॥६७९॥

जाकौं छीबत चतुर नर, डरैं करैं हैं न्हान।
इसा मासका ग्रासतैं, क्यौं नहिं करौ गिलान ॥६८०॥

मदिरातैं मदमत्त ह्वै, मदतैं होत अज्ञान।
ज्ञान बिना सुत मातकौं, कहै भामिनी भान ॥६८१॥
गान तान लै मानकै, हरै ज्ञान धन प्रान।
सुरापान प्यखानकौं, गनिका रचत कुध्यान ॥६८२॥
तिन खावैं चाहैं न धन, नागे कांगे जान।
नाहक क्यौं मारै इन्हैं सब जिय आम समान ॥६८३॥
नृप डंडै भंडै जनम, खंडै धर्म रु ज्ञान।
कुल लाजै भाजै हितू, विसन दुखांकी खान ॥६८४॥
बड़े सीख बकबौं करैं, विसनी ले न विवेक।
जैसैं वासन चीकना, बूंद न लागै एक ॥६८५॥
मार लौभ पुचकारतैं, विसनी तजै न फैल।
जैसैं टटू अटकला, चलै न सीधी गैल ॥६८६॥
उपरले मनतैं करैं, विसनी जन कुलकाज।
ब्रह्मा सुरत भूलै नज्यौं, काज करत रिखिराज ॥६८७॥
विसन हलाहलतैं अधिक, क्यौंकर सेत अज्ञान।
विसन बिगाड़ै दोय भव, जहर हरै सब प्रान ॥६८८॥
नरभव कारन मुक्त का, चाहत इन्द्र फनिंद।
ताकौं खोवत विसनमैं, सो निंदन मैं निंद ॥६८९॥
कीनैं पाप पहारसे, कोटि जनममैं भूर।
अपना अनुभव वज्रसम, कर डारै चकचूर ॥६९०॥
हितकरनी धरनी सुजस, भयहरनी सुखकार।
तरनी भवदधिकी दया, बरनी षटमत सार ॥६९१॥
दया करत सीतास सम, गुरु नृप भ्रात समान।
दयारहित जै हिंसकी, हरि अहि अगनि प्रमान ॥६९२॥
पंथ सनातन चालजे, कहजै हितमित बैन।
अपना इष्ट न छोड़जे, सहतैं चैन अचैन ॥६९३॥
जैसो गाढ़ो विसनमैं तैसो ब्रह्म सौं होय।
जनम जनम के अघ किये पल मैं नाखै धोय ॥६९४॥

इति विराग भावना

कवि प्रशस्ति

मधि नायक सिरपंच ज्यौं जैपुर मधिढूंढार।
नृप जयसिंह सुरिंद तहां पिरजाको हितकार ॥६९५॥
कीनैं बुधजन सातसैं, सुगन सुभाषित हैर।
सुनत पढ़त समझैं सरब, हरैं कुबुद्धिका फैर ॥६९६॥
संवत ठारासैं असी, एक वरसतैं घाट।
जैठ कृष्ण रवि अष्टमी, हुवो सतसई पाठ ॥६९७॥
पुन्य हरत रिपु-कष्टकौं, पुन्य हरत रुज व्याधि।
पुन्य करत संसार सुख, पुन्य निरंतर साधि ॥६९८॥
भूख सहौ दारिद सहौ, सहौ लोक अपकार।
निंद काम तुम मति करौ, यहै ग्रंथको सार ॥६९९॥
ग्राम नगर गढ़ देशमैं, राज प्रजा के गैह।
पुन्य धरम होवौ करैं, मंगल रहौ अछैह ॥७००॥
ना काहूकी प्रेरना, ना काहू की आस।
अपनी मति तीखी करन, वरन्यो वरनविलास ॥७०१॥

इति बुधजन सतसई समाप्त

अनुक्रमणिका संदर्भ ग्रंथ

१. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियां ।
२. अनेकान्त ।
३. आदीश्वर फागु ।
४. आधुनिक हिन्दी कविता की भूमिका ।
५. इष्ट छत्तीसी ।
६. उत्तरी भारत की संत परंपरा ।
७. कृष्ण जगावन चरित्र ।
८. गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रंथ ।
९. छहढाला ।
१०. जिनवाणी ।
११. जिनोपकार स्मरण स्तोत्र ।
१२. जैन साहित्य का इतिहास ।
१३. टोडरमल व्यक्तित्व एवं कृतित्व
१४. तत्वार्थ बोध ।
१५. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग-४
१६. तुलसी ।
१७. दोषबावनी ।
१८. नित्य पूजन पाठ संग्रह ।
१९. नंदीश्वर जयमाला ।
२०. पदावली ।
२१. पद संग्रह ।
२२. परमात्म प्रकाश ।
२३. प्रवचन निर्देशिका ।
२४. पंचास्तिकाय ।
२५. प्राचीन हिन्दी जैन कवि ।
२६. प्राचीन हिन्दी नीतिकाव्य ।
२७. पुरातत्व निबंधावली ।
२८. बनारसीदास ।
२९. बारह-भावना ।
३०. बुधजन-विलास ।
३१. बुधजन-सतसई ।
३२. भारतवर्ष का इतिहास ।
३३. भारतीय इतिहास: एक दृष्टि ।
३४. भाषाशास्त्र तथा हिन्दी की रूप-रेखा ।
३५. मध्यकालीन कवि और उनका काव्य ।
३६. मध्यपहाड़ी का भाषा शास्त्रीय अध्ययन ।
३७. मोक्षमार्ग प्रकाशक ।
३८. योगसार-भाषा ।
३९. रामचरित मानस ।
४०. वर्णी वाणी ।
४१. वर्द्धमान पुराण । सूचनिका ।
४२. विद्यापति ।
४३. विमल जिनेश्वर की स्तुति ।
४४. वंदना जखड़ी ।
४५. संतसुधा सार ।
४६. संस्कृत साहित्य के विकास में जैन कवियों का योगदान ।
४७. हिन्दी पद संग्रह ।
४८. हिन्दी उद्भव विकास और रूप ।
४९. हिन्दी भाषा ।
५०. हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि ।

५१. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास।
५२. हिन्दी भाषा की रूपरेखा।
५३. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन भाग १, २।
५४. हिन्दी ध्वनियां और उनका उच्चारण।
५५. हिन्दी नीतिकाव्य।
५६. हितैषी (पत्रिका)
५७. हिन्दी में नीति काव्य का विकास।
५८. हिन्दी साहित्य का इतिहास तृ० संस्करण।
५९. हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास।
६०. हिन्दी साहित्य प्रथम खंड।
६१. हिन्दी साहित्य।
६२. हिन्दी साहित्य का प्रभाव।

पत्र–पत्रिकाऐं

१. अहिंसावाणी — वीर सेवा मंदिर, दरियागंज दिल्ली
२. अनेकान्त — दिल्ली
३. जिनवाणी — जयपुर
४. जैन संदेश शोधांक — दिल्ली
५. विद्या भास्कर — इलाहाबाद
६. वीर वाणी — जयपुर
७. सन्मति संदेश — दिल्ली
८. हितैषी — जयपुर
९. हिन्दुस्तानी त्रैमासिक — इलाहाबाद

अनुक्रमणिका

ग्रन्थ एवं कवि (हिन्दी)

आ

१. आ. ने. उपाध्ये
२. आनन्द प्रसाद दीक्षित संपादक
३. आर्यिका ज्ञानमती
४. उदयनारायण तिवारी (अनुवादक)

क

५. कस्तूरचंद कासलीवाल
६. काका कालेलकर
७. कामता प्रसाद जैन
८. कैशनी प्रसाद चौरसिया
९. कैलाशचंद सिद्धांत शास्त्री

ग

१०. गणेश वर्णी
११. गोविन्द चातक

च

१२. चटर्जी

ज

१३. जगदीश प्रसाद
१४. ज्योति प्रसाद

ट

१५. टोडरमलजी

त

१६ तुलसीदास

द

१७. देवेन्द्रकुमार शास्त्री
१८. दौलतराम "
१९. द्यानतराम "

न

२०. नगेन्द्र
२१. नरेन्द्र भानावत
२२. नाथूलाल शास्त्री
२३. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य
२४. नाथूरामजी प्रेमी

प

२५. परमानन्द शास्त्री
२६. परशुराम चतुर्वेदी
२७. पांडेय शम्भुनाथ
२८. प्रेमसागर जैन

फ

२९. फूलचन्द सिद्धांत शास्त्री

ब

३०. बनारसीदास
३१. बुधजन
३२. ब्रह्मगुलाल

भ

३३. भट्टारक ज्ञानभूषण
३४. भोलानाथ तिवारी
भूधरदास–२

म

३५. माता प्रसाद गुप्त
३६. मंगतराय

र

३७. राजकुमार जैन शास्त्री
३८. राजनारायण शर्मा

३९. राजकुमारी मिश्र
४०. रामचन्द्र शुक्ल
४१. रामस्वरूप रसिकेश
४२. रवीन्द्र कुमार जैन
४३. राहुल सांस्कृत्यायन

ल

४४. डा. लालबहादुर शास्त्री

व

४५. विद्यापति
४६. वियोगीहरि
४७. वासुदेव शरण अग्रवाल
४८. विश्वेश्वर प्रसाद

श

४९. श्याम सुन्दर दास

स

५०. सुखदेव मिश्र

ह

५१. हजारी प्रसाद द्विवेदी
५२. हनुमान प्रसाद शर्मा
५३. हीरालाल सिद्धांत शास्त्री
५४. हुकमचन्द भारिल्ल

संस्कृत	संस्कृत
१. आशाधर	अनगार धर्मामृत
२. उमास्वामी	तत्वार्थसूत्र
३. जिनसेन	महापुराण
४. पाणिनि	सिद्धांत कौमुदी, अष्टाध्यायी
५. पूज्यपाद	सर्वार्थसिद्धि
६. राजमल	पंचाध्यायी
७. वादीभसिंह	क्षेत्र-चूड़ामणि
८. वीरनन्दि	चंद्र प्रभू चरित्र
९. समन्त भद्र	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
प्राकृत	**प्राकृत**
१. कुन्दकुन्द	रयणसार
२. नेमिचंद्र	द्रव्य संग्रह
अपभ्रंश	**अपभ्रंश**
१. देवसेन मुनि	सावय धम्म दोहा
२. रामसिंह मुनि	दोहा पाहुड़

अंग्रेजी	अंग्रेजी
१. जार्ज ए ग्रियर्सन	लिग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया
२. जे. सी. पाव्ज	दी मीनिंग ऑफ कल्चर
३. कर्नल टॉड	राजस्थान का इतिहास
४. रॉबर्ट ए. हॉल	इन्ट्रोडक्टरी लिग्विस्टिक्स
५. प्र०-केम्ब्रिज युनिवर्सिटी डॉ० दास एण्ड गुप्त	ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी

बुधजन का उल्लेख–विद्वानों की दृष्टि में

१. बुधजन सतसई–पं. नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई।

२. हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास पृ. ५५० डॉ. रामस्वरूप, दिल्ली पुस्तक सदन दिल्ली।

३. भारतीय इतिहास एक दृष्टि पृ ५९२–९३ डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

४. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, प्रथम संस्करण पृ. १९७, डॉ. कामता प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रकाशन।

५. अध्यात्म पदावली पृ. १११ डॉ. राजकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन तृतीय संस्करण १९६५।

६. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा भाग–४ पृ. २८८ डॉ. नेमीचंद्र शास्त्री अ. भा. दि. जैन विद्वत् परिषद्, सागर।